महावीर
परिचय और वाणी



आचार्य रजनीश-प्रवचन-माला : पुष्प-२

महावीर : परिचय और वाणी

आचार्य रजनीश

सम्पादक :

स्वामी आनन्द वीतराग

(डॉ० रामचन्द्र प्रसाद)

यूनिवर्सिटी प्रोफेसर और अध्यक्ष,

अंगरेजी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली - पटना - वाराणसी

प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : १. चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
२. अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

प्रथम संस्करण : वाराणसी, १९७४
मूल्य : MLBD Rs. 100/-

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी द्वारा
प्रकाशित तथा भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन,
वाराणसी द्वारा मुद्रित। ५५/४-७४

परम मानववादी

पितृकल्प

श्रद्धेय देवेन्द्र प्रसाद सिंह

कुलपति, भागलपुर विश्वविद्यालय

को

सादर, सभक्ति

—रामचन्द्र

निवेदन

प्रस्तुत ग्रंथ भगवान् श्री रजनीश की नव्यतम कृति है। इसमें महावीर-वाणी के नए-नए अर्थों का पांडित्यमंडित विश्लेषण हुआ है और पुरातनपंथी टीकाकारों की तद्विषयक भ्रान्त धारणाएँ ध्वस्त कर दी गई हैं।

इसमें पूर्ववर्ती टीकाओं की भाव-क्षीणता की जगह मंत्रपूत व्याख्या और नव्यता एवं मौलिकता का चमत्कार है।

भगवान् श्री रजनीश की व्याख्याशैली जितनी ही सरल एवं अकृत्रिम है, उतनी ही उदात्त एवं हृदयहारिणी भी। इसमें यत्रतत्र उपनिबद्ध बोधकथाएँ विषय को अत्यधिक स्पष्ट और रोचक बनाने में समर्थ हुई हैं।

भगवान्श्री सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थों के भी प्रकाशक हैं-- "तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।" विश्वेतिहास में पहली बार उनके द्वारा महावीरवाणी को वह अर्थ-गौरव मिला है जो स्वयं भगवान् श्री महावीर का अर्थ था। अपने योगबल से तथा जन्म-जन्मांतर की तपस्या-साधना के पुण्यप्रताप से भगवान् श्री रजनीश ने महावीर के स्वरूप में झाँककर उनके मन्तव्यों को प्रकट किया है और महावीरमय होकर महावीर की व्याख्या प्रस्तुत की है।

अन्त में इतना ही कहना अलम् होगा कि इस कृति के दो आयाम हैं--जहाँ एक ओर तो यह भगवान् श्री महावीर का परिचय देती है, ऐसा परिचय जो सूक्ष्मता, रोचकता और वैदुष्य के त्रिविध तत्त्वों से उपेत है, वहीं दूसरी ओर यह भगवान् श्री रजनीश के रजनीशत्व पर भी प्रचुर प्रकाश डालती है और उनके दिव्य व्यक्तित्व को शब्दों की परिसीमित रेखाओं में मूर्त करने का असफल प्रयास करती है।

आप इस व्याख्या की रसात्मिकता पर मुग्ध हो उठेंगे, रसाभिभूत हो जाएँगे।

मुझे विश्वास है कि यह कृति रजनीश-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में पांक्तेय होगी और शास्त्रीय बुद्धिवालों को झकझोर देगी। "ये बातें शास्त्रों में हों या न हों, स्वयं में खोजनेवाले इन्हें अवश्य पा लेंगे और स्वयं से बड़ा न कोई शास्त्र है और न कोई दूसरी आप्तता।"

मैं स्वामी चैतन्य वेदान्त (राजेश रंजन) का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के सम्पादन में मेरी यथाशक्य सहायता की है।

स्वामी आनन्द वीतराग

अन्तर्वस्तु

		पृ० सं०
१. प्रास्ताविक		१–१५
२. प्रथम खंड		१६–१७८
अध्याय १ :	महावीर की जीवनधारा और मार्ग	१९
अध्याय २ :	महावीर का त्याग : पिछले जन्मों की साधना	३९
अध्याय ३ :	मूक जगत् से तादात्म्य और सापेक्षवाद	५३
अध्याय ४ :	सामायिक, प्रतिक्रमण और चारित्र	७१
अध्याय ५ :	कर्मवाद	९३
अध्याय ६ :	महावीर के व्यक्तित्व के नए आयाम	१०८
अध्याय ७ :	अस्तित्व और अहिंसा	१२२
अध्याय ८ :	निगोद और अन्तर्यात्रा	१३६
अध्याय ९ :	महावीर की भाषा	१५२
अध्याय १० :	गोशालक की कथा का महत्त्व	१५६
अध्याय ११ :	महावीर की दृष्टि और भोग	१६१
अध्याय १२ :	उपसंहार	१७१
३. द्वितीय खंड		१७९–२१८
अध्याय १ :	अहिंसा	१८१
अध्याय २ :	अपरिग्रह	१९०
अध्याय ३ :	अचौर्य	१९७
अध्याय ४ :	अकाम	२०४
अध्याय ५ :	अप्रमाद	२१२
४. तृतीय खंड		२१९–३३०
अध्याय १ :	पंच नमोकार सूत्र	२२१
अध्याय २ :	धम्मो लोगुत्तमो	२३०
अध्याय ३ :	शरण की स्वीकृति	२४१
अध्याय ४ :	धर्म का परम सूत्र : अहिंसा और स्वभाव	२४८
अध्याय ५ :	जीवेषणा और महावीर की अहिंसा	२५७

		पृ० सं०
अध्याय	६ : समस्वरता और सम्यगाजीव	२६४
अध्याय	७ : संयम की विधायक दृष्टि	२७५
अध्याय	८ : तपश्चर्या	२८३
अध्याय	९ : तप की वैज्ञानिक प्रक्रिया	२८९
अध्याय	१० : महावीर की दृष्टि में अनशन	२९४
अध्याय	११ : उणोदरी आदि शेष बाह्य तप	३०५
अध्याय	१२ : अंतर्-तप	३१३

●

प्रास्ताविक

१

मैं महावीर का अनुयायी नहीं हूँ, प्रेमी हूँ, वैसे ही जैसे क्राइस्ट का, कृष्ण का, बुद्ध का, लाओत्से का; और मेरी दृष्टि में अनुयायी कभी भी उसे समझ नहीं पाता जिसका वह अनुगमन करता है।

दुनिया में दो ही तरह के लोग हैं। साधारणतया या तो वे अनुयायी होते हैं या विरोधी। न तो अनुयायी समझ पाता है और न विरोधी। अनुयायी उससे बँध जाता है जिसका वह अनुसरण करता है और विरोधी उससे जिसका वह विरोध करता है। केवल प्रेमी नहीं बँधता। वह प्रेम जो बाँधता है प्रेम नहीं होता। महावीर से प्रेम करने में महावीर से बँधना नहीं होता। उनसे प्रेम करते हुए ही बुद्ध, कृष्ण और क्राइस्ट से प्रेम किया जा सकता है। महावीर में जो चीज प्रकट हुई और जिससे हम प्रेम करते हैं, वह हजार-हजार लोगों में भी उसी तरह प्रकट हुई है। सच पूछिए तो हम महावीर से भी प्रेम नहीं करते। वह जो शरीर है वर्धमान का, वह जो जन्मतिथि में बँधा हुआ शरीर है उनका, वह तो इतिहास की एक रेखा-मात्र है। एक दिन पैदा होना और एक दिन मर जाना! प्रेम करते हैं हम उस ज्योति से जो उस मिट्टी के दीए में प्रकट हुई थी। जो ज्योति से प्रेम करेगा वह दीए से नहीं बँधेगा, और जो दीए से बँधेगा, उसे ज्योति के महत्त्व का भान न होगा। निश्चित है कि जो दीए से बँध रहा है, उसे ज्योति का पता नहीं। जिसे ज्योति का पता चल जाय उसे क्या दीए की याद भी रहेगी? उसे दीया फिर दिखाई भी पड़ेगा?

इसी सन्दर्भ में एक और बात कह देना चाहता हूँ। मैंने महावीर को ही चर्चा के लिए क्यों चुना? यह तो बहाना है सिर्फ। वे तो वैसे ही हैं जैसे कोई खूँटी होती है। कपड़ा टाँगना प्रयोजन है मेरा। कोई भी खूँटी काम दे सकती है। महावीर भी काम दे सकते हैं ज्योति के स्मरण में, बुद्ध भी, कृष्ण भी, क्राइस्ट भी। किसी भी खूँटी से काम लिया जा सकता है। स्मरण प्रेम माँगता है, अनुकरण नहीं। और मैं कहता हूँ, यह स्मरण महावीर का स्मरण नहीं है। स्मरण है उस तत्त्व का जो महावीर में प्रकट हुआ। इस तत्त्व का स्मरण तत्काल आत्मस्मरण बन जाता है। महावीर में प्रकट हुई ज्योति की यही सार्थकता है कि वह आत्मस्मरण की ओर ले जाय। लेकिन महावीर की पूजा से यह संभव नहीं। पूजा से आत्मस्मरण नहीं आता। पूजा आत्मविस्मरण का उपाय है। अनुयायी, भक्त आदि भी महावीर, बुद्ध, कृष्ण की खूँटियों का उपयोग कर रहे हैं, आत्मविस्मरण के लिए। पूजा, प्रार्थना, अर्चना—

सब विस्मरण है। स्मरण का अर्थ है महावीर में उस दिव्य सार को खोजना जो उनमें अभिव्यक्त हुआ था, मनुष्य की सम्भावनाओं के प्रति सजग हो उठना और इस बात की प्रतीति करना कि जो एक मनुष्य में सम्भव है, वह फिर मेरी भी सम्भावना बन सकती है। स्मरण करनेवाले पूजा में न जाकर एक अन्तर्वेदना में, 'इनर सफरिंग' में उतर आते हैं। वे उस बुझे हुए दीए के समान होते हैं जो एक बलते हुए, ज्योतिर्मय दीए को देखकर व्यथित हो उठता है और सोचता है कि मैं व्यर्थ हूँ, मैं नाममात्र का दीया हूँ, क्योंकि मुझमें वह ज्योति कहाँ, वह प्रकाश कहाँ ? मैं सिर्फ अवसर हूँ जिसमें ज्योति प्रकट हो सकती है, लेकिन अभी हुई नहीं है। लेकिन बुझे हुए दीयों के बीच बुझा हुआ दीया रखा रहे तो उसे अपनी दशा का खयाल भी नहीं आता, पता भी नहीं चलता। तो करोड़ बुझे हुए दीयों के बीच में भी जो स्मरण नहीं आ सकता वह एक जले हुए दीए के निकट आ सकता है। महावीर या बुद्ध या कृष्ण का मेरे लिए इससे ज्यादा कोई प्रयोजन नहीं कि वे जले हुए दीए हैं। उनका खयाल, उनके बलते हुए दीए की लपट एक बार भी हमारी आँखों में पहुँच जाय तो हम फिर वही आदमी नहीं रह सकते जो कल थे। हमारी सम्भावनाओं के नए गवाक्ष खुल जाते हैं, ऐसे अनेक द्वार खुल जाते हैं जिनका हमें पता तक न था। और तब उसकी प्यास भी जग जाती है जो हम हो सकते हैं। यह प्यास जग जाय तो कोई भी बहाना बनता हो, इससे कोई प्रयोजन नहीं।

तो मैं महावीर को भी, क्राइस्ट को भी बहाना बनाऊँगा; कृष्ण, बुद्ध और लाओत्से को भी। फिर हममें तरह-तरह के लोग हैं, और कई बार ऐसा होता है कि जिसे लाओत्से में ज्योति दिख सकती है, उसे बुद्ध में न दिखे; और यह भी हो सकता है कि जिसे महावीर में ज्योति दिख सकती है, उसे लाओत्से में न दिखे। एक बार अपनी ही ज्योति दिख जाय तो लाओत्से और बुद्ध में ही नहीं, साधारण-से-साधारण मनुष्यों में भी वह ज्योति दिखने लगती है। पशु-पक्षी ही नहीं, पत्थर भी ज्योतिर्मय हो जाते हैं। लेकिन, जब तक स्वयं में यह ज्योति नहीं दिखती तब तक जरूरी नहीं कि सभी लोगों को महावीर में ज्योति दिखे। इसके कारण हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के देखने के ढंग में भेद है, व्यक्ति-व्यक्ति की ग्राहकता में भेद है और व्यक्ति-व्यक्ति के रुझान और रुचि में भेद है। जरूरी नहीं कि एक सुन्दर युवती सभी को सुन्दर मालूम पड़े। मजनू की आँखों ने लैला के सौन्दर्य को जन्म दिया था—यानी लैला होने के लिए मजनू की आँखें चाहिए। एक-एक व्यक्ति में बुनियादी भेद है। इसलिए दुनिया में इतने तीर्थंकर, इतने अवतार, इतने गुरु हुए हैं। हो सकता है बुद्ध और महावीर जैसे व्यक्ति एक ही जगह में एक ही दिन ठहरे और गुजरे हों, एक ही प्रदेश में वर्ष-वर्ष घूमे हों। फिर भी, गाँव में किसी ने बुद्ध को देखा हो, किसी ने महावीर को और किसी ने इनमें किसी को भी नहीं।

मेरे पास देखने की एक विशिष्ट दृष्टि है।

हो सकता है कि किसी को महावीर में कुछ भी दिखाई न पड़े। महावीर में जो है उसे देखने के लिए विशिष्ट आँख चाहिए। हाँ, पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न तरह के लोग हैं। इनकी जातियाँ बताना भी मुश्किल है। लेकिन एक बार दिख जाय साम्य तो सभी भिन्नताएँ खो जाती हैं। सभी भिन्नताएँ दीए की भिन्नताएँ हैं——ज्योति की भिन्नता नहीं। दीए का अनुभव आकार का अनुभव है, किन्तु ज्योतिर्मय का अनुभव आकार का अनुभव नहीं। दीया जड़ है, पदार्थ है——ठहरा हुआ, रुका हुआ; ज्योति चेतन है, सत्य है——जीवन्त, भागती हुई। दीया रखा हुआ है, ज्योति जा रही है, भाग रही है ऊपर की ओर। ज्योति है ऊर्ध्वगमन का प्रतीक, निराकार की अनुभूति। कितनी जल्दी ज्योति का आकार खो जाता है? पहचान भी नहीं पाते कि उसका आकार खो जाता है। वह मिलन है आकार-निराकार का। अभी थी, अब नहीं है। प्रतिपल आकार निराकार में खोता जा रहा है। आकार के पार निराकार में जो संक्रमण हो रहा है, वही ज्योति है।

जगत् में दीयों को पहचाननेवाले लोग ज्योतियों के सम्बन्ध में झगड़ा करते रहते हैं, दीयों को पकड़नेवाले ज्योतियों के नाम पर पंथ और सम्प्रदाय बना लेते हैं। वे भूल जाते हैं कि दीया एक अवसर था ज्योति के घटने का और ज्योति का जो आकार दिखा था वह भी सिर्फ एक अवसर था ज्योति के निराकार में खोने का। **वर्धमान तो दीया है, महावीर ज्योति; सिद्धार्थ दीया है, बुद्ध ज्योति; जीजस दीया है, क्राइस्ट ज्योति**। लेकिन हम दीए को पकड़ लेते हैं और महावीर के सम्बन्ध में सोचते-सोचते वर्धमान के सम्बन्ध में सोचने लगते हैं। वर्धमान को पकड़नेवाले लोग महावीर को पकड़ नहीं पाते। सिद्धार्थ को पकड़नेवाले भिक्षु बुद्ध से और मरियम के बेटे जीजस को पहचाननेवाले पुजारी परमात्मा के बेटे क्राइस्ट से अनभिज्ञ रह जाते हैं। हम सब दीयों में ही लवलीन रहते हैं। हम दीया हैं सही, पर ज्योति भी हो सकते हैं। ज्योति की चिन्ता करनी चाहिए, दीये की नहीं। महावीर को निमित्त बनाकर ज्योति पर विचार करना होगा। जिन्हें महावीर की ओर से ज्योति पहचान में आ सकती है, अच्छा है वहीं से पहचान में आ जाय। जिन्हें नहीं आ सकती, उनके लिए किसी और को निमित्त बनाया जा सकता है। सब निमित्त काम में आ सकते हैं।

बहुत विशिष्ट हैं महावीर, इसलिए सोचना बहुत जरूरी है उन पर, लेकिन वे विशिष्ट हैं किसी दूसरे की तुलना में नहीं। हम अविशिष्ट हैं, साधारण लोग हैं। साधारण इस अर्थ में कि हम दीया हैं और हमारा साधारण-असाधारण का अवसर है, मौका है, बीज है। विशिष्ट और असाधारण वह है जो ज्योति बन गया और गया वहाँ, उस घर की ओर, जहाँ शान्ति है, आनन्द है, जहाँ खोज का अन्त है, उपलब्धि है। महावीर किसी की तुलना में विशिष्ट नहीं——किसी से विशिष्ट नहीं। मेरा

विशिष्ट[१] असाधारण का पर्याय है। हम सब साधारण हैं, पर हम सब असाधारण हो सकते हैं। जब तक हम साधारण हैं, तब तक साधारण-असाधारण के बीच खड़ा किया गया हमारा भेद नासमझी का भेद है। साधारण बस साधारण ही है। वह चपरासी है कि राष्ट्रपति, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। दोनों साधारण के ही दो रूप हैं। चपरासी पहली सीढ़ी पर और राष्ट्रपति आखिरी सीढ़ी पर। साधारण की सीढ़ी पर सभी साधारण हैं, चाहे वे किसी भी पायदान पर खड़े क्यों न हों। असाधारण की कोई सीढ़ी नहीं होती। इसलिए दो असाधारण व्यक्तियों में कोई नीचे-ऊपर नहीं होता। लोग पूछते हैं कि बुद्ध ऊँचे कि महावीर, कृष्ण ऊँचे कि क्राइस्ट। वे भूल जाते हैं कि साधारण की सीढ़ी का गणित असाधारण लोगों पर घटित नहीं होता। फिर भी कई पागलों ने अपनी पुस्तकों में किसी को ऊँचा घोषित किया है, किसी को नीचा। उन्हें पता नहीं कि ऊँचे और नीचे का खयाल साधारण दुनिया का खयाल है। असाधारण ऊँचा और नीचा नहीं होता। असल में जो इस ऊँच-नीच की दुनिया से बाहर चला जाता है, वही असाधारण है। जहाँ तक कोई दीया है, वहीं तक ऊँच-नीच का भेद है, पार्थक्य है। ज्योति बड़ी और छोटी होती नहीं। निराकार में खो जाने की क्षमता छोटी ज्योति की उतनी ही है जितनी बड़ी-से-बड़ी ज्योति की। और निराकार में खो जाना ही असाधारण हो जाना है।

जिस प्रकार पृथ्वी में एक कशिश है, नीचे खींचने का गुरुत्वाकर्षण है, उसी प्रकार परमात्मा में भी एक कशिश है। वह जो निराकार है और फैला हुआ है ऊपर, वह चीजों को अपनी ओर ऊपर-खींचता है। इसी कशिश का नाम प्रभुप्रसाद या ग्रेस है। उसके लिए छोटी और बड़ी ज्योति में कोई अन्तर नहीं। ज्योति होनी चाहिए। जिस तरह पृथ्वी की कशिश छोटे-बड़े का भेद न मानकर बड़े पत्थर को छोटे पत्थर के साथ ही गिरने को मजबूर करती है, उसी तरह परमात्मा की कशिश भी छोटी ज्योति को उतनी ही गति से खींचती है जितनी गति से बड़ी ज्योति को। लेकिन, अनुयायी का मन साधारण दीए का मन होता है। तोलता है, तुलना करता है। इसलिए वह कभी समझ नहीं पाता, समझ ही नहीं सकता। समझने के लिए बड़ा सरल चित्त चाहिए; अनुयायी के पास सरल चित्त नहीं। वह कुछ थोपता है अपनी तरफ से। विरोधी भी नहीं समझ पाता, क्योंकि उसमें छोटा करने का आग्रह होता है, अपनी ओर से थोपने की जगह कम करने की जिद होती है। इसलिए जिसे समझना हो, उसे प्रेम करना है, और प्रेम सदा बेशर्त होता है। प्रेम यह नहीं कहता कि तुम मुझे कुछ देना, भवसागर से पार ले चलना, धन-धान्य से परिपूर्ण कर देना। प्रेम का माँग से कोई सम्बन्ध ही नहीं। इसलिए कोई अनुयायी प्रेम नहीं कर पाता। और विरोधी किसी और से सौदा कर लेता है, इसलिए वह विरोध में खड़ा हो जाता है। वह विरोधी इसलिए हो गया है कि उसे लाभ का आश्वासन नहीं मिला।

महावीर को समझने के लिए पहली बात तो मैं यह कहना चाहूँगा कि हमारी कोई माँग न हो, सौदा करने की हममें कोई भावना न हो। न हम अनुकरण करें और न अनुयायी बनें। केवल सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखें कि उनमें क्या घटा—पहचानें कि क्या घटा, खोजें की क्या घटा। इसलिए जैन महावीर को समझ नहीं पाते। बौद्ध बुद्ध को नहीं समझते। इनका प्रेम बेशर्त नहीं होता। प्रत्येक ज्योति के आसपास अनुयायियों का जो समूह इकट्ठा हो जाता है, वह ज्योति को बुझाने में सहयोगी होता है, उसे प्रोद्दीप्त रखने में नहीं। महावीर का जैन होने से क्या सम्बन्ध ? कुछ भी नहीं। महावीर को इसका पता भी न होगा कि मैं जैन हूँ। क्राइस्ट को पता ही न होगा कि मैं ईसाई हूँ। इसलिए मैं कहता हूँ कि किसी को समझना हो तो उसके पास खाली मन जाओ और याद रखो कि जो जैन नहीं है, बौद्ध नहीं है, हिन्दू या मुसलमान नहीं है, वह पूर्वाग्रहों से मुक्त रहने के कारण सहानुभूति से देख सकता है। उसकी दृष्टि प्रेमपूर्ण हो सकती है। और बड़े मजे की बात है कि हम जन्म से ही जैन हो जाते हैं, जन्म से ही बौद्ध हो जाते हैं। मतलब यह है कि जन्म से ही हमारे धार्मिक होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। अगर कभी भी मनुष्य को धार्मिक बनाना हो तो जन्म से धर्म का सम्बन्ध बिलकुल ही तोड़ देना जरूरी है। जन्म से कोई धार्मिक कैसे हो सकता है ? जन्म से ही जिसने पकड़ लिया धर्म को वह उसे समझेगा क्या ? समझने का मौका कहाँ रहा ? अब तो उसके आग्रह, उसकी पूर्व धारणाएँ निर्मित हो गईं। वह महावीर को समझ ही नहीं सकता क्योंकि महावीर को समझने के पहले उसने उन्हें तीर्थंकर बना लिया, परम गुरु समझ लिया, सर्वज्ञ मान लिया, परमात्मा कह दिया। परमात्मा को पूजा जा सकता है, समझा नहीं जा सकता। समझने के लिए तो अत्यन्त सरल दृष्टि चाहिए, अत्यन्त पक्षपात-रहित दृष्टि। मैं कह सकता हूँ कि मैंने महावीर को समझा है क्योंकि मेरा कोई पक्षपात नहीं, कोई आग्रह नहीं। हो सकता है कि जो मेरी समझ हो, वह शास्त्रों में न मिले। मिलेगी भी नहीं, क्योंकि शास्त्र उन्होंने लिखे हैं जो बँधे हैं, अनुयायी हैं, जैनी हैं। शास्त्र उन्होंने लिखे हैं जिनके लिए महावीर तीर्थंकर हैं, सर्वज्ञ हैं और जिन्होंने महावीर को समझने के पहले कुछ मान लिया है। समझ कभी भी शास्त्र से मेल नहीं खाती। समझ और शास्त्र में बुनियादी विरोध रहा है। शास्त्रों के रचयिता नासमझ, पक्षपातपूर्ण आग्रही होते हैं जो कुछ सिद्ध करने को आतुर हैं। उनमें समझने की उतनी उत्सुकता नहीं होती जितनी कुछ सिद्ध करने की। शास्त्रीय बुद्धि इसलिए अवैज्ञानिक हो जाती है कि वह कुछ सिद्ध करना चाहती है, जो है उसे जानना नहीं चाहती। शास्त्रीय बुद्धि का आदमी परम्परा से बँधा होता है, सम्प्रदाय से बँधा होता है और यह सोचकर कि सत्य पता नहीं कैसा है, भयभीत होता है। तो मेरी बात न मालूम कितने तलों पर मेल नहीं खायगी। कभी मेल खा जाय तो यही आश्चर्य की बात होगी। मेल न खाना ही अधिक स्वाभाविक होगा।

२

महावीर को खोजने का एक ढंग तो यह है कि उनके सम्बन्ध में जो परम्परा है, जो शास्त्र है, जो शब्द संगृहीत हैं, हम उनमें जायँ और उस सारी परम्परा के गहरे पहाड़ को तोड़ें, खोजें और महावीर को पकड़ें। महावीर को हुए ढाई हजार वर्ष हुए। इन ढाई हजार वर्षों में महावीर के सम्बन्ध में जो भी लिखा गया, हम उस सबसे गुजरें और महावीर तक जायँ। यह शास्त्र के द्वारा जाने का रास्ता होगा। यद्यपि यही आम रास्ता है, फिर भी मैं मानता हूँ कि इस रास्ते से कभी जाया ही नहीं जा सकता। इस रास्ते पर चलनेवाले वहाँ पहुँचते हैं जहाँ महावीर से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसके कारण हैं। महावीर ने जो अनुभव किया है, किसी ने भी जो अनुभव किया है, उसे शब्दों की चारदीवारी में बंद करना कठिन है। जिसे भी कोई गहरी अनुभूति हुई है, उसे शब्द की असमर्थता का भी तत्काल ज्ञान हुआ है। परमात्मा का, सत्य का, मोक्ष का अनुभव बहुत गहरा अनुभव है। प्रेम का साधारण अनुभव भी मनुष्य को कुछ कह सकने में असमर्थ बना देता है। प्रेम के सम्बन्ध में अक्सर वे ही लोग मुखर पाए गए हैं जिन्होंने प्रेम का अनुभव नहीं किया। यदि प्रेम के सम्बन्ध में कोई बहुत आश्वासन से बातें करता हो तो समझ ही लो कि उसे प्रेम का अनुभव नहीं हुआ। प्रेम के अनुभव के बाद संकोच आता है, आश्वासन नहीं रह जाता। प्रेमी चिन्तित होता है कि कैसे कहूँ, क्या कहूँ ? जो बात कहना चाहता हूँ वह पीछे छूट जाती है; जिसे कभी सोचा भी न था वह बरबस निकल आती है। जितनी गहरी अनुभूति, उतने ही थोथे और व्यर्थ हैं शब्द ! शब्द हैं सतह पर निर्मित, उनके द्वारा निर्मित जो सतह पर जीते रहे हैं। इसी कारण अब तक सन्तों की कोई भाषा विकसित न हो सकी।

जब कोई व्यक्ति अतीन्द्रिय सत्य को जानता है तो उसकी सभी इन्द्रियाँ एकदम व्यर्थ हो जाती हैं, वह मौन हो जाता है। बोलना पड़ता है इन्द्रिय से और सत्य जाना गया है वहाँ से जहाँ कोई इन्द्रिय माध्यम नहीं। अगर इन्द्रिय माध्यम ही न हो अनुभव का, तो फिर इन्द्रिय कैसी रही ? इसलिए जो जानता है, मुश्किल में पड़ जाता है। उसका मौन भी बड़ी पीड़ा देता है। चारों ओर रुग्ण, विक्षुब्ध मनुष्यों को देखकर उसे लगता है कि कहूँ और इन्हें भी अपनी अनुभूतियों का साझेदार बनाऊँ। वह अपने उस अन्तरतम में झाँकता है जहाँ परम आनन्द घटित हो गया है और उसे लगता है कि वह व्यक्ति भी उसे देख सकता है जो निकट खड़ा है। कोई भी ऐसा नहीं जिसे ऐसी अनुभूति नहीं हो सकती। परन्तु उसके शब्द उसकी अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचाने में एकदम असमर्थ होते हैं।

महावीर-जैसा व्यक्ति जो बोलता है वह एक प्रतिशत भी वह नहीं है जिसकी

उसे अनुभूति हुई है, जिसे उसने जाना है, फिर भी वह हिम्मत करता है, साहस जुटाकर बोलता है और सोचता है कि हजार किरणें भले ही न पहुँचे; एक किरण तो पहुँचेगी ही। अगर महावीर की वाणी पकड़कर ही कोई महावीर की खोज करने जाय तो भी महावीर नहीं मिलेंगे। ठेठ महावीर को सुनकर ही कोई अगर उनकी वाणी पकड़कर खोजने जाय तो भी कोण बिलकुल बदल जायगा और वह वहाँ जा पहुँचेगा जहाँ महावीर नहीं होंगे। क्योंकि **शब्दों ने उसे नहीं जाना जिसे महावीर ने जाना है: उसे जाना है निःशब्द ने और हमने पकड़ा है शब्दों को।** और फिर अनुमान है कि जिन्होंने महावीर के शब्द सुने उनमें वे लोग मौन में चले गए होंगे जिन्हें थोड़ी भी समझ आई होगी और निःशब्द की झलक का जरा भी इशारा मिला होगा। निश्चय ही वे निःशब्द में भाग गए होंगे। जिनकी समझ में नहीं आई होगी वे शब्द-संग्रह में लग गए होंगे। जिसने नहीं समझा होगा वह गणधर[1] बन गया होगा। आम तौर से हम सोचते हैं कि महावीर के पास जो गणधर हैं, वे उनके सबसे अधिक समझने वाले लोग हैं। झूठ इससे बड़ा नहीं हो सकता। महावीर के पास जो सबसे ज्यादा समझनेवाला होगा वह मौन में चला गया होगा। जो सबसे कम समझनेवाला होगा वह महावीर के शब्दों को दूसरों तक पहुँचाने की व्यवस्था में लग गया होगा। तो गणधर वे नहीं हैं जिन्होंने महावीर को सर्वाधिक समझा है। गणधर वे हैं जो महावीर की वाणी का यथार्थ मर्म तो समझ न पाये, किन्तु उनके शब्दों को पकड़ बैठे और उनका संग्रह करने में लग गए।

जिस अनुभव से महावीर गुजरे हैं वह अपरिग्रह में घटा है। जो उनके शब्दों को इकट्ठा करने में लगा है, वह परिग्रही वृत्ति का व्यक्ति है।

महावीर को उत्सुकता नहीं है शब्द-संग्रह की, न बुद्ध को है और न क्राइस्ट को। वैसे तो महावीर भी किताब लिख सकते थे, लेकिन महावीर ने किताब नहीं लिखी, कृष्ण ने भी नहीं लिखी. बुद्ध और जीजस ने भी नहीं। इन असाधारण लोगों में सिर्फ लाओत्से ने किताब लिखी और वह भी जबरदस्ती में लिखी। जब वह अपनी अन्तिम उम्र में चीन की सीमा के पार जा रहा था तब चीन के सम्राट् ने उसे अपनी चुंगी-चौकी पर रुकवा लिया और कहा कि तुम्हें टैक्स देने पड़ेंगे। लाओत्से ने कहा—कैसा टैक्स ? हम न तो कोई सामान ले जाते हैं बाहर, न कुछ लाते हैं; अकेले जा रहे हैं, खाली ! सच तो यह है कि जिन्दगी भर खाली रहे। सम्राट् ने दिल्लगी की—इतनी सम्पत्ति कभी कोई आदमी ले ही नहीं गया जितनी तुम लिये जा रहे हो, सब कुछ-न-कुछ दे ही जाते हैं। तुम बोलते नहीं कि तुम्हारे भीतर क्या है। वह सब चुका दो; कम-से-कम टैक्स दे दो, सम्पत्ति मत दो। लाओत्से भी

---

[1]. जैन आचार्यों का एक वर्ग।—सम्पा०

हँसा। उसने एक छोटी-सी किताब लिखी, पर उसमें पहला वाक्य यह लिखा कि "बड़ी भूल हुई जाती है, जो कहना है वह कहा नहीं जाता और जो नहीं कहना है वही कहा जा रहा है। सत्य बोला नहीं जा सकता और जो बोला जा सकता है वह सत्य नहीं हो सकता। इसलिए जो भी आगे पढ़ोगे, इसको जानकर पढ़ना कि सत्य बोला नहीं जा सकता, कहा नहीं जा सकता और जो कहा जा सकता है, वह सत्य हो ही नहीं सकता।" बात यह है कि लाओत्से होशियार आदमी था। राजा ने समझा कि हम चुंगी ले रहे हैं। वह गलती में पड़ गया। जो लाओत्से को समझेगा वह शुरू की कुछ पंक्तियों के आगे किताब पढ़ेगा नहीं। बात खत्म हो गई है। जो नहीं समझेगा, वह पढ़ डालेगा। उससे कोई मतलब नहीं।

बुद्ध और महावीर-जैसे लोगों ने ग्रंथ नहीं लिखे। उन्होंने कहने का माध्यम चुना, लिखने का नहीं। इसका भी कारण है। कहने का माध्यम प्रत्यक्ष है, आमने-सामने। मैं गया, आप गए कि कही हुई बात बाहर खो गई। लिखने का माध्यम स्थायी है, परोक्ष है। न मैं रहूँगा, न आप रहेंगे, पर वह रहेगा—वह हमसे स्वतंत्र होकर रहेगा। कहने में भूल होती है, लेकिन फिर भी सामने है वह आदमी जिससे कहा गया है। अगर मैं कुछ कह रहा हूँ तो आप मुझे देख रहे हैं, मेरी तड़प, मेरी पीड़ा को भी देख रहे हैं; मेरी मुसीबत भी देख रहे हैं कि कुछ है जो नहीं कहा जा सकता। लेकिन, किताब के सामने लिखनेवाले की न आँख है, न तड़प है, न पीड़ा है। फिर, किताब बच जाती है। उस किताब पर किताबें बनने लगती हैं, टीकाएँ होती रहती हैं। और यह बचाना भी महावीर के ठीक सामने नहीं हो सका। इसका कारण है कि शायद महावीर ने इनकार किया होगा। बुद्ध ने कहा होगा, तुम लिखना मत। अर्थात् जो भी लिखा गया है सुनकर नहीं लिखा गया है। किसी ने सुना है, फिर किसी ने किसी से कहा है। महावीर असमर्थ हैं कहने में। फिर उनको सुनने वाले ने किसी से कहा है, उस तीसरे व्यक्ति ने किसी और से कहा है, और तब दो-चार-पाँच पीढ़ियों के बाद वह लिखा गया है। उस पर टीकाएँ चलती रही हैं, विवाद होते रहे हैं। ये हैं हमारे शास्त्र। अगर किसी को महावीर से चूकना हो तो इन शास्त्रों को पकड़े। इससे सुगम उपाय नहीं। तो मैं शास्त्रों से महावीर तक पहुँचने की सलाह नहीं देता और न मैं स्वयं ही उस रास्ते से उन तक गया हूँ। मैं बिलकुल ही अशास्त्रीय व्यक्ति हूँ; नहीं, कहना चाहिए कि मैं एकदम शास्त्र-विरोधी हूँ।

अगर सारे शास्त्र खो जायँ तो साधु, संन्यासियों और पंडितों के हिसाब से महावीर खो जायँगे। लेकिन क्या सत्य का अनुभव खो सकता है? क्या यह सम्भव है कि महावीर-जैसी अनुभूति घटे और अस्तित्व के किसी कोने में सुरक्षित न रह जाय? क्या यह सम्भव है कि कृष्ण-जैसा आदमी पैदा हो और सिर्फ आदमी की

लिखी किताबों में जीवित रहे और अगर किताबें खो जायँ तो कृष्ण खो जायँ ? अगर ऐसा है तो न कृष्ण का कोई मूल्य है और न महावीर का। आदमी के रेकार्ड, क्लर्कों के रेकार्ड, गणधरों के रेकार्ड ही अगर सब कुछ हैं तो ठीक है, किताबें खो जायँगी और ये आदमी भी खो जायँगे। मगर इतना सस्ता नहीं है यह मामला कि इतनी बड़ी घटनाएँ घटें, कोई परम सत्य को उपलब्ध हो और यह बात केवल कमजोर आदमियों की कमजोर भाषा में सुरक्षित रहे। मेरा कहना है कि जगत् में जो भी घटता है, चाहे वह महत्त्वपूर्ण हो या अमहत्त्वपूर्ण, वह कभी नष्ट नहीं होता और न उसे मनुष्य पर ही छोड़ दिया जाता है कि वह उसे सुरक्षित रखे। अंधे भला उस व्यक्ति के अनुभव को सुरक्षित रख सकते हैं जो कभी उनके समाज में था और जिसे अब आँख मिल गई हो, प्रकाश के दर्शन हो गए हों ? हम उस व्यक्ति की तुलना में अंधे हैं जिसे सत्य की उपलब्धि हुई है अथवा जिसने ज्ञान-चक्षुओं से सत्य का साक्षात्कार किया है।

तो मैं कहना चाहता हूँ कि अस्तित्व में कुछ भी नहीं खोता। सच तो यह है कि मेरे ये शब्द भी बराबर मुखर रहेंगे। जो शब्द एक बार पैदा हो गया है वह कभी लुप्त न होगा। कृष्ण ने अगर कभी भी कुछ कहा है तो आज भी उसकी ध्वनि-तरंगें किन्हीं तारों के निकट से गुजर रही हैं। ध्यान रहे कि लन्दन में जो बोला गया है आप उसे ठीक उसी वक्त नहीं सुन लेते, क्योंकि ध्वनि-तरंगों को आने में समय लगता है। जो कभी भी बोला गया है उसकी ध्वनि-तरंगें आज भी वर्तमान हैं, किन्हीं तारों के पास से गुजर रही हैं। यानी किसी तारे पर महावीर के वचन आज भी सुने जा रहे होंगे। इसका क्या मतलब हुआ ? इसका मतलब यह हुआ कि इस अनन्त आकाश में—अनन्त है, इसलिए इसमें कुछ नहीं खोता—जो भी पैदा होता है, वह यात्रा करता रहता है।

इसी प्रकार और भी सूक्ष्म तरंगें हैं जो ध्वनि की नहीं, अनुभूति की तरंगें हैं। जब हम बोलते हैं तब ध्वनि की तरंगें पैदा होती हैं, लेकिन जब अनुभव करते हैं तब अनुभूति की ऐसी तरंगें पैदा होती हैं जो और भी सूक्ष्म आकाश में यात्रा करती हैं। जिस प्रकार रेडियो से स्थूल आकाश में घूमती हुई ध्वनि-तरंगों को पकड़ा जाता है, उसी प्रकार अगर कोई यांत्रिक व्यवस्था हो सके तो सूक्ष्म आकाश में हुए अनुभव की तरंगों को पुनः पकड़ा जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि अनुभूतियाँ भी कभी नष्ट नहीं होतीं और न यह आदमी पर ही छोड़ा गया है कि वह उन्हें लिखकर सुरक्षित रखे। यदि हम विशिष्ट ध्यान रखकर अपने भीतर उतरें तो विशिष्ट व्यक्तियों की अनुभूति से हम तत्काल प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। लेकिन, यदि हम किसी विशिष्ट व्यक्ति का ध्यान न रखकर उतरें तो हम अपनी ही अन्तर अनुभूतियों में उतर आते हैं। अपने भीतर गहराइयों में उतरनेवाला व्यक्ति ऐसी व्यवस्था

कर सकता है कि वह महावीर, बुद्ध, जीजस या कृष्ण से संयुक्त हो जाय। संयुक्त होने का मतलब यह नहीं कि महावीर कहीं बैठे हैं जिनसे संयोग हो जायगा। वह दीया तो टूट गया और वह ज्योति भी खो गई। लेकिन उस ज्योति ने जो अनुभव किया था, उस अनुभव की सूक्ष्म तरंगें अस्तित्व की गहराइयों में आज भी सुरक्षित हैं। महावीर का पूर्ण ध्यान लेकर अगर आप उन गहराइयों में उतरें तो आप के लिए द्वार खुल सकते हैं, महावीर के अन्तरंग की सूक्ष्म तरंगें आपको उपलब्ध हो सकती हैं और आप को एहसास हो सकता है कि महावीर के अनुभवों से जुड़ने का बस यही रास्ता है। अस्तित्व की गहराइयों में अनुभूतियाँ सुरक्षित रह जाती हैं, वहाँ से उन्हें वापस पकड़ा जा सकता है, वहाँ से उनसे पुनः जीवन-सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं।

यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मेरा मार्ग शास्त्र के मार्ग से बिलकुल भिन्न है। इसलिए मेरी चर्चा सुनकर शास्त्रों में उसके तालमेल की खोज न करें। शास्त्रों से मेरी चर्चा का कोई सम्बन्ध ही नहीं। किसी और मार्ग से चलने की चेष्टा में मुझे जो कुछ दिखाई पड़ेगा, वह मैं आपसे कहता चलूँगा। किन्तु, जब तक कुछ और लोग मेरे साथ इस प्रयोग को करने के लिए राजी न होंगे, तब तक यह निर्णय नहीं हो सकेगा कि मेरी बात प्रामाणिक हैं या नहीं।

३

महावीर के बाह्य जीवन की घटनाओं को जानना एक बात है और उनके अन्तर्जीवन को जानना दूसरी बात। महावीर के बाह्य जीवन से मुझे न तो प्रयोजन है और न उसे जानने की उत्सुकता ही। लेकिन उनके अन्तर्जीवन में क्या घटा, उससे मेरा प्रयोजन है, उत्सुकता है और उस ओर दृष्टि भी। सच बात तो यह है कि जिसे हम बाहर का जीवन कहते हैं, वह एक स्वप्न से ज्यादा मूल्य नहीं रखता।

मेरे लिए इसका कोई अर्थ ही नहीं कि महावीर कब पैदा हुए, कब मरे; उन्होंने शादी की या नहीं, बेटी पैदा हुई या नहीं। हुई हो तो ठीक, न हुई हो तो ठीक। मैं तो यहाँ तक कहना चाहता हूँ कि महावीर भी हुए हों तो ठीक, न हुए हों तो ठीक। महत्त्वपूर्ण है अन्तर की गति, चेतना का विकास, उनका रूपान्तरण। जिसने महावीर के बहिर्जीवन को पकड़ लिया है, वह बुद्ध के जीवन को समझने में असमर्थ हो जायगा। वह सोचता है कि जो महावीर के बहिर्जीवन में है, वह उनके अन्तर्जीवन से अनिवार्य रूप से बँधा हुआ है। जब वह देखता है कि महावीर नग्न खड़े हैं तब उसके मन में यह बात जम जाती है कि परम ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति नग्न खड़ा होता है। और वह पूछता

है, यदि बुद्ध ने वस्त्र पहन रखा है तो वे परम ज्ञान को कैसे उपलब्ध हुए? बहिर्जीवन की पकड़ के कारण ही अन्तर्जीवन के सम्बन्ध में इतनी खाइयाँ खड़ी हो गई हैं।

महावीर के सम्बन्ध में मैं ठीक कह रहा हूँ या नहीं, इस बात की जाँच का भी कोई अर्थ नहीं है। मैं कुछ सिद्ध करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, बल्कि कह इसलिए रहा हूँ कि तुम जहाँ हो वहाँ से सरक सको और किसी दूसरी दिशा में गति कर सको। इसलिए यदि यह बातचीत तुम्हें अन्तर्दशा में गति देनेवाली बन जाती है तो मैं मान लूँगा कि काफी प्रमाण मिल गए। यानी, मेरे लिए अर्थकता इसमें है कि महावीर के जीवन के सम्बन्ध में मैं जो कहूँ वह किसी रूप में तुम्हारे जीवन को रूपान्तरित करनेवाला बने।

यही वजह है कि जो लोग जानते रहे हैं उन्होंने इतिहास लिखने पर जोर नहीं दिया। इतिहास की जगह उन्होंने पुराण पर—'मिथ' पर—बल दिया। इतिहास का आग्रह है कि बाहर घटी घटनाएँ तथ्य (फैक्ट्स) की तरह संगृहीत की जायँ; पुराण इस बात पर बल देता है कि बाहर की घटनाएँ इस भाँति संगृहीत हों कि जब कोई उनसे गुजरे तो उसके भीतर कुछ घटित हो जाय। पौराणिक घटनाएँ किसी दृष्टि से अप्रामाणिक मालूम पड़ सकती हैं। ऐतिहासिक तथ्य की तरह क्राइस्ट का सूली पर चढ़ना और फिर तीन दिन बाद जीवित हो उठना प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक तथ्य की तरह इसे भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि कोई ऐसी क्वारी लड़की से पैदा हो सकता है जिससे पुरुष का सम्पर्क न हुआ हो। किन्तु पुराण की दृष्टि बड़ी गहरी है। उसका कहना है कि जीजस-जैसा बेटा अत्यन्त क्वारी आत्मा से ही जन्म ले सकता है। यदि किसी माँ को जीजस-जैसे बेटे को जन्म देना हो तो उसके चित्त का अत्यन्त कुँआरा होना जरूरी है और कुँआरेपन का कोई सम्बन्ध शरीर से है ही नहीं। शरीर तो यंत्र है, कुँआरापन आन्तरिक मनोदशा है। हो सकता है कि शरीर कुँआरा न हो और चित्त बिलकुल कुँआरा हो।

अब एक और उदाहरण लो। महावीर के पैर को सर्प काट लेता है और दूध बहता है। इसे ऐतिहासिक तथ्य की तरह कोई सिद्ध नहीं कर सकता। करने वाले करते हों, पर गलत करते हैं। वे महावीर को व्यर्थ करवा देंगे; जो मिथ है, गाथा है, वह खो जायगी। इस घटना का एक गहरा अर्थ है। वह यह है कि यदि सर्प भी काटे या कोई महावीर को जहर भी दे, मारने का यत्न भी करे तो भी महावीर का मन माँ के मन से भिन्न नहीं हो पाता। दूध निकलने का कुल अर्थ इतना ही है कि महावीर का मन मातृत्व से भरपूर है। चाहे तुम कुछ भी करो—जहर दो, शत्रुता करो, चोट पहुँचाओ—महावीर के चरणों से प्रेम और करुणा ही प्रवाहित होगी। उनके कर्म दूध की तरह पोषक ही सिद्ध होंगे, पोषण ही देंगे। यह सिद्ध करना

निरर्थक है कि महावीर के पैर स्तन का काम कर रहे थे। एक मुनि ने यह सिद्ध करने की कोशिश भी की है। लेकिन उनके तर्कों को सुनने के बाद मैंने उनसे कहा कि यदि यह प्रमाणित भी हो जाय तो इससे महावीर का मूल्य बढ़ता नहीं, बिलकुल खो जाता है। अगर किसी के भी पैर स्तन का काम कर रहे हों तो उनसे दूध निकल आयगा। यदि महावीर के चरणों से इसी कारण दूध निकला कि वे स्तन का काम कर रहे थे तो इससे महावीर का असाधारणत्व लुप्त हो गया।

पुराण की दृष्टि महावीर के मर्म पर है, तथ्य पर नहीं। तथ्य में जाने पर यह भी जरूरी नहीं कि किसी सर्प ने उन्हें काटा ही हो। यह भी जरूरी नहीं कि उनके चरणों से दूध निकला ही हो। जरूरी केवल इतना है कि महावीर का हृदय करुणा से ओतप्रोत था, स्नेह से लबालब भरा था, उससे प्रेम की अमृतधारा प्रवाहित होती थी—चरणों तक से मानों दूध निकलता था। यह न कहकर कि महावीर हिंसा का प्रत्युत्तर स्नेह से, विष का प्रत्युत्तर दूध से देते थे, पुराण ने इसे ही कविता में कहा कि सर्प ने काटा महावीर को तो दूध ही निकला उनके चरणों से।

मेरी दृष्टि भी महावीर के अन्तर्जीवन पर, उनके महत्त्व पर, उनके जीवन की अर्थवत्ता पर है, न कि उनके बहिर्जीवन के तथ्यों पर। अगर मेरी बातचीत से तुममें बेचैनी पैदा हो जाय और यह जानने की उत्सुकता तुम्हें कचोटने लगे कि यह बात सच है या झूठ, तो तुम मुझसे प्रमाण मत पूछना। स्वयं प्रमाण की तलाश में निकल जाना। अगर बात झूठी भी हुई तो तुम वहाँ पहुँच जाओगे जहाँ पहुँचना चाहिए। और यदि बात सही हुई तो लक्ष्य की प्राप्ति आप ही हो गई। जिस दिन तुम वहाँ पहुँच जाओगे उस दिन जरूरी नहीं कि तुम लौटकर मुझसे यह कहने ही आओ।

मैंने कहा है कि मेरी दृष्टि शास्त्रीय नहीं है। मैं शास्त्रों की निंदा नहीं करता, क्योंकि उन्हें मैं निंदा योग्य भी नहीं मानता। निंदा हम उसकी करते हैं जिससे कुछ मिलने की सम्भावना थी और वह चीज न मिली। शास्त्र से मिल ही नहीं सकती। शास्त्र की निंदा का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि शास्त्र से न मिलना शास्त्र का स्वभाव है। शास्त्र का स्वभाव है कि उससे सत्य नहीं मिल सकता। मिल जाय तो आश्चर्य हो जायगा, असम्भव घटना हो जायगी। शास्त्र का रास्ता प्रज्ञा को नहीं जाता, पांडित्य को जाता है, और पांडित्य प्रज्ञा से बिलकुल उल्टी चीज है। पांडित्य है उधार और प्रज्ञा है निजी। मेरे शब्दों को मानकर जो शास्त्र निर्मित होंगे उनका स्वभाव भी ऐसा ही होगा। शास्त्रों का यही स्वभाव है। चाहे वे शास्त्र महावीर के हों, चाहे बुद्ध के, चाहे कृष्ण के, चाहे मेरे, चाहे तुम्हारे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। हाँ, अगर किसी को सत्य दिखाई पड़ जाय पहले तो वह बाद में शास्त्र में भी दिखाई पड़ सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि शास्त्र किसी को दिखला

नहीं सकता, लेकिन जिसे दीख पड़ा है उसे शास्त्र में भी दीख सकता है। उसे शास्त्र में ही नहीं, कंकड़, पत्थर, पहाड़, दीवार, सब में दिखाई पड़ता है। यानी यह सवाल फिर शास्त्र का नहीं रह जाता। जिसे दिखाई पड़ गया उसे सब में दिखाई पड़ता है। शास्त्र में हम वही पढ़ते हैं जो हम पढ़ सकते हैं; वह हमारे ज्ञान की वृद्धि नहीं करता। अज्ञानी आदमी शास्त्र के सामने खड़ा होकर यह न सोचे कि उसे पढ़कर वह ज्ञानी हो जायगा। हाँ, जहाँ ज्ञानी को शास्त्र में ज्ञान मिलेगा, वहीं अज्ञानी को अज्ञान ही दिखता रहेगा। और मजा यह है कि ज्ञानी शास्त्र में देखने नहीं जाता, पर अज्ञानी उसे अपना सहारा बना लेता है। अक्सर ऐसा होता है कि सुन्दर आदमी दर्पण से मुक्त हो जाता है और कुरूप आदमी उसके आस-पास घूमता रहता है।

हो सकता है, किसी दिन मेरे भी शब्द संगृहीत हो जायँ और लोग उन्हें पकड़कर शास्त्र बना लें। उसी दिन मेरे शब्दों की हत्या हो जायगी। फिर भी, ध्यान रहे कि मैं किताब का विरोधी नहीं, शास्त्र का विरोधी हूँ। किताब दावा नहीं करती सत्य देने का। उसका दावा है सिर्फ संग्राहक होने का। शास्त्र का दावा सिर्फ संग्राहक होने का नहीं, सत्य देने का है। लाओत्से की किताब की तरह जो केवल विनम्र संग्रह है, वह शास्त्र नहीं, मात्र किताब है। शास्त्र किसी के कुछ बोलने से नहीं बनता, शास्त्र बनता है शब्दों को पकड़ने से। महावीर के बोलने से शास्त्र नहीं बना, गणधरों के पकड़ने से बना है। इसलिए वाणी ही ऐसी काँटों वाली हो, अंगारों से ऐसी भरी हो कि पकड़ना मुश्किल हो जाय। लेकिन अंगारे भी बुझ जाते हैं, एक-न-एक दिन राख हो जाते हैं और पकड़नेवाले उन्हें भी मुट्ठी में पकड़ लेते हैं। इसी कारण ज्ञानी को पुराने ज्ञानियों की 'दुश्मनी' में बार-बार खड़ा होना पड़ता है। सच पूछो तो यह दुश्मनी नहीं है, मित्रता है। और इससे बड़ी मित्रता हो नहीं सकती, क्योंकि इस भाँति जो राख पकड़ ली गई है, उससे ज्ञानियों द्वारा ही छुटकारा होता है। इसलिए जिसे महावीर से प्रेम है वह जैनियों के खिलाफ खड़ा होगा ही। अगर महावीर भी लौट आयें तो उन्हें भी उनके खिलाफ खड़ा होना पड़ेगा, क्योंकि उन्होंने जो दिया था वह जीवित अंगारा था; वह पकड़ा नहीं जा सकता था, सिर्फ किया जा सकता था, समझा जा सकता था। वह अब राख रह गई है। लोगों ने उसे पकड़ लिया है और वे उसे पकड़ बैठ गए हैं। न बुद्ध महावीर के खिलाफ हैं, न महावीर कृष्ण के। खिलाफ हैं शास्त्र बन जाने के। और जहाँ भी शास्त्र बन जाता है, वहाँ सत्य मर जाता है। इसलिए लड़ाई जारी रहती है। किसी ज्ञानी पर वह खत्म नहीं हो जाती। आनेवाले ज्ञानियों को अतीत के ज्ञानियों का खण्डन करना ही होगा। यह बड़ा कठोर कृत्य है, लेकिन प्रेम इतना कठोर भी होता है।

जेन फकीर बुद्ध के अनुयायी होते हैं। फिर भी एक जेन फकीर ने अपने अनुयायियों से कहा है कि अगर बुद्ध भी तुम्हारे और सत्य के बीच आ जायँ तो एक चाँटा मारकर उन्हें अलग कर देना। एक दूसरे जेन फकीर का कहना है कि यदि बुद्ध का नाम भी मुँह में आ जाय तो पहले कुल्ला करके मुख साफ कर लेना। वह एक ओर तो अपने मन्दिर में बुद्ध की मूर्ति रखता है, फिर दूसरी ओर लोगों को समझाता है कि बुद्ध से बचना और कहता है कि इसके लिए मुझे बुद्ध का आशीर्वाद प्राप्त है। असल में जो सीढ़ी है वह मार्ग का पत्थर भी बन सकती है और जो पत्थर है उसे सीढ़ी बनाया जा सकता है। सब-कुछ बनानेवाले के ऊपर निर्भर है। जब पुरानी सीढ़ी पत्थर बन जाती है तब उसे मिटाने की बात करनी ही पड़ती है। यह लड़ाई निरन्तर जारी रहेगी। मैं जो आज कह रहा हूँ उसे कल गलत कहने की हिम्मत जुटानी ही पड़ेगी। मुझसे प्रेम करनेवाले किसी व्यक्ति को मेरे खिलाफ लड़ना ही पड़ेगा। जो व्यक्ति हमारे लिए मुक्तिदायी सिद्ध हो सकता है उसे ही हम बंधन बना लेते हैं और जब उसे बंधन बना लेते हैं तब उससे भी मुक्ति दिलानी पड़ती है।

४

ऐतिहासिक तथ्यों पर ध्यान केन्द्रित रखनेवाले पुराण और अध्यात्म की सांकेतिक भाषा समझ नहीं पाते। मिसाल के तौर पर तीर्थंकरों की मूर्तियों को ही लो। तुम कोई फर्क नहीं बता सकते उनमें, सिवाय चिह्नों के। अगर चिह्न अलग कर दिए जायँ तो मूर्तियाँ एक जैसी हैं। क्या ये चौबीसों तीर्थंकर एक-जैसे रहे होंगे? क्या यह ऐतिहासिक मामला हो सकता है कि इन चौबीस आदमियों की एक-जैसी आँख, एक जैसी नाक, एक जैसे चेहरे, एक जैसे बाल रहे हों? नहीं, यह ऐतिहासिक नहीं, आन्तरिक तथ्य है। जैसे ही व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होता है, सब भेद विलीन हो जाते हैं। हमारे भीतर एक ऐसी जगह है जहाँ नाक, चेहरे आदि मिल जाते हैं। जो लोग एक-जैसे हो गए, उन्हें कैसे बताएँ? तो हमने मूर्तियाँ एक जैसी बना दीं। महावीर का चेहरा कैसा था, यह सवाल ही नहीं रहा। मूर्तियों में तीर्थंकरों के भीतरी साम्य को प्रकाशित किया गया। जैसे ही चेतना एक तल पर पहुँच गई, सब एक हो गए—उनके चेहरे एक हो गए, अलग-अलग आँखों से झाँकनेवाले चौबीस तीर्थंकर एकरूप हो गए। होंठ अलग-अलग, लेकिन जो वाणी निकलने लगी, वह एक हो गई, भीतर भिन्नताएँ लुप्त हो गईं। मूर्तियाँ सब शान्त हैं, स्थिर हैं। उनमें कोई गति नहीं, कोई कम्पन नहीं। पत्थर की मूर्तियाँ चुनी गईं, क्योंकि पत्थर सबसे ज्यादा ठहरा हुआ तत्त्व है और उस ठहराव में भी हमने जो रूपरेखा चुनी, वह बिलकुल ठहरी हुई है। हाथ जुड़े हुए हैं, पैर जुड़े हुए हैं, पद्मासन लगा है, आँखें आधी बंद हैं। ध्यान रहे, आँखें अगर पूरी बंद हों तो खोलनी पड़ेंगी; अगर पूरी खुली हों तो बन्द करनी पड़ेंगी, क्योंकि अति से लौटना ही पड़ता है—अति पर कोई ठहर नहीं

सकता। इसलिए आँखें आधी खुली हैं, आधी बन्द हैं। आँखों का मध्य में होना ठहराव का सूचक है। अब कहीं कोई गति नहीं, कहीं आना-जाना नहीं। न पीछे लौटना है, न आगे जाना।

अब विचारणीय है कि जहाँ चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ एक जैसी हैं वहीं बुद्ध और महावीर की एक जैसी नहीं, यद्यपि दोनों समकालीन थे। इन दोनों की मूर्तियाँ एक जैसी हो सकती थीं। लेकिन नहीं हुईं, इसका भी कारण है। ध्यान रहे कि चौबीस तीर्थंकरों की एक विशिष्ट धारा है। इस धारा ने सोचने का एक ढंग निर्मित किया है, अभिव्यक्ति की एक सांकेतिक भाषा—'कोड लैंग्वेज'—निर्मित की है। एक भाषा, एक ढंग, एक प्रतीक की व्यवस्था हुई है, शब्दों की परिभाषा और उनके प्रयोग का ढंग निर्मित हुआ है। परन्तु यह ढंग कोई तीर्थंकर निर्मित नहीं करता, उसके होने से स्वतः निर्मित होता है, उसकी, मौजूदगी से निर्मित होता है। महावीर पर आकर यह धारा खत्म हो जाती है।

बुद्ध एक नई धारा के सिर्फ प्रारम्भ हैं। इस कारण उन्हें जोर देकर कहना पड़ा कि वे महावीरवाली धारा से भिन्न हैं। उन्हें लगा कि कहीं वे पुरानी धारा से जुड़ न जायँ, इसलिए उन्हें बहुत सचेत होना पड़ा। और इसी कारण जहाँ महावीर ने बुद्ध के खिलाफ एक शब्द भी नहीं कहा, वहीं बुद्ध ने कई बार महावीर का खंडन किया और बहुत कठोर शब्द कहे। वस्तुतः महावीर वृद्ध थे, बुद्ध जवान; महावीर विदा हो रहे थे और बुद्ध का आगमन हो रहा था। उनके लिए यह भेद बनाना एकदम जरूरी था। इसलिए उन्होंने साफ-साफ कहा कि महावीर की व्यवस्था से हमें कुछ लेना-देना नहीं; वह बिलकुल गलत है, लोक-मानस से विदा होती हुई व्यवस्था है, उससे सम्बन्ध जोड़ा तो नई व्यवस्था के जनमने में बाधा उपस्थित होगी।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि महावीर के व्यक्तित्व को जो धारा प्रभावित करती है, वह पारस वाली, नेमि वाली, आदिनाथ वाली धारा है। ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में अनन्त जन्म लगते हैं। इसे वह खास तरह की धारा ही प्रभावित कर सकती है। बुद्ध बिलकुल भिन्न तरह के व्यक्ति हैं। उनके व्यक्तित्व की अपनी यात्रा है। उनकी चिंतना ने बहुतों को, जो महावीर से लाभान्वित न हो सकते थे, लाभ पहुँचाया। लेकिन बुद्ध और महावीर की एक धारा है; मीरा की अपनी चिन्तना, अपनी धारा। महावीर और मीरा का व्यक्तित्व बिलकुल उलटा है। अगर महावीर की चिन्तना दुनिया में अकेली हो तो बहुत थोड़े से लोग ही सत्य के अन्तिम मार्ग तक पहुँच पायँगे। मीरा जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, उस वर्ग के लोग वंचित रह जायँगे। चूँकि अनन्त प्रकार के व्यक्ति हैं, इसलिए अनन्त धाराएँ चलती हैं और चेष्टा यही होती है कि ऐसा एक भी व्यक्ति न रह जाय जिसके योग्य और जिसके अनुकूल पड़नेवाली धारा न मिल सके।

प्रथम खंड

प्रथम अध्याय

महावीर की जीवनधारा : महावीर का मार्ग

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ?[१]

—दश० अ० ४ गा० ७

१

महावीर की जो जीवनधारा है वह पुरुष की है। पुरुष और स्त्री के मानस में बुनियादी भेद है। स्त्री के पास जो मन है वह निष्क्रिय है, 'पैसिव' है; पुरुष का मन आक्रामक—'एग्रेसिव'—है। स्त्री प्रेम भी करे तो आक्रमण नहीं करेगी—वह बैठकर अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करेगी। वह जा नहीं सकती उठकर उसके पास। वह प्रेम करती है सही, पर विवाह का प्रस्ताव नहीं करती; प्रतीक्षा करती है कि कब उसका प्रेमी प्रस्ताव करे। हाँ, वह प्रस्ताव के लिए योजनाएँ बनाती है, प्रयत्न करती है कि प्रस्ताव किया जाय। लेकिन प्रस्ताव किए जाने पर वह सीधे 'हाँ' नहीं भरती, क्योंकि 'हाँ' भी आक्रामक है। 'ना' को वह धीरे-धीरे 'हाँ' के करीब लाती है। 'निगेटिव' है उसका मानस। उसकी शारीरिक रचना भी 'निगेटिव' है, 'पाजिटिव' नहीं। इसलिए वह पुरुष पर बलात्कार नहीं करती, हमला नहीं करती। यदि पुरुष राजी नहीं है तो उसके साथ वह काम-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती। लेकिन यदि स्त्री राजी न भी हो तो पुरुष उसके साथ सम्भोग कर सकता है, व्यभिचार कर सकता है।

महावीर की जीवन-चिन्तना पुरुष की जीवन-चिन्तना है। इसलिए उनके मार्ग में स्त्री को मोक्ष पाने का उपाय भी नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं। इसका मतलब केवल इतना ही है कि महावीर के मार्ग से उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। उसे एक बार पुरुष-योनि में जन्म लेना ही होगा, तभी वह मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकती है।

महावीर की व्यवस्था संकल्प की है, इच्छा और आक्रमण की है। इसका आधार बहुत गहरा आक्रमण है। उनका मार्ग उसके लिए उपयोगी है जो जीतने में समर्थ है, जो सिर्फ जीत ही सकता है। इसीलिए उन्हें 'महावीर' कहा गया। लड़ने की,

---

१. भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोले ?—जिससे पाव-कर्मों का बन्धन न हों।

करने की जो चरम क्षमता है, उसके कारण ही वे महावीर कहलाए। उनकी व्यवस्था में न तो भय को कोई गुंजाइश है और न समर्पण की। इसीलिए वे परमात्मा को भी इनकार करते हैं। अगर भगवान है तो समर्पण करना पड़ेगा। महावीर मान नहीं सकते कि हमसे भी कोई ऊपर है। पुरुष-चित्त समर्पण नहीं करता। यह कोई दर्शन की बात नहीं है कि परमात्मा नहीं है। तुम ही परमात्मा हो, मैं ही परमात्मा हूँ ! आत्मा ही शुद्ध होकर परमात्मा हो जाती है। आत्मा ही जब पूर्ण रूप से जीत लेती है तो परमात्मा होजाती है। ऐसा कोई परमात्मा नहीं जिसके पैरों में तुम सिर झुकाओ और प्रार्थना करो।

अतः महावीर का ढंग है दृढ़ संकल्प का और वे कहते हैं कि अगर किसी भी चीज के लिए पूर्ण संकल्प हो गया हो तो उपलब्धि हो ही जायगी। बुद्ध की बात और है, क्राइस्ट की कुछ और। क्राइस्ट बिना सूली पर चढ़े सार्थक ही नहीं होते। परन्तु अगर महावीर सूली पर चढ़ें तो हमारे लिए व्यर्थ हो जायँगे। कृष्ण का व्यक्तित्व इन सबसे भिन्न है। कृष्ण और महावीर में मेल बिठाना सम्भव नहीं, क्योंकि इनमें कोई मेल ही नहीं। फिर भी इन सबका महत्त्व है, ये सब इस अर्थ में सार्थक हैं कि पता नहीं, कौन-सा व्यक्तित्व ज्योति की अनुभूति कराए—किस व्यक्तित्व से आपको ज्योति दीखे। किन्तु याद रहे, आपको उसमें ही ज्योति दीखेगी जिसके व्यक्तित्व का प्रकार आपके व्यक्तित्व के किस्म के अनुकूल है।

जहाँ महावीर की व्यवस्था में पूर्ण संकल्प का महत्त्व असंदिग्ध है, वहीं बुद्ध के लिए संकल्प संघर्ष है। बुद्ध कहते हैं : संघर्ष से सत्य कैसे मिलेगा ? इसलिए संकल्प छोड़ो, शान्त हो जाओ। संकल्प ही न करो तो उस शान्ति में सत्य फलित हो सकता है। यह भी ठीक है, यह भी एक खिड़की है और ऐसे भी सत्य मिल सकता है। महावीर भी इसे ठीक बतलाते हैं। किन्तु, यदि आप महावीर से प्रेम करते हैं तो आप क्राइस्ट की मूर्ति महावीर-जैसी ढालेंगे, क्राइस्ट से प्रेम करते हैं तो महावीर की मूर्ति क्राइस्ट-जैसी ढालेंगे। तभी बात गड़बड़ हो जाती है। क्राइस्ट से प्रेम करनेवाला व्यक्ति अगर महावीर की मूर्ति ढालेगा तो वह महावीर को सूली पर लटका देगा। इसका कारण है कि अभी वह सांकेतिक भाषा—'कोड लैंग्वेज'—पैदा नहीं हो सकती जो सारी मूर्तियों में काम आ सके। अगर हम झाँकना चाहें सबके भीतर समानता के लिए तो हमें मूर्ति मिटा देनी पड़ेगी। फिर हमें एक नया कोड विकसित करना होगा। आरम्भ में बुद्ध की मूर्ति नहीं थी, परन्तु बुद्ध के मरने के बाद पाँच-छह सौ साल में उनके अनुयायियों की हिम्मत टूट गई और मूर्ति आ गई। मुसलमानों ने बड़ी हिम्मत जाहिर की। चौदह सौ साल हो गए, किन्तु उन्होंने मूर्ति को प्रवेश करने नहीं दिया। मन मूर्ति के लिए लालायित रहता है। उसकी इच्छा होती है कोई रूप बने। कुछ लोग हैं जिनके लिए सभी रूपों में भूल दिखाई पड़ी है। उन्होंने रूप हटाकर भी

देखा है—रूप नहीं रखा, मुहम्मद को विदा कर दिया, मस्जिद खाली रह गई। कुछ लोगों ने मन्दिर और मस्जिद को भी विदा करके देख लिया, तीर्थ भी त्याग दिए। सच पूछो तो जैसे-जैसे मनुष्यता विकसित होगी, वैसे-वैसे व्यक्ति का आग्रह छोड़ना ही होगा, मूर्तियाँ त्यागनी ही पड़ेंगी। जैनों ने कुछ प्रतीक बचा रखे हैं। उनके चौबीस तीर्थंकर हैं। अच्छा तो यह होता कि ये प्रतीक भी न रहते, किन्तु ऐसा न हो सका। थोड़े से चिह्न बने रहे, किन्तु उनमें भी भेद हो गया। पारस का मन्दिर अलग बना, महावीर का अलग। उनके चिह्न में भी भेद ला दिया। चिह्नों को भी विदा करने की जरूरत है। लेकिन यह तभी सम्भव है जब मनुष्य का मन बदले, उसके पहले नहीं।

यह ठीक है कि जो अनुभव महावीर को हुआ वही बुद्ध को भी, लेकिन उस अनुभव को कहा गया अलग-अलग शब्दों में। महावीर कहते है: आत्मा को पाना परम ज्ञान है। बुद्ध वहीं, उसी समय और उसी क्षेत्र में, कहते हैं: आत्मा को मानने से बड़ा अज्ञान नहीं है। दोनों ठीक कहते हैं और दोनों जानते हैं भलीभाँति कि उनमें कोई भेद नहीं। फिर भी दोनों राजी नहीं हो सकते, हम पर करुणा के कारण। राजी हुए तो हमारे लिए व्यर्थ हैं। जितने बड़े व्यापक वर्ग को बुद्ध ने प्रभावित किया उतने बड़े व्यापक वर्ग को महावीर प्रभावित न कर सके। इसका कारण यह है कि महावीर के प्रतीक अतीत के थे और बुद्ध के प्रतीक भविष्य के। महावीर के पास जो प्रतीक थे, उनके पीछे तेईस तीर्थंकरों की धारा थी। प्रतीक मिट चुके थे, प्रचलित हो चुके थे, परिचित थे। इसलिए महावीर का बहुत क्रांतिकारी व्यक्तित्व भी क्रांतिकरी मालूम न हुआ, कारण उनके प्रतीक, जिनका उन्होंने प्रयोग किया, अतीत से आए थे। बुद्ध का व्यक्तित्व उतना क्रांतिकारी न था जितना महावीर का, किन्तु वे ज्यादा क्रांतिकारी मालूम हो सके। उन्होंने जो भाषा चुनी वह भविष्य की थी। इसलिए उनका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा, व्यापक और गहरा होता रहा और, अनुमान है, व्यापक और गहरा होता रहेगा। आनेवाले सौ वर्षों में बुद्ध के प्रभाव के निरन्तर बढ़ जाने की भविष्यवाणी की जा सकती है। पश्चिम पर यह प्रभाव हावी होता जा रहा है।

कहा जा चुका है कि महावीर ने आत्मा की बात की है, किन्तु बुद्ध ने आत्मा को इनकार कर दिया है। बुद्ध ने कहा, आत्मा नहीं है। महावीर ने इनकार किया परमात्मा को, कहा—परमात्मा नहीं है, मैं ही हूँ। बुद्ध ने परमात्मा की बात ही नहीं की। इनकार करने योग्य ही नहीं माना। यहाँ तक कि उन्होंने 'मैं हूँ' को भी इनकार कर दिया और कहा कि जो अपने 'मैं' के पूर्ण इनकार को उपलब्ध हो जाता है, उसका निर्वाण हो जाता है। आनेवाली सदी धीरे-धीरे वहाँ पहुँच रही है जहाँ व्यक्ति अनुभव कर रहा है कि व्यक्ति होना भी एक बोझ है। सुतरां इसे भी विदा हो जाना

चाहिए, इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं। अहंकार—'इगो'—भी एक बोझ है, फिर भी महावीर ने जो व्यवस्था की उसमें मोक्ष पाने का खयाल है, ऐसा मालूम पड़ता है कि उसमें एक उद्देश्य, एक लक्ष्य है। महावीर ने जो प्रतीक चुने हैं, उनकी वजह से ऐसा मालूम पड़ता है कि मोक्ष एक लक्ष्य है। इसके लिए साधना करो, तपस्या करो तो मोक्ष मिलेगा। बुद्ध ने कहा कि जब तक लक्ष्य की भाषा है तब तक इच्छा है, वासना है, तृष्णा है। लक्ष्य की बातें न करो। इसका मतलब हुआ कि अभी जियो, इसी क्षण में जियो—कल की बात मत करो। पुरानी दुनिया गरीब दुनिया थी और गरीब दुनिया कभी भी वर्तमान में—इस क्षण में—नहीं जी सकती। गरीब दुनिया को हमेशा भविष्य में जीना पड़ता है। लेकिन दुनिया बदल रही है, समृद्ध दुनिया पैदा हो रही है। अमरिका में धन इस बुरी तरह बरस पड़ा है कि अब कल का कोई सवाल नहीं। बुद्ध की यह बात कि 'आज, इसी क्षण जियो' सार्थक हो जायगी। गरीब दुनिया स्वर्ग बनाती है आगे। उस स्वर्ग में ही तृप्तियाँ हैं। यहाँ तो सुख मिलता नहीं, इसलिए गरीब सोचता है कि मरने के बाद—स्वर्ग में—सुख मिलेगा। समृद्ध दुनिया आगे स्वर्ग नहीं बनाती। वह आज ही बना लेती है, इसी वक्त बना लेती है। हिन्दुस्तान का स्वर्ग भविष्य में होता है, अमरिका का स्वर्ग अभी और यहीं। इसी कारण हमें ईर्ष्या होती है, हम गालियाँ देते हैं, निन्दा करते हैं। उसका स्वर्ग अभी बना जा रहा है, हमारा मरने के बाद बनेगा। पक्का भरोसा नहीं कि वह बनेगा कि नहीं बनेगा। बुद्ध ने जो संदेश दिया वह तात्कालिक जीने का है, इसी क्षण जीने का है। **महावीर का जो संदेश है, वह मन के संकल्प का है। संकल्प तनाव से चलता है और इसकी प्रक्रिया तनाव की प्रक्रिया है, परम तनाव की।** मजे की बात यह है कि सभी चीजें अगर अपनी पूर्णता तक ले जाई जायँ तो वे अपने से विपरीत में बदल जाती हैं। यही नियम है। **अगर आप तनाव** को उसकी अति पर ले जाएँ तो **विश्राम** शुरू हो जाता है। दृष्टांतरूप में आप अपनी मुट्ठी बाँधें और पूरी ताकत लगा दें उसे बाँधने में। जब आप के पास ताकत न बचेगी तो मुट्ठी खुल जायगी और आप मुट्ठी को खुलते देखेंगे। तब आप बाँध भी नहीं सकेंगे उसे, क्योंकि सारी ताकत तो आप लगा चुके हैं। हाँ, धीरे से मुट्ठी बाँधें तो वह खुल नहीं सकती अपने आप, क्योंकि ताकत आपके पास सदा शेष है जिससे आप उसे बाँध रखेंगे।

महावीर कहते हैं कि संकल्प पूर्ण कर दो। इससे इतना तनाव पैदा होगा कि तनाव की आखिरी सीमा आ जायगी और फिर तनाव समाप्त हो जायगा, शिथिल हो जायगा। ले जाते हैं वे भी विश्राम की ओर, लेकिन उनका मार्ग है पूर्ण तनाव से भरा हुआ—पूर्ण तनाव, ताकि हम तनाव से बाहर निकल आएँ। बुद्ध कहते हैं, जितना भी तनाव है उससे पीछे लौट आओ, तनाव छोड़ दो; तभी विज्ञान आता है।

हमारी सदी के लिए महावीर की भाषा दुर्बोध है। हम तनाव पसंद नहीं करते। तनाव वैसे ही बहुत ज्यादा है। इसलिए मैं कहता हूँ कि भविष्य की जो भाषा है वह बुद्ध के पास है। पश्चिम को महावीर की यह देशना मान्य न होगी कि संकल्प करो, तपश्चर्या करो।पश्चिमवासी कहेंगे, हम मरे जा रहे हैं वैसे ही, अब हम पर कृपा करो, विश्राम दो।

महावीर के पहले तेईस तीर्थंकरों के लम्बे काल में आदमी प्रकृति के परम विश्राम में जी रहा था। उसके जीवन में न कोई तनाव था, न कोई चिन्ता थी। उस स्थिति में संकल्प को बढ़ाकर तनाव को पूर्ण करने की बात ही अपील कर सकती थी। तो वह चल पड़ी। फिर एक संक्रमण[1] आया। उस संक्रमण में महावीर बहुत प्रभावी न हो सके। यहाँ तक कि जो लोग उनके पीछे गए वे भी उनको मान न सके। वह नाम-मात्र की यात्रा रही। नए लोग भी उस दिशा में जाने को राजी न हुए। रोज-रोज संगठन क्षीण होता गया। यह सही है कि आज भी श्वेताम्बर जैन मुनियों की संख्या काफी है, परन्तु ये जैन मुनि महावीर से बहुत दूर हैं। इन्होंने बहुत समझौते कर लिये हैं, परन्तु जिन्होंने समझौते नहीं किए, वे दिगम्बर जैनमुनि मुश्किल से बीस-बाईस बच रहे हैं। पूरे मुल्क में धीरे-धीरे इनकी संख्या और भी कम होती जा रही है। तीस-पैंतीस वर्षों में ये जैन मुनि भी मर जायँगे और तब देश में एक भी दिगम्बर जैन मुनि नहीं रह जायगा। जो दिगम्बर मुनि आज जीवित हैं उनमें से कोई भी शिक्षित नहीं है। चूँकि एक अर्थ में ये पुरानी सदी के लोग हैं, इसलिए राजी भी हैं। एक भी शिक्षित आदमी को, ठीक आधुनिक शिक्षा पाए हुए आदमी को, दिगम्बर जैन मुनि नहीं बनाया जा सका अब तक, बन नहीं सकता। उत्तर का एक भी जैन मुनि नहीं है दिगम्बरों के पास। जो हैं, वे अशिक्षित हैं, बिलकुल कम समझ के लोग हैं, ग्रामीण हैं। सब पचपन वर्ष से ऊपर उम्र के लोग हैं जो बीस-पच्चीस वर्षों में विदा हो जायँगे। श्वेताम्बर मुनि की संख्या बची है, बढ़ती है, क्योंकि वक्त के साथ वह भाषा को बदलता रहा है, समझौते करता रहा है, समझौते की तरकीबें निकालता रहा है। कल वह गाड़ी में बैठने लगेगा, परसों वह हवाई जहाज में उड़ेगा। वह सब समझौते कर लेगा। वह समझौते करके ही बच रहा है।

महावीर की साधना सार्थक हो, इसके लिए एक ही उपाय है कि उसे भविष्य की भाषा में पूरा का पूरा रख दिया जाय। महावीर के ऊपर बहुत पुराना 'कवर' है, अब उनपर नई जिल्द होनी चाहिए। महावीर की धारा का इतना अद्भुत अर्थ है कि वह खो जाय तो नुकसान होगा—सारी मानवजाति का अहित होगा। 'कवर' बदलने

---

१. गमन, भ्रमण। दे० म० मे० दृ०, पृ० ६२।

से जैनियों को नुकसान होगा, महावीर की धारा का अर्थ खो जाने से मानव-जाति का नुकसान होगा। इसलिए हमें जैनियों के नुकसान की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मनुष्य-जाति की समृद्धि में महावीर आगे भी सार्थक हों, यही मेरी कामना है।

मैंने कहा है कि महावीर की साधना पूर्ण संकल्प की साधना है। परन्तु जैन-परम्परा उसे दमन की साधना कहती है। दमन शब्द सार्थक नहीं, खतरनाक है। अब फ्रायड के बाद जिस साधनापद्धति ने दमन का प्रयोग किया, वह पद्धति उस शब्द के साथ ही दफना दी जायगी। महावीर की साधना दमन की साधना नहीं है। असल में दमन का अर्थ ही और था तब। फ्रॉयड ने पहली बार दमन को नया अर्थ दिया। उन दिनों 'कायाक्लेश' शब्द का हम उपयोग करते थे। वह अब भी सार्थक है। अगर महावीर के शरीर को देखो तो तुम्हें पता चल जायगा कि तुम्हारी कायाक्लेश की बात नितान्त नासमझी की बात है। हाँ, अपने मुनियों को देखो तो पता चलता है कि कायाक्लेश सच है। महावीर की काया को देखकर लगता है कि अपनी काया को सँवारनेवाला ऐसा आदमी अन्यत्र हुआ ही नहीं। ऐसी सुन्दर काया न तो बुद्ध के पास थी और न क्राइस्ट के पास। इतना सुन्दर होने की वजह से ही वे नग्न खड़े हो सके। असल में नग्नता को छिपाना कुरूपता को छिपाना है। हम सिर्फ उन्हीं अंगों को छिपाते हैं जो कुरूप हैं।

महावीर कायाक्लेश किसी और ही बात को कहते हैं। जो सुबह घंटे भर व्यायाम करता है, वह आदमी भी कायाक्लेश ही करता है। वह पसीने-पसीने हो जाता है, शरीर को थका डालता है। और एक वह भी कायाक्लेश करता है जो एक कोने में बिना खाए-पिए, नहाए-धोए पड़ा रहता है। लेकिन जहाँ पहला आदमी काया के स्वास्थ्य और सौंदर्य के लिए ही कायाक्लेश करता है, दूसरा आदमी काया का दुश्मन है और उसका कायाक्लेश शरीर को कुरूप बना देता है। महावीर कहते हैं कि काया का श्रम काया के लिए ही है। काया को सुन्दर-स्वस्थ रखने के लिए श्रम उठाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार 'उपवास' का अर्थ है, अपने पास रहना, आत्मा के पास रहना, जैसे 'उपनिषद्' का अर्थ है गुरु के पास बैठना। लेकिन अब उपवास का अर्थ अनशन—'न खाना'—हो गया है। न खाने पर जोर देना दमन पर जोर देना है। चार-चार महीने तक कोई आदमी बिना खाए नहीं रह सकता, लेकिन उपवास में रह सकता है। उपवास का मतलब है अपनी आत्मा में इतना लीन हो जाना कि शरीर का बोध ही न रहे। शरीर का पता हो तो भोजन की आवश्यकता होती है। लेकिन उपवास में दिन बीत जाते हैं, रातें बीत जाती हैं, परन्तु शरीर का बोध नहीं होता।

उपवास से अनशन बिलकुल उलटा है। दोनों में भोजन नहीं किया जाता, लेकिन जहाँ अनशन में आदमी शरीर के पास ही रहता है, उपवास में उसे शरीर की सुधबुध

नहीं रहती। अनशन करनेवाले लोग दिन भर, मन ही मन खाते रहते हैं, उनके मन में भोजन चलता रहता है। अगर महावीर ने चार-चार महीने के उपवास किए हैं तो यह इस बात का सबूत है कि उनके पास भारी बलिष्ठ शरीर था, साधारण नहीं। तभी तो ऐसे उपवास के बाद भी उनका शरीर बचा रहा। उपवास का मतलब है कि आत्मा और चेतना एकदम भीतर चली जाय और उपवास करनेवाले साधक को बाहर का खयाल ही न रहे। जब आप भीतर चले जाते हैं तो बाहर का स्मरण ही छूट जाता है। शरीर इतना अद्‌भुत यंत्र है कि जब आप भीतर रहते हैं, आपका शरीर सावधान हो जाता है, अपनी व्यवस्था आप ही पूरी कर लेता है। आपको कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं। शरीर की साधना का मतलब है कि जब आप भीतर चले जायँ तो आपके शरीर को आपकी कोई जरूरत न रहे, वह अपनी व्यवस्था आप कर ले। कायाक्लेश का अर्थ है काया की ऐसी साधना कि वह बाधा न रह जाय, प्रत्युत साधन हो जाय, सीढ़ी बन जाय। लेकिन 'कायाक्लेश' शब्द खतरनाक है, इसलिए ऐसी साधना को 'कायाक्लेश' मत कहो, इसे कायासाधना कहो। 'क्लेश' शब्द अनुपयुक्त है, उससे ऐसा भासित होता है कि तुम शरीर को सता रहे हो। उपवास को न खाना मत कहो, अनशन मत कहो—उपवास को कहो आत्मा के निकट होना। **अनशन करने से उपवास नहीं होता, उपवास करने से अनशन हो जाता है।** यह बात खयाल में आ जाय तो महावीर की धारा के खो जाने का कोई कारण नहीं रहेगा। यह भी ध्यान रहे कि महावीर-जैसा आदमी दुबारा नहीं होता। वैसे आदमी को पैदा होने के लिए जो पूरी हवा और वातावरण चाहिए, वह दुबारा असम्भव है। जोरोस्टर, कनफ्युशियस, मिलरेपा-जैसे लोग नहीं खोने चाहिए। अलग-अलग कोणों से पहुँच कर उन्होंने ऐसी चीज पाई है जो बचनी ही चाहिए। वे ही मनुष्य-जाति की असली सम्पत्ति हैं। लेकिन जो उनके रक्षक मालूम पड़ते हैं, वे ही उनको खोए दे रहे हैं।

२

महावीर के जन्म से लेकर उनकी साधना-काल के शुरू होने तक कोई स्पष्ट घटना का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। जीजस की जीवनी में भी पहले तीस वर्षों के जीवन का कोई तथ्यपूर्ण उल्लेख नहीं है। इसके पीछे बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण है। महावीर-जैसी आत्माएँ अपने पिछले जन्म में ही अपनी यात्रा पूरी कर चुकी होती हैं, उनके लिए घटनाओं का जगत् समाप्त हो चुका होता है। स्वयं की किसी वासना के कारण वे इस जन्म में नहीं आते। इस जन्म में आने की प्रेरणा में सिर्फ उनकी करुणा ही कारण होती है। जो उन्होंने जाना है, जो उन्होंने पाया है, उसे बाँटने के अतिरिक्त इस जन्म में उनका और कोई काम नहीं होता। ठीक से समझें तो तीर्थंकर

होने का अर्थ ही है ऐसी आत्मा होना जो अब सिर्फ मार्ग दिखाने को पैदा हुई हो। और जो अभी स्वयं ही मार्ग खोज रहा हो वह मार्ग नहीं दिखा सकता। मार्ग क्या है, इसका पता मार्ग पर चलने से नहीं, मंजिल पर पहुँच जाने से लगता है। चलते समय तो सभी मार्ग ठीक ही मालूम होते हैं। उस समय यह जाँचने की कसौटी भी नहीं होती कि जिस मार्ग पर चल रहे हैं, वह ठीक है या नहीं। मार्ग के ठीक होने की एक ही पहचान है कि वह मंजिल तक पहुँचा दे। लेकिन जो मंजिल पर पहुँच जाता है, उसका मार्ग समाप्त हो जाता है। ध्यान रहे कि मंजिल पर पहुँच जाना उतना कष्टसाध्य नहीं है जितना मंजिल पर पहुँचकर मार्ग पर लौट आना। मुक्ति के मंजिल पर पहुँचते ही मुक्तात्माएँ खो जाती हैं निराकार में। लेकिन थोड़ी-सी आत्माएँ फिर अँधेरे पंथों पर वापस लौट आती हैं। ऐसी ही आत्माएँ तीर्थंकर कहलाती हैं। किसी-किसी परम्परा में ये अवतार ईश्वरपुत्र या पैगम्बर के नाम से सम्बोधित होती हैं।

पैगम्बर, तीर्थंकर, अवतार का एक ही अर्थ है—ऐसी चेतना जिसका काम पूरा हो चुका और जिसके लिए लौटने का कोई कारण नहीं रह गया। फिर भी ऐसी चेतनाएँ परम विश्राम के क्षण में भी मंजिल पर न रुककर वापस लौट आती हैं। ऐसी ही आत्माएँ मार्गदर्शक होती हैं।

तीर्थ कहते हैं उस घाट को जहाँ से पार हुआ जा सके। अतः तीर्थंकर है उस घाट का मल्लाह जो पार करने में सहायता करे, रास्ता बताए।

इस जन्म में महावीर का और कोई प्रयोजन नहीं है अब। **इसलिए उनके बचपन का सारा जीवन घटनाओं से शून्य है।** आम तौर से जिन्हें हम विशिष्ट पुरुष कहते हैं, उनके बचपन में विशिष्ट घटनाएँ नहीं घटतीं। चारों ओर चुप्पी होती है। वे चुपचाप बड़े हो जाते हैं और उस क्षण की प्रतीक्षा करते होते हैं जब वे उसे देने में समर्थ हो सकेंगे जिसे देने के लिए उनका जन्म हुआ है। मेरी दृष्टि में महावीर को वर्धमान का नाम इसलिए मिला। वे वर्धमान इसीलिए नहीं कहलाए कि पैदा होने से उनके घर में सब चीजों की बढ़ती होने लगी, धन बढ़ने लगा, यश बढ़ने लगा। उनके नाम की अर्थवत्ता इसमें है कि वे चुपचाप बढ़ने लगे और उनके आसपास कोई घटना न घटी। उनका बढ़ना उतना ही चुपचाप था जितना पौधों का बड़ा होना या कलियों का फूल बनना होता है। पौधे बड़े होते हैं, कलियाँ खिलती हैं, पर इसके लिए कहीं कोई शोरगुल नहीं होता, आवाज नहीं होती। महावीर का चुपचाप बढ़ना दिखाई पड़ने लगा होगा, क्योंकि घटनाओं का न घटना बहुत बड़ी घटना है। ऐसा भी कोई व्यक्ति है जिसके जीवन में कोई घटना न घटी हो, जो इतना चुपचाप बढ़ने लगा हो कि चारों तरफ कोई वर्तुल पैदा न हुआ हो समय में, क्षेत्र में ? घटनाओं के न घटने से महावीर की विशिष्टता जाहिर हो गई होगी। शिक्षक उन्हें पढ़ाने आए होंगे और

उन्होंने इनकार कर दिया होगा। उन्हें पढ़ने की जरूरत नहीं। शिक्षक जो पढ़ा सकते हैं, वे उसे पहले से ही जानते हैं। इसलिए कोई शिक्षा न हुई। शिक्षा ग्रहण करने का कोई कारण भी न था, कोई अर्थ भी न था।

महावीर के जन्म के सम्बन्ध में एक अर्थपूर्ण गाथा है। कहा जाता है कि वे ब्राह्मणी के गर्भ में आए और देवताओं ने उन्हें एक क्षत्रिया के गर्भ में पहुँचा दिया। यद्यपि यह तथ्य नहीं कि देवताओं ने एक स्त्री का गर्भ निकाला और उसे दूसरी स्त्री में रख दिया, फिर भी बात बड़ी गहरी है। इससे पहली सूचना तो यह मिलती है कि महावीर का पथ पुरुष का, आक्रमण का, क्षत्रिय का पथ है। उनका जो व्यक्तित्व है, उनकी खोज का जो पथ है, वह क्षत्रिय का है। इस अर्थ में क्षत्रिय का है कि वह जीतनेवाले का है। इसी कारण महावीर जिन कहलाए। जिन का मतलब है जीतनेवाला, वह पुरुष जिसका और कोई पथ नहीं सिवा जीतने के। और इसीलिए उनकी पूरी परम्परा जैन हो गई।

गाथा कहती है कि महावीर ब्राह्मणी के गर्भ से निकाल कर एक क्षत्राणी के गर्भ में डाल दिए गए।[१] इस प्रकार वे ब्राह्मण होने से बचे। ब्राह्मण का मार्ग न तो परमात्मा से लड़ने का है और न समर्पण करने का। वह कहता है—परमात्मा से लड़ोगे? अशोमन है। समर्पण करोगे? किसके प्रति? उसका अभी कोई पता नहीं। हम दीन-हीन लोगों के पास समर्पण के लिए है क्या? और छीनेंगे कैसे? एक ही मार्ग है कि हम हाथ फैला दें विनम्रता से और उसकी भिक्षा स्वीकार करें।

अतः ब्राह्मण की वृत्ति भिक्षुक की है और उसका मार्ग भीख माँगने का। महावीर-जैसा व्यक्ति जीतेगा, माँग नहीं सकता। इसलिए यदि ऐसा व्यक्ति ब्राह्मणी के गर्भ में आ भी जाय तो देवताओं को उसे हटाकर किसी क्षत्रिया के गर्भ में रख देना पड़ेगा। महावीर का व्यक्तित्व ही जन्मना क्षत्रिय का है। वे किसी के सामने हाथ नहीं फैला सकते, परमात्मा के सामने भी नहीं : वे जीतेंगे, इसी में उनके जीवन की सार्थकता है। उन दिनों देश में जो सर्वाधिक प्रभावी परम्परा थी, वह ब्राह्मणों की थी, असहाय बनकर माँगने वालों की थी। इसमें संन्देह नहीं कि असहाय होना बड़ी अद्भुत क्रांति है। वह भी एक मार्ग है, लेकिन वह मार्ग बुरी तरह पिट गया था। जो अद्भुत घटना घट गई थी वह यह थी। यद्यपि मार्ग तो था असहाय होने का, तो भी उसकी परम्परा इतनी गाढ़ी और मजबूत हो गई थी कि असहाय ब्राह्मण ही सबसे ज्यादा अकड़कर सड़क पर चलते। ब्राह्मण होने की जो मौलिक धारणा थी,

---

१. देवनन्दा ब्राह्मणी को अवस्वामिनी विद्या से सुलाकर हरिणेगमैषी ने महावीर का गर्भहरण किया था। कल्पसूत्र २, २९, पृ० ४४-अ। दे० डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज (१९६५), पृ० ३४६ (पादटिप्पणी)।

वह खंडित हो चुकी थी। ब्राह्मण गुरु हो गया था, वह अपने को ज्ञानी समझने लगा था, वह सबके ऊपर बैठ गया था। इस परम्परा को तोड़ देना जरूरी था। इसे ही एक प्रतीक के रूप में कहा गया है कि ब्राह्मणी का गर्भ अब महावीर-जैसे व्यक्ति को पैदा करने में असमर्थ हो गया था। ब्राह्मण की दिशा से महावीर-जैसे व्यक्ति के होने की सम्भावना न थी। अतः उन दिनों जो संघर्ष हुआ, वह बहुत गहरे में ब्राह्मण और क्षत्रिय के मार्ग का संघर्ष था।

यह भी सोचने की बात है कि जैनों के चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रिय हैं। असल में वह मार्ग ही क्षत्रिय का मार्ग है। लोग पूछते हैं कि क्या क्षत्रिय के अलावा और कोई तीर्थंकर नहीं हो सकता? नहीं हो सकता। चाहे वह बेटा ब्राह्मणी के ही गर्भ से क्यों न पैदा हो, वह होगा क्षत्रिय ही। तभी वह उस मार्ग पर जा सकता है। वह मार्ग आक्रमण का है, विजय का है और वहाँ भाषा आक्रमण और विजय की है।

दूसरी बात जो लोग निरंतर पूछते हैं, यह है कि क्या गरीब का बेटा तीर्थंकर नहीं हो सकता? इस सम्बन्ध में ध्यान रहे कि तीर्थंकरों में सब के सब राजपुत्र थे—क्षत्रिय और राजकुल के थे। यह भी बहुत अर्थपूर्ण है कि जिसने अभी इस संसार को नहीं जीता, वह उस संसार को कैसे जीत सकता है? राजपुत्र इस अर्थ के सूचक हैं कि जीतनेवाला कुछ भी जीतेगा और जब वह इस (संसार) को जीत लेगा तब उसकी नजर उस संसार की तरफ उठेगी। जब वह इस लोक को जीत लेगा तब उस लोक को जीतेगा। जीत के मार्ग में पहले यही लोक पड़ता है। ब्राह्मण इस लोक में भी भिक्षा माँगेगा, उस लोक में भी। वह मानता ही यह है कि जो मिलना है वह प्रभु की कृपा से ही मिलेगा। उसके लिए आक्रमण का प्रश्न ही नहीं उठता। वह है माँगनेवाला, क्षत्रिय है जीतनेवाला। एक दान और दया में लेगा; दूसरा दुश्मन को समाप्त करके लेगा। इसलिए महावीर के जन्म की कथा बड़ी मीठी है। वह यह बताती है कि ब्राह्मण की जो कोख थी, वह बाँझ हो गई थी। उसमें महावीर-जैसा व्यक्ति पैदा नहीं हो सकता था। ब्राह्मण का मार्ग कुंठित हो गया था, उसकी परम्परा क्षीण हो गई थी। उसके विरोध में बगावत जरूरी थी। वह बगावत क्षत्रिय ही कर सकते थे, क्योंकि बगावत हमेशा ठीक विपरीत से ही आती है। इसी प्रकार महावीर और बुद्ध द्वारा छोड़ी गई परम्परा भी काल-क्रम से—डेढ़ हजार वर्षों में—सूख गई और जड़ हो गई। तब विपरीत ने फिर विद्रोह किया।

कहने की जरूरत नहीं कि गाथाओं ने जो प्रतीक चुने हैं वे बड़े अर्थपूर्ण हैं। इन प्रतीकों को जो जड़ता से, तथ्यों की भाँति, पकड़ लेता है वह बिलकुल भटक जाता है।

महावीर के सम्बन्ध में अनेक—अनेक गाथाएँ प्रचलित हैं। ये सब की सब प्रतीकात्मक हैं, सत्य हैं। और चूँकि ये सत्य हैं, इन्हें गाथाओं में—'मिथ' में—कहा गया है और इनकी भाषा प्रतीकों से भरी है। याद रहे कि सत्य को तथ्य की भाषा

में नहीं कहा जा सकता। यदि सत्य को तथ्य की भाँति रखें तो वह इतिहास बन जाता है। तथ्य के सभी द्वार सत्य में जाते हैं, लेकिन जो तथ्य को पकड़ लेता है, वह वहीं अटककर रह जाता है। तथ्य सत्य की सबसे बाहरी परिधि है, सबसे बाहरी परकोटा है। तथ्य सत्य नहीं है, सिर्फ सत्य की सम्भावना है। जीवन बहुत जटिल है, इसलिए हम एक ही तथ्य को बहुत तरह से देख सकते हैं।

दिगम्बर कहते हैं कि महावीर अविवाहित रहे। श्वेताम्बरों की धारणा है कि वे न केवल विवाहित थे बल्कि उन्हें एक बेटी भी थी। मेरा मानना है कि महावीर का विवाह जरूर हुआ होगा, लेकिन वे बिलकुल अविवाहित की भाँति रहे होंगे। जिन्होंने इस तथ्य को देखा उन्होंने कहा कि महावीर का विवाह हुआ था और जिन्होंने सत्य को—केवल सत्य को—देखा, उन्होंने घोषणा की कि वह आदमी अविवाहित था। **महावीर का अविवाहित होना एक सत्य है और विवाहित होना एक तथ्य।** कोई व्यक्ति विवाहित होकर भी अपने मन से, चित्त से, वासना से अविवाहित हो सकता है। विवाहित होने की वासना है कि मैं अकेला काफी नहीं, अपने में पर्याप्त नहीं। दूसरा भी चाहिए, जो आए और मुझे पूरा करे। पुरुष के बिना स्त्री खाली और अधूरी है। पुरुष आए और उसे भरे। दिगम्बरों ने ठीक ही कहा कि महावीर अविवाहित थे। महावीर में किसी से पूरे होने की कोई कामना ही न बची थी, कहीं कोई अधूरापन न था। इस साधारण तथ्य के लिए कि उनका विवाह हुआ था, उन्हें विवाहित कहना घोर अन्याय है। हो सकता है कि पत्नी ने पति पाया हो, लेकिन महावीर ने पत्नी नहीं पाई। यह भी हो सकता है कि पत्नी ने इनसे सन्तान भी पाई हो। लेकिन महावीर न तो पिता थे और न पति। विवाह करने और सन्तान पैदा करने की घटना अत्यन्त बाह्य तल पर घटी थी। भीतर महावीर पूरे थे। इसी पर बल देने के लिए दिगम्बरों ने कहा कि इस आदमी ने कभी शादी नहीं की। लेकिन तथ्य यह था कि महावीर ने शादी की थी। उन्होंने शादी के लिए इनकार नहीं किया होगा। शादी के लिए आतुर व्यक्ति ही स्त्री को महत्त्व नहीं देता, वह व्यक्ति भी देता है जो शादी के लिए इनकार करता है। इनकार करनेवाला भी मानता है कि स्त्री भी कुछ है जो पास होगी तो मैं कुछ और हो जाऊँगा। महावीर इतने भरे-पूरे थे कि ना करने तक का उपाय न था। ठीक है, स्त्री आती है तो आए, नहीं आती तो न आए। ये दोनों बातें अर्थहीन हैं। उनके जीवन की अन्य घटनाओं से भी लगता है कि यही बात सच रही होगी।

एक दिन महावीर ने अपने पिता से संन्यासी होने की आज्ञा चाही। पिता ने कहा—मेरे रहते नहीं। और महावीर चुप हो गए। बड़े अद्भुत आदमी थे वे। भला, संन्यास की भी आज्ञा माँगनी पड़ती है? सुना है किसी मुमूर्षु को आत्महत्या के लिए आज्ञा माँगते? संन्यास की भावना का मतलब ही है कि संन्यास चाहनेवाला

व्यक्ति मोह-बन्धन से मुक्त होना चाहता है। फिर उसके लिए किसी की आज्ञा की क्या जरूरत ? जब पिताने आज्ञा न दी तो महावीर चुप हो गए और फिर उन्होंने इस सम्बन्ध में बात तक न की। ऐसा लगा मानों संन्यास लेने या न लेने से उन्हें कोई बुनियादी फर्क न पड़ा। इसलिए उन्होंने जोर नहीं दिया--आज्ञा मिलती तो ठीक, न मिली तो ठीक ! पिता की मृत्यु के बाद मरघट से लौटते वक्त उन्होंने अपने बड़े भाई से संन्यास लेने की आज्ञा माँगी। बड़े भाई ने कहा—तुम पागल हो गए हो ! एक तो पिता जी के मरने का दुख और उस पर तुम्हारा संन्यास लेने का निश्चय ! वह भी यहाँ, रास्ते पर ! मुझसे ऐसी बात कभी मत करना। महावीर ने फिर कभी संन्यास की बात न की। लेकिन कुछ ही दिनों में घर के लोगों को ऐसा एहसास होने लगा कि महावीर घर में हैं और नहीं भी--उनका वहाँ होना न होने के बराबर है। महावीर इस प्रकार रहते मानों वे उस बड़े भवन में अकेले हों, कुछ पूछने पर 'हाँ' और 'ना' में भी उत्तर नहीं देते, किसी पक्ष या विपक्ष में नहीं पड़ते। तब घर के लोगों ने उनसे प्रार्थना की कि अब आपकी मर्जी हो तो आप संन्यास ले लें, क्योंकि हमें तो ऐसा लगता है कि आप संन्यास ले ही चुके। हम क्यों इस पाप के भागीदार हों कि आपको रोक रखें ?

और महावीर निकल पड़े।

मेरी दृष्टि में यह सत्य है कि महावीर विवाहित थे। परन्तु, उनके जैसा व्यक्ति पति कैसे हो सकता है ? पति होना एक तरह का दुर्व्यवहार है, एक प्रभुत्व है, स्वामित्व है। जो व्यक्ति जड़ वस्तु पर भी प्रभुत्व रखना नहीं चाहता, वह भला किसी जीवित व्यक्ति पर प्रभुत्व रखना चाहेगा ? ऐसी कल्पना ही असम्भव है।

हो सकता है, उन्हें लड़की भी जन्मी हो। परन्तु महावीर पिता न बन पाए। पिता की आकांक्षा अपनी सन्तान में जीने की होती है, वह मरकर भी अपने पुत्रों और अपनी कन्याओं में जीना चाहता है। बेटे में बाप की महत्त्वाकांक्षाएँ जीती हैं, उसका अहंकार पोषित होता है। महावीर-जैसे व्यक्ति में मृत्यु के बाद भी जीवित रहने की आकांक्षा का सवाल ही पैदा नहीं होता। न अहंकार है और न होने की तृष्णा। वे लौटे हैं वहाँ से जहाँ सब कुछ खो जाता है, जहाँ सारी कामनाएँ राख हो जाती है।

महावीर के सम्बन्ध में ऐसी और भी बातें कही जाती हैं। जैसे एक वर्ग मानता है कि उन्होंने वस्त्र पहन रखे थे, चाहे वह देवताओं का दिया हुआ वस्त्र हो या आँखों से न दिखाई पड़नेवाला वस्त्र। दूसरे वर्ग की मान्यता है कि वे बिलकुल नग्न थे—किसी प्रकार का वस्त्र उनके शरीर पर न था। ये दोनों बातें एक साथ सच हैं। यह बिलकुल सच है कि महावीर ने वस्त्र छोड़ दिए थे। लेकिन उनकी नग्नता ऐसी न थी कि उसे ढाँकने के लिए वस्त्रों की जरूरत पड़े। कोई वस्त्र पहनकर भी नंगा हो सकता है, अपनी नग्नता प्रकट कर सकता है। सच तो यह

है कि नंगा शरीर उतना नंगा नहीं होता जितना वस्त्र उसे नंगा कर देते हैं। पशुओं को देखकर उनकी नग्नता का खयाल नहीं आता, लेकिन पुरुषों और स्त्रियों के वस्त्र से उनके नंगेपन का खयाल तत्काल आ जाता है। और इनसान ने ऐसे वस्त्र विकसित कर लिये हैं कि वे उसके शरीर को उघाड़ते हैं, ढाँकते नहीं। जो वस्त्र ढाँकता है, उसे पसन्द ही कौन करेगा ? जिस व्यक्ति के वस्त्रों को देखकर उन्हें और उघाड़ने की इच्छा जगे, वह व्यक्ति वस्त्र पहने हुए भी नंगा है। इसके ठीक विपरीत महावीर की नग्नता है। जब कोई वस्त्रों में नंगा हो सकता है तो कोई अपनी नग्नता में वस्त्र पहने हुए क्यों नहीं हो सकता ? महावीर बिलकुल नग्न थे, लेकिन उनकी नग्नता भी वस्त्र बन गई थी, वह किसी को भी नग्नता-जैसी नहीं लगती थी। इसलिए एक कहानी बन गई थी कि महावीर के वस्त्र दिखाई नहीं पड़ते—उनके वस्त्र देवताओं से मिले थे, उन्हें देवदूतों ने दिया था। ऐसी धारणा का पैदा हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। पर महावीर निपट नग्न थे। असल में निपट नग्न आदमी ही नग्नता से मुक्त हो सकता है। बुद्ध या क्राइस्ट जैसे लोग जिन्होंने वस्त्र पहन रखे थे, नग्न होने की उतनी ही हैसियत रखते थे जितनी महावीर। इनके भीतर भी कुछ छिपाने को न था। लेकिन हो सकता है, दूसरों को उनकी नग्नता अरुचिकर लगे। दूसरों पर आक्रमण क्यों करें ? इसलिए उन्होंने दूसरों की आँखों पर वस्त्र डाल दिए, अपने शरीर पर नहीं। और परायी आँखों पर वस्त्र डालने का सबसे सरल उपाय यही था कि उन्होंने अपने ही शरीर पर वस्त्र डाल लिए। जब जमीन पर काँटे चुभते हैं तो सारी पृथ्वी को चमड़े से न ढँककर अपने पैरों को ही चमड़े से ढँक लेना उचित होता है। सारी पृथ्वी को चमड़े से ढँकने की सलाह निरर्थक है। अपने पैरों को चमड़े से ढँक लें तो सारी पृथ्वी पर हम जहाँ भी जायँगे वहीं चमड़ा होगा। इसी तरह दूसरे की आँखों पर वस्त्र डालने की सबसे अच्छी तरकीब यही है कि अपने शरीर पर वस्त्र डाल लिये जायँ। सबकी आँखों पर वस्त्र डालना असम्भव है, क्योंकि पृथ्वी बहुत बड़ी है और इस पर रहनेवाले मनुष्यों की संख्या बेशुमार है।

मैं कहता हूँ—तथ्यों पर जोर सिर्फ नासमझ लोग देते हैं। समझदार का जोर सदा सत्य पर होता है। वे लोग जो कहते हैं कि महावीर कभी बूढ़े नहीं हुए और न कोई दूसरा तीर्थंकर कभी बूढ़ा हुआ, समझदार हैं और उनका बल सत्य पर है, तथ्य पर नहीं। तथ्य यही होगा कि महावीर बूढ़े अवश्य हुए होंगे। जब मरना पड़ता है तो बूढ़ा होना ही पड़ेगा। लेकिन सत्य कहता है कि महावीर कभी बूढ़े नहीं हुए। तथ्य की दृष्टि से यह असम्भव है, इतिहास इसे स्वीकार नहीं करेगा, लेकिन मैं कहता हूँ कि गाथाशास्त्र[1] (मिथॉलजि) की पकड़ इतिहास की

---

१. मिथकशास्त्र, पुराण—सं०

पकड़ की अपेक्षा अधिक गहरी है। लेकिन सत्य की अभिव्यक्ति के लिए उसे तथ्य छोड़ देने पड़ते हैं और कहानी गढ़नी पड़ती है। मेरी दृष्टि में तथ्यों का भी मूल्य है अगर वे सत्य को बता पाएँ, अन्यथा उनका कोई मूल्य नहीं। सत्य की यात्रा में वे मील के पत्थर हैं, जो गंतव्य की ओर लक्ष्यकरते हैं। लेकिन कुछ नासमझ लोग मील के पत्थरों को ही पकड़कर रुक जाते हैं, उन्हें ही अपना लक्ष्य समझ लेते हैं।

हो सकता है कि मेरी बातें आपको कुछ विचित्र लगें। यह कैसे हो सकता है कि कोई मैथुन की प्रक्रिया से गुजरे, उससे बेटी पैदा हो और वह स्वयं वासना और तृष्णा से मुक्त रहे ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि यदि भोजन द्रष्टा के रूप में किया जा सकता है तो मैथुन क्यों नहीं ? हम किसी भी क्रिया के साक्षी हो सकते हैं, चाहे वह क्रिया अन्तर्गामी हो या बहिर्गामी। असल में जो भोजन शरीर में जाता है, वही मैथुन में शरीर से बाहर निकलता है। अगर चेतना साक्षी हो सके तो बात समाप्त हो जाती है, कर्ता मिट जाता है। केवल शरीर एक उपकरण बन जाता है। लेकिन साधारणतः मैथुन में आदमी बिलकुल खो जाता है, बेहोश हो जाता है। तब केवल शरीर ही उपकरण नहीं बनता, भीतर आत्मा भी सो गई होती है, मूच्छित हो गई होती है। और मैथुन का विरोध केवल इसीलिए है कि आत्मा की सर्वाधिक मूर्च्छा मैथुन में ही होती है। अगर आत्मा अमूच्छित रह जाय तो बात खत्म हो गई। सुनना भी एक क्रिया है। अगर तुम साक्षी हो जाओ तो पाओगे कि सुनने के साथ-साथ तुम दूर खड़े होकर सुनने को देख भी रहे हो। इसी तरह यद्यपि मैं बोल रहा हूँ, फिर भी पूरे वक्त यह जानता हूँ कि मेरे भीतर अबोला भी कोई खड़ा है। असल में जो अबोला खड़ा है, वही मैं हूँ। स्वास चल रही है और अगर मैं इसे देख रहा हूँ तो स्वास का चलना या न चलना जगत् की विराट् व्यवस्था का हिस्सा हो गया और मैं क्रिया से भिन्न हो गया। हाँ, मैथुन में साक्षी होना सर्वाधिक कठिन है: इसका कारण है कि यह एक ऐसी क्रिया है जिसे प्रकृति ने मनुष्य के ऊपर नहीं छोड़ी। यदि मनुष्य के ऊपर छोड़ दी गई होती तो वह ऐसी ऐब्सर्ड, ऐसी व्यर्थ और बेमानी क्रिया कभी न करता। इसीलिए प्रकृति ने इसके लिए बहुत गहरा सम्मोहन डाला है उसके भीतर। इसी सम्मोहन के प्रभाव में सारा खेल चलता है। इसीलिए वह अपने को बिलकुल विवश पाता है। लेकिन यह सम्मोहन तोड़ा जा सकता है और इसको तोड़ने की विधियाँ हैं। सबसे बड़ी विधि साक्षी होना है। कृष्ण और महावीर-जैसी आत्माएँ मैथुन की प्रक्रिया में भी निरपेक्ष द्रष्टा-मात्र रहती हैं, कर्ता नहीं बनतीं। गोपियों से घिरा रहना कृष्ण के लिए एक लीला है, खेल है, जिससे उनका कोई मतलब नहीं। संसार में जीने के दो ही रास्ते हैं: चाहे तो सोकर जियो या जागकर जियो। सोकर जीनेवाले भोजन भी सोकर करते हैं, कपड़े भी नींद में पहनते हैं, प्रेम और सम्भोग

से भी सोए हुए गुजरते हैं । कृष्ण और महावीर का मार्ग इसके विपरीत है । वह दूसरा मार्ग है जिस पर चलनेवाले लोग प्रत्येक क्रिया जागकर करते हैं ।

यह स्वाभाविक है कि महावीर-जैसा व्यक्ति हमारी समझ में मुश्किल से आए । वे स्त्री से न तो भागते हैं और न उसमें उत्सुक हैं; न उन्मुख हैं और न विमुख । न तो राग में हैं और न विराग में । इसलिए उन्हें वीतराग कहा गया है । राग और विराग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । हो सकता है कि हम राग की दुश्मनी में विरागी हो जायँ या विराग की दुश्मनी में रागी बन जायँ । लेकिन वीतराग वह है जिसमें न राग है और न विराग, जो सहज खड़ा रह गया है—न भागता है और न आता है, न बुलाता है और न भयभीत है । महावीर के पीछे चलनेवाला साधक राग से विराग को पकड़ता है । वह अपने राग को बदलता है विराग में । विरागी सिर्फ उलटा रागी है—शीर्षासन करता हुआ रागी । रागी बँधने को आतुर है, विरागी बँधने से भयभीत है । लेकिन बंधन दोनों के केन्द्र में है । दोनों की नजरों में बंधन है । वीतरागी को पहचानना बहुत मुश्किल है, क्योंकि जाने-पहचाने बटखरे से उसकी तोल नहीं हो सकती और वह रागी-विरागी के चिर-परिचित वर्गों के बाहर पड़ जाता है । द्वन्द्व को हम पहचान सकते हैं, निर्द्वन्द्व को नहीं; द्वैत को पहचान सकते हैं, अद्वैत को नहीं । महावीर के सताए जाने का जो लम्बा उपक्रम है, उसमें भी उनकी वीतरागता ही कारण है । विरागी को इस मुल्क ने कभी नहीं सताया—रागी विरागी को कभी सता भी नहीं सकते, उलटे वे सदा विरागी को पूजते हैं । लेकिन वीतरागी को दोनों सताते हैं, क्योंकि वे उस बेशर्त आदमी को समझ नहीं पाते । महावीर का जमाना महावीर को बिलकुल पहचान न सका । वे अपने युग के सभी मापदंडों से अलग खड़े थे, इसलिए उन्हें तोलना, उन पर लेविल लगाना मुश्किल था ।

महावीर अछूते थे, बेशर्त थे, इसलिए उन्हें पहचाना न जा सका । पूछने पर भी कि वे कौन हैं, वे निरन्तर मौन रहते । गाय का चरवाहा अपनी गाय और बैल उनके पास छोड़ जाता और कहता—देखना इन्हें, मैं अभी लौट कर आता हूँ, मेरी गाय खो गई है । महावीर नहीं कहते कि मैं नहीं देखूँगा । वे यह भी नहीं कहते कि मैं देखूँगा । वे निश्चल रहते, मानों कुछ सुना ही नहीं । चरवाहा लौटकर देखता कि न तो उसकी गौएँ हैं, न बैलों का कहीं पता है । वह महावीर से पूछता, लेकिन वे वैसे ही खड़े रहते । वह मारपीट करता और महावीर उसे सह लेते । थोड़ी देर बाद गौएँ लौट आतीं, बैल वापस आ जाते । चरवाहा दुखी होता और महावीर से क्षमा माँगता । तब भी वे वैसे ही खड़े रहते । ऐसे व्यक्ति को कौन समझ पाता ?

पीछे, जिन्होंने शास्त्र रचे, उन्होंने कहा—महावीर बड़े क्षमाशील थे । कोई मारता था उन्हें तो वे उसे क्षमा कर देते थे । लेकिन शास्त्र रचनेवाले उन्हें समझ न पाए । क्षमा वही करता है जो क्रोध करता है । क्षमा क्रोध के बाद का हिस्सा है ।

जब महावीर में क्रोध ही नहीं तो क्षमा कौन करेगा, किसको करेगा ? वे राग-विराग के बाहर थे, चुनाव के बाहर थे, अच्छे-बुरे के बाहर थे । यही वीतरागता उनकी परम उपलब्धि है । यह जीवन का अन्तिम बिन्दु है; इसके ठीक बाद मुक्ति की यात्रा शुरू हो जाती है । वीतराग हुए बिना कोई मुक्त नहीं हो सकता । न तो रागी मुक्त होता है और न विरागी । रागी के मन में विरागी के प्रति आदर का भाव होता है, वह विरागी की पूजा करता है, वह भी विरागी होना चाहता है । विरागी के मन में रागी के प्रति ईर्ष्या होती है; वह सामने तो आत्मा-परमात्मा की बातें करता है किन्तु एकान्त में निपट सेक्स की । दूसरी बात उसके चित्त में होती ही नहीं । हो सकता है कि मधुशाला में या वेश्या के घर बैठा हुआ आदमी संन्यासी हो जाय और कहे कि सब बेकार है ।

परस्पर विपरीत ध्रुव एक-दूसरे को आकृष्ट करते ही हैं । इसी कारण रागी वैराग्य लेता है और विरागी रागी हो जाता है । पूरब विज्ञान की ओर और पश्चिम अध्यात्म की ओर आकृष्ट हो जाता है । जो इस जन्म में रागी है, हो सकता है वह अगले जन्म में विरागी हो जाय और जो इस जन्म में विरागी है, वह अगले जन्म में रागी हो जाय । आमतौर से लोग सोचते हैं कि इस जन्म में जो संन्यासी है, उसने पिछले जन्म में संन्यासी होने का अर्जन किया होगा । बात ऐसी नहीं है । इस जन्म में जो विरागी है, वह पिछले जन्म में राग के चक्कर में घूमता रहा है ।

जाति-स्मरण का प्रयोग महावीर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है । यह एक ऐसी ध्यान-पद्धति है जिससे व्यक्ति अपने पिछले जन्मों में उतरकर देख सकता है कि वह क्या था । पिछले जन्मों को जानते ही आदमी बदल जाता है । वह पाता है कि यह सब तो मैं बहुत बार कर चुका; इससे उलटा भी कर चुका, मगर मुझे कुछ भी न मिला । न तो मैंने राग से कुछ पाया और न विराग से । न तो राजमहलों में और न दीन-हीनों की झोपड़ियों में, न तो पूरब के अध्यात्म में और न पश्चिम के विज्ञान में । जन्मों का ऐसा स्मरण हो जाय कि हम दोनों ओर घूम चुके हैं—राग की वैसी ही गहरी अनुभूति की है जैसी विराग की—तो तीसरा उपाय दीख पड़ सकता है । यह तीसरा उपाय महावीर की वीतरागता का उपाय है । अगर भोग नहीं, योग नहीं तो तीसरा रास्ता क्या है ? तीसरा रास्ता सिर्फ यह है कि हम दोनों के प्रति जाग जायँ । महावीर कहते हैं कि दोनों 'अतियों' में बहुत घूम चुके । क्या कभी हम जागेंगे और उस जगह खड़े हो सकेंगे जहाँ कोई 'अति' नहीं है, कोई विरोध या द्वन्द्व नहीं है ? वे कहते हैं कि सभी द्वन्द्व दूसरे से बाँधते हैं, इसलिए द्वन्द्व के प्रति जागने से वीतरागता उपलब्ध होती है । न काम और न ब्रह्मचर्य—तभी सच्चा ब्रह्मचर्य उपलब्ध होता है । न हिंसा और न अहिंसा—तभी सच्ची अहिंसा फलित होती है । महावीर की अहिंसा को समझना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि वह हिंसा

के विपरीत कोई अहिंसा नहीं है। हिंसा के विपरीत जो अहिंसा है, वह आज नहीं तो कल हिंसक हो ही जायगी। जहाँ न हिंसा रह गई और न अहिंसा, वहीं महावीर की अहिंसा है।

वीतरागता सारे मुल्क के लिए, इसके करोड़ों लोगों के लिए कठिन तो है, पर असम्भव नहीं। इसके कठिन होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि यह कठिन मान ली गई है। हमारी धारणा ही चीजों को कठिन या सरल बनाती है। एक-एक आदमी ने जिस-जिस तरह के मानसिक बोझ को पकड़ रखा है, उसकी वजह से वीतरागता कठिन हो गई है। जो स्वभाव है वह अन्ततः कठिन नहीं हो सकता--विभाव ही कठिन हो सकता है। वह आनन्दपूर्ण है और उसकी एक झलक पाते ही हम कितने ही पहाड़ लाँघने को तैयार हो सकते हैं। झलक जब तक नहीं मिलती, तब तक कटिनाई है। और झलक राग और विराग मिलने नहीं देती। राग और विराग के द्वन्द्व की खिड़की जरा-सी टूट जाय तो वीतरागता का आनन्द बहने लगता है। स्मरण रहे कि राग-विराग में डोलता हुआ आदमी बहुत खतरनाक होता है। इसलिए नियम बनाने पड़ते हैं। परन्तु नियम बनानेवाले भी राग-विराग में डोलते हुए आदमी होते हैं। वे उन लोगों से भी अधिक खतरनाक हैं जो केवल राग-विराग में डोलते होते हैं। वीतरागता थोड़ी भी उपलब्ध हुई कि नियम अनावश्यक हो जाते हैं। चित्त जितना वीतराग होगा, विवेक उतना ही पूर्ण होगा। वीतरागता पूर्ण हुई तो विवेक ही पूर्ण हुआ। वीतरागता के लिए किसी संयम की जरूरत नहीं, क्योंकि विवेक स्वयं ही संयम है। अविवेक के लिए संयम की जरूरत होती है। इसलिए सब संयमी अविवेकी होते हैं। जितनी बुद्धिहीनता होती है, उतना ही संयम बाँधना पड़ता है। अब तक हमारा समाज बुद्धि की कमी को संयम से पूरा करने की कोशिश करता रहा है, इसलिए हजारों साल हो गए, कोई फर्क नहीं पड़ा। अगर लोग विवेकपूर्ण हो जायँ तो समाज वैसा नहीं होगा जैसा हम इसे समझते रहे हैं। पहली दफा ठीक अर्थों में समाज होगा। अभी क्या है? समाज है, व्यक्ति नहीं। व्यवस्था छाती पर बैठी है और व्यक्ति नीचे दबा है। वीतराग चित्त से भरे हुए विवेकपूर्ण लोगों के समाज में व्यक्ति केन्द्र होगा, समाज गौण होगा और उससे केवल हमारे अन्तर्व्यवहार की व्यवस्था होगी। विवेकशील व्यक्ति का अन्तर्व्यहार किसी बाहरी संयम और नियम से नहीं चलेगा, एक आन्तरिक अनुशासन से चलेगा। इसलिए मेरा कहना है कि समाज़ की व्यवस्था में व्यक्ति पर संयम थोपने की चेष्टा कम होनी चाहिए, विवेक देने की व्यवस्था ज्यादा होनी चाहिए। विवेक से संयम आता है, किन्तु संयम से विवेक नहीं आता। संयम और नियम की व्यवस्था को सिर्फ आवश्यक बुराई समझना होगा।

लोग प्रश्न करते हैं कि यदि तीर्थंकर पहले जन्म में ही कृतकृत्य हो चके होते हैं

और संसार में केवल करुणावश आते हैं तो वे केवल एक ही बार क्यों आते हैं ? करुणावश आनेवाले तीर्थंकर क्या अपनी इच्छा से आते हैं ?

मेरी दृष्टि में यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। जिसके जीवन का कार्य पूरा हो चुका होता है वह ज्यादा से ज्यादा एक ही बार वापस लौट सकता है। जिस प्रकार पिछले वेग से साइकिल थोड़ी दूर बिना पैडल चलाए आगे जा सकती है, उसी प्रकार अनेक जीवन की वासनाओं के वेग से कुछ आत्माएँ एक बार और लौट सकती हैं, इससे ज्यादा नहीं। पैडल नहीं चलाने पर भी साइकिल थोड़ी दूर चलती जाती है, लेकिन बहुत दूर नहीं। पिछले जीवन से प्राप्त गति और शक्ति के अभाव में कोई करुणावश लौटना भी चाहे तो नहीं लौट सकता। तीर्थंकरों के साथ भी यही बात है। उनकी लौटने की इच्छा तभी सार्थक होती है जब उनमें थोड़ी शक्ति शेष रह जाती है। तीर्थंकर अपनी इच्छा से लौट सकते हैं और यदि न लौटना चाहें तो कोई उन्हें लौटा नहीं सकता। लेकिन वे तभी लौट सकते हैं जब उनमें शक्ति शेष हो या वे किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर का उपयोग करें।

कहा जाता है कि मक्खलि (मंखलि) गोशाल नामक एक व्यक्ति महावीर का शिष्य था और वह बहुत वर्षों तक महावीर के साथ रहा। फिर उसने महावीर का साथ छोड़ दिया और महावीर के विरोध में एक नई विचार-धारा चलायी। वह स्वतंत्र विचारक के रूप में प्रसिद्ध हो चला और उसने साफ घोषणा की कि मैं मक्खलि गोशाल के शरीर में नई आत्मा हूँ; महावीर का शिष्य मक्खलि गोशाल मर चुका है।[1] महावीर के अनुयायी यह मानने को तैयार न थे, लेकिन यह बात बिलकुल सच है। मक्खलि गोशाल नामक व्यक्ति जो महावीर का शिष्य था, अति साधारण व्यक्ति था। किन्हीं कारणों से असमय में उसकी मृत्यु हुई और उसकी देह का उपयोग दूसरी स्वतंत्र चेतना ने किया। यह चेतना तीर्थंकर की ही हैसियत की थी; लेकिन, चूँकि वह अपना शरीर उपलब्ध करने में असमर्थ थी, इसलिए उसने मक्खलि गोशाल के शरीर का उपयोग किया।

पिछले जीवन के वेग से लौटी हुई आत्माओं के दूसरे जन्म का जीवन अति क्षीण हो सकता है। शंकराचार्य-जैसे व्यक्ति तीस-पैंतीस साल से अधिक नहीं जी पाए। इसका कारण है पिछले जीवन से प्राप्त वेग का अत्यल्प होना। कुछ आत्माएँ शरीर धारण न कर भी संदेश भेजती रही हैं और उन्होंने अपनी करुणा का उपयोग किया है।

---

१. 'हे कश्यप ! तू मुझे अपना शिष्य कहता है, परन्तु तेरा शिष्य मखलिपुत्र गोशाल कभी का मर चुका है तो कौडिन्यायन गोत्रीय उदायी हूँ।' द्रष्टव्य—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १४।

इस सम्बन्ध में मूर्तियों के महत्त्व को समझ लेना जरूरी है। मूर्तियों का सबसे पहला प्रयोग पूजा के लिए नहीं, अशरीरी आत्माओं से सम्पर्क स्थापित करने के लिए किया गया था। यदि महावीर की मूर्ति पर कोई बहुत देर तक अपना चित्त एकाग्र करे और फिर आँख बंद कर ले तो उस मूर्ति का 'निगेटिव' उसकी आँख में रह जायगा। ऐसा प्रयोग सर्व प्रथम उन लोगों ने किया जो अशरीरी आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। यह 'निगेटिव' महावीर की अशरीरी आत्मा से सम्बन्धित होने का मार्ग बन जायगा। ऐसा अनन्त काल तक हो सकता है। अशरीरी आत्माएँ भी करुणावश सम्बन्ध खोजने की कोशिश करती हैं। धीरे-धीरे उनकी करुणा भी क्षीण हो जाती है। याद रहे कि करुणा उनकी अन्तिम वासना है। जब उनकी सभी वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं, तब करुणा ही सिर्फ रह जाती है। लेकिन अन्त में करुणा भी क्षीण हो जाती है। इसलिए पुराने शिक्षक धीरे-धीरे खो जाते हैं। उनकी करुणा के क्षीण होते ही उनसे सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो जाता है। महावीर से सम्बन्ध स्थापित करना आज भी सम्भव है, लेकिन उनके पहले के तेईस तीर्थंकरों में से किसी से भी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि महावीर इतने कीमती हो गए और शेष तीर्थंकर गैर ऐतिहासिक दीखने लगे। जिन परम्पराओं के शिक्षकों से आज भी सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, वे परम्पराएँ फल-फूल रही हैं।

अब प्रश्न उठता है कि एक ही समय में दो तीर्थंकर क्यों नहीं होते? एक ही परम्परा में, एक ही समय दो तीर्थंकर नहीं होते। इसका कारण यह है कि यदि किसी परम्परा का एक तीर्थंकर काम कर रहा है तो दूसरा तत्काल विलीन हो जाता है। उसकी कोई जरूरत नहीं होती। (जैसे एक ही कक्षा में, एक ही समय दो शिक्षकों की कोई जरूरत नहीं होती।) करुणा पीछे भी काम कर सकती है और पीछे भी सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं। चीन के हाथ में तिब्बत के चले जाने से जो बड़ा नुकसान हुआ, उसे भौतिक अर्थों में नहीं नापा जा सकता। प्रतिवर्ष बुद्धपूर्णिमा के दिन तिब्बत के पाँच सौ विशिष्ट भिक्षु और लामा मानसरोवर के निकट एक विशेष पर्वत पर बुद्ध से निकट सम्पर्क स्थापित करते थे। यह हजारों वर्षों की एक अत्यन्त गुप्त व्यवस्था थी। इस व्यवस्था को घात पहुँच गया। ऐसा नहीं कि ठीक पाँच सौ भिक्षुओं के समक्ष बुद्ध अपने पूरे रूप में प्रकट होते रहे थे, यद्यपि यह भी सम्भव है। सूक्ष्म शरीर कभी भी रूपाकार ले सकता है और अगर बहुत लोग आकांक्षा करें, एकाग्रचित्त होकर प्रार्थना करें तो करुणा शेष रहने पर वह ऐसा कर भी लेता है। सूक्ष्म शरीर अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं का बना हुआ होता है। विज्ञान के अणु भौतिक अणु हैं, लेकिन जिन्होंने सूक्ष्म आन्तरिक जीवन में खोज की है उन्होंने उन अणुओं की खबर दी है जिन्हें 'मनोअणु' कहना चाहिए। लोगों की आकांक्षा और एकाग्रचित्त प्रार्थना से मुक्तात्माएँ करुणावश 'मनोदेह' में प्रकट हो सकती हैं।

अन्त में इस करुणा के महत्त्व पर गौर करें। मुक्ति के पहले सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। वस्तुतः मुक्ति होती ही उस चेतना की है जिसकी सारी वासनाएँ समाप्त हो गई हैं। लेकिन, अगर सारी वासनाएँ समाप्त हो जाएँ तो अमुक्त स्थिति और मुक्त स्थिति के बीच सेतु क्या होगा? वह आत्मा, जिसकी समस्त वासनाएँ समाप्त हो गई हैं, अपने को पहचानने में असमर्थ होगी, क्योंकि उसने अपने को वासना में ही जाना था। इसलिए जब सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं तब सिर्फ सेतु की तरह एक वासना शेष रह जाती है। उसी वासना को मैं करुणा कह रहा हूँ। तीर्थंकर होना करुणा की वासना से होता है

———

द्वितीय अध्याय

महावीर का 'त्याग' : पिछले जन्मों की साधना

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।[1]

आचारांगसूत्र, ३. ४. १२३

१

कहा जा चुका है तीर्थंकर की चेतना का व्यक्ति पूर्णता को छूकर लौट आता है। इसका अर्थ यह हुआ कि महावीर के लिए इस जीवन में करने को कुछ भी बाकी न रहा, सिर्फ देने को बाकी रहा। इस कथन की कई गहरी निष्पत्तियों में पहली निष्पत्ति यह होगी कि महावीर के सम्बन्ध में यह कहना कि उन्होंने त्याग किया, बिलकुल व्यर्थ ह। महावीर ने कभी भी, भूलकर भी, कोई त्याग नहीं किया। त्याग दिखाई पड़ता है, लेकिन यह सत्य नहीं है। भोग से भरे हुए लोगों को किसी भी चीज का छूटना त्याग मालूम पड़ता है। भोगी चित्त कुछ भी छोड़ने में समर्थ नहीं है। वह सिर्फ पकड़ सकता है, छोड़ नहीं सकता। जब वह देखता है कि कोई व्यक्ति सहज ही छोड़ रहा है तो इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण और चमत्कार पूर्ण घटना उसे मालूम नहीं होती। लेकिन महावीर में न पकड़ने का भाव है और न त्यागने का भाव। जो पकड़ते ही नहीं, उनके छोड़ने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता।

महावीर को जिन लोगों ने देखा है और उनके त्याग की चर्चा की है, वे भोगी थे—इतना सुनिश्चित है। भोगी के मन में त्याग का बड़ा मूल्य है। जो हमारे पास नहीं होता उसका ही हमें सर्वाधिक बोध होता है और स्मरण रहे कि भोगी चित्त त्याग को भी भोग का ही उपकरण बनाता है। भोगी चित्त धन को ही नहीं पकड़ता, त्याग को भी पकड़ लेता है। वह पकड़ता इसलिए है कि चीजों के बिना उसे असुरक्षा मालूम पड़ती है। असुरक्षा का भाव जितना गहरा होता है, उसकी पकड़ भी उतनी ही मजबूत होती है। लेकिन जिस चेतना को यह पता हो गया कि उसके तलपर कोई असुरक्षा नहीं, वहाँ न कोई भय है और न कोई पीड़ा, न दुख या मृत्यु, वह कुछ भी नहीं पकड़ता। पकड़ता था असुरक्षा की भावना के कारण, भय के कारण। असुरक्षा न रही तो पकड़ भी न रही। जो अपने भीतर प्रविष्ट हुआ है वह तो

---

१. प्रमादी को सर्वत्र भय है ; अप्रमत्त कहीं भयभीत नहीं होता।

प्रतिक्षण, प्रतिपल इतने आनन्द से भर गया है कि उसे कल की चिन्ता नहीं होती, आज काफी है। ऐसा व्यक्ति पकड़ता ही नहीं। वस्तुतः जिसको पकड़ने की आदत है उसकी पकड़ कभी नहीं जाती—वह छोड़ने को भी पकड़ लेता है। उसने कभी धन पकड़ा था, अब वह त्याग पकड़ लेगा; उसने कभी मित्र पकड़े थे, अब वह परमात्मा को पकड़ेगा; कल खाते-बही पकड़े थे, आज वह शास्त्र पकड़ेगा। शास्त्र भी खाते-बही हैं और धर्म भी सिक्का है जो कहीं और चलता है। पुण्य भी मोहरें हैं जो कहीं और काम देती हैं।

पकड़नेवाले चित्त से छुटकारा तभी मिलता है जब यह दिखाई पड़ जाय कि मैं किसी का, किसी भी वस्तु का, स्वामी नहीं हूँ। यदि मैं कहूँ कि मैं अब इस मकान का स्वामी न रहा, मैंने इसका त्याग किया, तो प्रश्न उठेगा—मैं ही त्याग कर रहा हूँ न? और क्या त्याग मैं उसका कर सकता हूँ जो मेरा ही नहीं? स्पष्ट है कि त्याग करनेवाला यह मानकर चलता है कि मकान **मेरा** है। चित्त को जब यह बोध हो जाय कि यहाँ अपना कुछ नहीं तब उसमें रूपांतरण हो जाता है और तब कुछ त्यागना और छोड़ना नहीं पड़ता। जो मेरा नहीं है, उसका त्याग क्या? अगृही से उस व्यक्ति का बोध नहीं होता जिसने घर छोड़ दिया है। वह तो वह ज्ञानी है जिसने पाया कि मेरा कोई घर नहीं। संन्यासी उसे नहीं कहते जिसने अपनी पत्नी का त्याग किया। संन्यासी वह है जिसने पाया कि मेरी कोई पत्नी नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि महावीर ने कुछ त्याग नहीं किया; जो उनका नहीं था, वह दिखाई पड़ गया। इसलिए यह कहना निरर्थक है कि वे सब छोड़कर चले गए। वे जानकर चले गए कि कुछ भी उनका नहीं है।

एक बार बादशाह इब्राहीम के राजमहल के दरवाजे पर एक संन्यासी शोरगुल मचाने लगा। उसने पहरेदार से कहा; मुझे भीतर जाने दो, मैं इस सराय में ठहरना चाहता हूँ। पहरेदार को हँसी आ गई और उसने संन्यासी को पागल समझा। परन्तु संन्यासी न रुका। वह राजमहल के अन्दर पहुँचा ही था कि इब्राहीम ने, जो उसकी बातें सुन रहा था, कहा : तुम कैसे आदमी हो जो सराय और राजमहल में अन्तर नहीं देखते! यह सराय नहीं, मेरा महल है। संन्यासी ने जवाब दिया : मैंने समझा था कि आपका पहरेदार नासमझ है; आप भी वैसे ही हैं। पहरेदार क्षमा के योग्य है, आखिर वह पहरेदार ही है। आपको भी यही खयाल है कि यह आपका निवास-स्थान है? सम्राट् ने कहा : खयाल? नहीं यह मेरा घर है, यही असलियत है। संन्यासी ने कहा : बड़ी मुश्किल में पड़ गया मैं! दस साल पहले भी किसी ने कहा था, यह महल मेरा ही है। इब्राहीम ने कहा : वे मेरे पिता थे, उनका देहावसान हो गया। तब उस फकीर ने कहा : मैं उनके पहले भी आया था, तब एक और बूढ़े ने इस महल को अपना बतलाया था। वह भी इसी जिद में था कि यह महल

मेरा है। जब इस प्रकार इस महल के मालिक बदल जाते हैं तो इसे सराय कहना ही उचित होगा। मैं फिर आऊँगा कभी। पक्का है तुम मिलोगे? इब्राहीम ने उस फकीर के पैर छुए और कहा : तुम ठहरो, मैं जाता हूँ। मुझे यह दिखाई पड़ गया कि यह महल नहीं, सराय है। सराय का कोई त्याग करता है? नहीं, सराय में ठहरता है और विदा हो जाता है।

अपने जन्म के साथ ही महावीर ऐसे बोध को लेकर पैदा हुए थे। ऐसे बोध के लिए सम्पत्ति के त्याग की जरूरत नहीं, जरूरी है सम्पत्ति के सत्य का अनुभव। प्रश्न संग्रह और त्याग का नहीं, प्रश्न सत्य के अनुभव का है। 'यह मेरा महल नहीं, सराय है'––ऐसा बोध त्याग बनता है, ऐसा त्याग किया नहीं जाता। इसलिए ऐसे त्याग के पीछे कर्ता का भाव नहीं होता और जिस कर्म के पीछे कर्ता का भाव इकट्ठा नहीं होता उस कर्म से कोई बन्धन पैदा नहीं होता। यानी कर्म कभी नहीं बाँधता। जिस कर्म से कर्ता का भाव पैदा होता है, वही कर्म बन्धन का कारण हो जाता है।

यदि कोई महावीर से उनके त्यागी होने की बात कहता तो वे हँसते और कहते–कैसा त्याग? किसका त्याग? जो मेरा नहीं था, वह नहीं था। यह मैंने जान लिया। त्याग कैसे करूँ? त्याग दोहरी भूल है––भोग की दोहरी भूल।

मैं कहता हूँ––महावीर-जैसे॰ यक्ति को त्यागी समझने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। सिर्फ अज्ञानी त्यागी हो सकते हैं, ज्ञानी नहीं। असली बात तो यह है कि ज्ञान ही त्याग है। ज्ञानी को त्यागी होना नहीं पड़ता, इसके लिए उसे प्रयास करने की जरूरत नहीं। अज्ञानी को त्याग करना पड़ता है, श्रम उठाना पड़ता है, संकल्प बाँधना पड़ता है। जिस चीज के हम द्रष्टा हो जाते हैं वह चीज सपना हो जाती है और जिस चीज के कर्ता हो जाते हैं, वह हमारे लिए सत्य हो जाती है, चाहे वह सपना ही क्यों न हो। चाहे जीवन सत्य ही क्यों न हो, जब हम द्रष्टा हो जाते हैं तो वह सपना हो जाता है।

महावीर त्यागी नहीं, द्रष्टा हैं। सम्पत्ति के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सपने की भी कोई सम्पदा होती है? सपने में कोई त्याग होता है? भोग भी सपना है, त्याग भी सपना है, क्योंकि दोनों हालत में कर्ता मौजूद है। इसलिए ज्ञानी न त्यागी है, न भोगी; वह सिर्फ द्रष्टा है। ऐसा नहीं कि उसके जीवन में केवल त्याग बच रहता है और भोग विदा हो जाता है। भोग और त्याग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं—यही दीख जाता है। यही ज्ञान वीतरागता है। अगर मैं कर्ता नहीं हूँ, केवल द्रष्टा हूँ, तो वीतरागता फलित हो जायगी। अगर जीवन का एक कोना भी सपना हो जाय तो वह सपना पूरे जीवन पर फैल जायगा। यहाँ जिंदगी के जो अनुभव हैं वे सब के सब समग्र हैं, खंड-खंड नहीं हैं। अगर बेटा असत्य है तो बाप

भी असत्य हो गया। महावीर को त्यागी समझनेवाले लोग मूलतः भोगी हैं जो सिर्फ त्याग की भाषा समझ सकते हैं। इसलिए हैरानी होगी कि त्यागियों के पास भोगी इकट्ठे हो जाते हैं, क्योंकि भोगी ही त्याग को पकड़ पाते हैं। यह अद्भुत बात है कि महावीर-जैसे अपरिग्रही के पीछे, अगृही के पीछे जो वर्ग इकट्ठा हुआ है वह अत्यन्त भोगी और परिग्रही है। महावीर के पीछे जिन जैनों की परम्परा खड़ी है उन जैनों से ज्यादा धनी और परिग्रही लोग इस मुल्क में दूसरे नहीं। इसका मतलब केवल इतना ही है कि त्याग की भाषा भोगी को बहुत पकड़ती है और भोगी उसके आसपास इकट्ठा हो जाता है जो उसे त्यागी दीखता है। अक्सर अनुयायी गुरु से उलटे होते हैं. क्योंकि उलटी चीजें लोगों को आकर्षित करती ही हैं, पास बुला लेती हैं। घृणा से भरे हुए लोगों को प्रेम की भाषा पकड़ लेती है। भोगी त्याग से अपने को पूरा कर लेता है। वह खुद तो त्याग कर नहीं सकता, इसलिए त्यागी को पकड़ लेता है। मन के रहस्यों में सबसे कीमती रहस्य यह है कि जो हमारे चेतन मन में होता है उसका ठीक उलटा अचेतन मन में होता है। अगर चेतन मन में कोई विनम्र है तो अचेतन मन में वह बहुत अहंकारी होगा। अचेतन उलटा ही होता है। इसलिए अगर साधु-सन्तों को शराब पिलाई जाय तो उनके भीतर से हत्यारे, व्यभिचारी निकलेंगे और अगर व्यभिचारियों को शराब पिलायी जाय तो उनके भीतर से साधु-सन्तों की झलक मिलेगी।

यदि चेतन-अचेतन का यह द्वन्द्व हमारे खयाल में हो तो हम भूलकर भी महावीर को त्यागी नहीं कहेंगे। महावीर-जैसा व्यक्तित्व अविभाज्य होता है। उसके भीतर दो खंड नहीं होते। वह जो भी करेगा, उसमें पूरा मौजूद होगा। और ठीक अर्थों में त्याग उसी व्यक्ति से फलित हो सकता है जिसका व्यक्तित्व अखंड हो गया हो, जिसमें दूसरे व्यक्तित्व के उदय होने की कभी कोई सम्भावना न रह गई हो। अखंड व्यक्ति में द्वन्द्व विलीन हो जाता है—न वहाँ त्याग है और न भोग, न क्षमा और न क्रोध। ध्यान रहे कि जो आदमी क्रोधी नहीं है वह क्षमा कैसे करेगा? क्षमा के पहले क्रोध अनिवार्य है। और जो व्यक्ति भोगी नहीं, वह त्यागी कैसे हो सकता है? चूंकि हमारी कल्पना में यह बात नहीं आती, इसलिए हम एक खंड को हटाकर दूसरे खंड को बचा लेना चाहते हैं। असल में वह हमारी आकांक्षा का सबूत है, महावीर के सत्य का नहीं। जो नहीं है, उसी की चाह होती है। चाह ठीक विपरीत की होती है। हममें घृणा है, हम चाहते हैं प्रेम को; हिंसा है, चाहते हैं अहिंसा को; क्रोध है, चाहते हैं क्षमा हो; परिग्रह है, चाहते हैं अपरिग्रह हो। जिन्हें हम अपना आदर्श समझ लेते हैं, उन्हीं पर थोप देते हैं उन गुणों को जिनकी चाह होती है।

साधारण लोगों की जिन्दगी में द्वन्द्व की लड़ाई का कभी अन्त नहीं होता। वे क्रोध से लड़ते हैं, घृणा और हिंसा से लड़ते हैं और जिससे लड़ते हैं, उस पर सवार

होने की कोशिश करते हैं। भोगी त्यागी होने की कोशिश करता है, रोज-रोज पटकें खाता है, चढ़ता है, गिरता है और परेशान होता है। वह भूल जाता है कि जिससे हमारा संघर्ष होता है, उसको हम स्वीकृति दे बैठते हैं। दुश्मन की छाती पर कोई कब तक बैठा रह सकता है ? कभी तो उसकी छाती छोड़नी ही पड़ती है। और दुश्मन कोई ऐसा-वैसा दुश्मन नहीं, अपना ही हिस्सा है। आप ही दबानेवाले, आप ही दबनेवाले। जिसे आप दबाते हैं, वह तो विश्राम कर लेता है और जो दबाता है, वह थक जाता है। इसलिए जो चीज दबती है वही कुछ दिनों में दबाने लगती है। इसलिए याद रहे—लड़ेंगे तो हारेंगे, दबाएँगे तो गिरेंगे। कोशिश होनी चाहिए द्वन्द्व से बाहर होने की, अखंड बनने की, द्रष्टा बनने की। अखंड व्यक्ति ही देने में समर्थ होता है, तीर्थंकर-जैसी स्थिति में हो सकता है। मेरा कहना है कि महावीर के सम्बन्ध में जो आज दिखाई पड़ रहा है वह हमारी भ्रान्तियों का गट्ठर है और इस कारण गट्ठर बना है कि हम कभी चीजों के पास जाकर नहीं देखते—सदा दूर से देखते हैं। हम चीजों को पास से देख भी नहीं सकते, क्योंकि पास से देखना हो तो उनसे खुद ही गुजरना पड़ेगा। इस कारण महावीर के सम्बन्ध में जो भी लिखा गया है, वह बाहर से खींचा गया चित्र है। और बाहर से यही दिखाई पड़ता है कि महल था, इन्होंने महल छोड़ दिया; धन था, उन्होंने धन छोड़ दिया; पत्नी थी, उन्होंने पत्नी छोड़ दी; प्रियजन थे, निकट के रिश्तेदार थे, उन्होंने सब छोड़ दिए।

एक जैन मुनि थे। बीस वर्ष पहले उन्होंने घर-गृहस्थी त्याग दी थी। एक दिन उन्हें एक तार मिला जिसमें लिखा था कि उनकी पत्नी का देहान्त हो गया है। मुनि ने तार पढ़कर कहा—चलो, झंझट छूटी ! जाहिर है कि पत्नी की झंझट अभी भी बाकी थी। मुनि के चित्त के किसी न किसी तल पर वह वर्तमान थी। पत्नी को छोड़ने से झंझट का अन्त नहीं हुआ था। हो सकता है, मुनि ने यह भी चाहा हो कि पत्नी मर जाय, क्योंकि उसका यह कहना कि 'चलो, झंझट छूटी' उसकी भीतरी आकांक्षा का सबूत भी हो सकता है। ऐसे संन्यासी अग्रही नहीं होते। उनका चित्त उतना ही खंडित होता है जितना किसी अज्ञानी गृहस्थ का। इसलिए ऐसे मुनि को समझना आसान है, क्योंकि हमारा चित्त भी ऐसा ही खंडित है। हम भी द्वन्द्व में जीते हैं।

एक दूसरी घटना सुनाता हूँ। एक शिष्य अपने गुरु की मृत्यु पर रो रहा था। लोग चौंके, क्योंकि वे उसे ज्ञानी समझते रहे थे। उनमें कुछ ने उस शिष्य से कहा : यह आप क्या कर रहे हैं ? आपकी प्रतिष्ठा पर पानी फिर जायगा ! आप—और रोते हैं ? ज्ञानी और रोए ! शिष्य ने आँखें ऊपर उठाईं और कहा : मैं ऐसे ज्ञानी से छुटकारा चाहता हूँ जो रो भी न सके। मैंने ज्ञान की खोज आजादी के लिए की है। यदि ज्ञान एक नया बंधन है तो मुझे नहीं चाहिए यह ज्ञान। तुमसे कहा किसने

कि मैं ज्ञानी हूँ ? उन्होंने पूछा : लेकिन, आप ही तो कहा करते थे कि आत्मा अमर है। यदि आत्मा अमर है तो रोना किसलिए ? शिष्य ने कहा : आत्मा के लिए कौन पागल रो रहा है ? वह शरीर भी बहुत प्यारा था। अद्वितीय था वह। तुम मेरी चिन्ता मत करो, क्योंकि मैंने अपनी चिन्ता छोड़ दी है। हँसी आती है तो हँसता हूँ; रोना आता है तो रोता हूँ। क्योंकि अब रोकनेवाला ही नहीं है कोई। कौन रोके ? किसको रोके ? क्या बुरा है ? क्या भला है ? क्या पकड़ना है? क्या छोड़ना है ? सब जा चुका। जो होता है, होता है—वैसे ही जैसे हवा चलती है, वृक्ष हिलते हैं, वर्षा आती है, बादल घिरते हैं, सूरज निकलता है, फूल खिलते हैं। न तो तुम फूलों से जाकर कहते हो कि क्यों खिले तुम और न बदलियों से पूछते हो कि क्यों आई तुम।

ऐसा अखंड व्यक्ति ही सत्य को उपलब्ध होता है और ऐसे अखंड व्यक्ति से ही सत्य की अभिव्यक्ति हो सकती है। लेकिन अखंड हो जाना ही सत्य की अभिव्यक्ति के लिए काफी नहीं है। अभिव्यक्ति के लिए कुछ और करना पड़ता है। अगर वह और न किया जाय तो अनुभूति होगी, मगर व्यक्ति खो जायगा। तीर्थंकर वैसा ही अनुभवी है। वह जो कुछ करता है, अभिव्यक्ति के लिए करता है। इसलिए महावीर की जो बारह वर्ष की साधना है वह मेरी दृष्टि में सत्य-उपलब्धि के लिए नहीं है। सत्य तो उपलब्ध था ही। सिर्फ उसकी अभिव्यक्ति के सारे माध्यम खोजे जा रहे हैं उन बारह वर्षों में। और, ध्यान रहे, सत्य को प्रकट करना सत्य को जानने से भी कठिन है। जीवन के जितने तल हैं, जितने रूप हैं, महावीर ने उन सब रूपों तक सत्य की खबर पहुँचाने की अद्भुत तपश्चर्या की। उनका संदेश मनुष्यों तक ही सीमित न रहे--मनुष्य तो जीवन की एक छोटी सो घटना है, जीवन-यात्रा की केवल एक सीढ़ी है—बल्कि पत्थर से लेकर देवताओं तक पहुँच सके, इसकी सारी व्यवस्था उन्होंने की। मेरी मान्यता है कि महावीर की साधना अभिव्यक्ति के उपकरण की खोज की साधना है जो कठिन है, बहुत ही कठिन है।

२

प्रश्न उठता है कि यदि महावीर ने अभिव्यक्ति के माध्यमों की खोज इस जन्म में की तो फिर उनके पिछले जन्मों की साधना क्या थी जिससे उनके बंधन कटे और उन्हें सत्य की उपलब्धि हो सकी ? इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि तप या संयम से बंधनों की समाप्ति नहीं होती, बंधन नहीं कटते। तप और संयम कुरूप बंधनों की जगह सुन्दर बंधनों का निर्माण भर कर सकते हैं। लोहे की जंजीरों की जगह सोने की जंजीरें आ सकती हैं, किन्तु जंजीर नहीं कट सकती। इसका कारण यह है कि संयम और तप करनेवाला व्यक्ति वही है जो अतप और असंयम कर रहा था।

सवाल तप और संयम का नहीं है। सवाल है चेतना के रूपान्तरण का, चेतना के बदल जाने का। और चेतना के दो ही रूप हैं : मूर्च्छित और अमूर्छित, जैसे कर्म के दो रूप हैं : संयम और असंयम। अगर कर्म में बदलाहट की गई तो असंयम की जगह संयम आ सकता है, मगर चेतना इससे अमूर्च्छित दशा में नहीं पहुँच पायगी। मूर्च्छित व्यक्ति सोया हुआ होता है, प्रमाद में होता है।

अब प्रश्न है कि मूर्च्छित व्यक्ति प्रमाद से अप्रमाद में कैसे पहुँचे ? महावीर की पिछले जन्मों की साधना अप्रमाद की साधना है। हमारे भीतर जो जीवन-चेतना है वह परिपूर्ण रूप से कैसे जाग्रत हो ? इस विषय में महावीर कहते हैं : **"हम विवेक से उठें, विवेक से बैठें; विवेक से चलें, विवेक से भोजन करें, विवेक से सोएँ।"** अर्थात्, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, प्रत्येक स्थिति में चेतना जाग्रत रहे, मूर्च्छित नहीं। जीवन यंत्र की भाँति न कटे, हमारे कार्य यंत्रवत् न हों। हम चलें तो चलने की क्रिया के प्रति सचेत रहें, भोजन करें तो भोजन करने की क्रिया का हमें खयाल रहे। नींद में ही हम बहुत सारे कार्य करते देखे जाते हैं। वह व्यक्ति जो रास्ते में हाथ हिला-हिलाकर बातें करता रहता है यद्यपि उसके साथ कोई नहीं होता, निद्रा में ही चलता रहता है। ऐसे लोग भी नींद में होते हैं जिनके होंठ हिलते रहते हैं और बातें होती रहती हैं यद्यपि वे अकेले होते हैं। ऐसे लोग जाग्रत होकर भी किसी सूक्ष्म निद्रा में ही जीवन बिताया करते हैं। महावीर ने ऐसी निद्रा को प्रमाद कहा है। जागे हुए लोगों के भीतर एक धीमी-सी तन्द्रा का जाल फैला होता है। किसी से धक्का खाते ही वे क्रोध से भर जाते हैं। वे जान-बुझकर क्रोध नहीं करते, फिर भी क्रोध हो जाता है—वैसे ही जैसे कोई बिजली का बटन दबाए तो पंखा चल पड़ता है। हम नहीं कहते कि पंखा चल रहा है, पंखा सिर्फ चलाया गया है। हम यह भी नहीं कह सकते कि उन्होंने क्रोध किया है। हम इतना ही कह सकते हैं कि किसी ने बटन दबाया और उनका क्रोध चल पड़ा। आप भी यह नहीं कह सकते कि मैं क्रोध कर रहा हूँ, क्योंकि जो आदमी यह कह सकता है कि मैं क्रोध कर रहा हूँ उस आदमी के लिए क्रोध करना कभी सम्भव ही नहीं।

हम सब नींद में ही जागते और जीते हैं, नींद में ही उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं। हमारी इसी अवस्था को महावीर ने प्रमाद की संज्ञा दी है। यही है मूर्च्छा की अवस्था। इस मूर्च्छा से जागरण कैसे हो ? महावीर की पूरी साधना ही इतनी है कि सोना नहीं है, जागना है। जागने की प्रक्रिया क्या होगी ? जागने की प्रक्रिया होगी जागने का ही प्रयास। तैरना सीखने की एक ही तरकीब है कि तैरो। तैरना शुरू करना ही होगा, हाथ-पाँव चलाने ही होंगे, डूबने-उतरने के लिए तैयार होना ही पड़ेगा। यदि तुम पानी में उतरने को राजी न हुए तो तैरना कैसे सिखाया जा सकता है ! जल में उतरकर तैरने का अभ्यास करना ही होगा।

उसी शुरूआत से तैरना धीरे-धीरे व्यवस्थित हो जायगा और तुम तैर सकोगे। लोग पूछते हैं—जागने की तरकीब क्या है ? प्रमाद से अप्रमाद में जाया कैसे जायगा ? जागने की कोई तरकीब नहीं है। जागना ही पड़ेगा। पहले हाथ-पाँव तड़फड़ाने ही पड़ेंगे, गलत-सही होगा, डूबना-उतरना होगा। क्षण भर को जागेंगे फिर सो जायँगे। लेकिन जागना ही पड़ेगा। जागने की निरन्तर धारणा से धीरे-धीरे जागना फलित हो जाता है। जागने की तरकीब का मतलब इतना ही है कि हम जो भी करें उसमें हमारा प्रयास हो, संकल्प हो कि हम उसे जागे हुए करेंगे।

याद रहे कि अकारण नहीं है गहरी नींद में कुछ करने का हमारा अभ्यास। सोए हुए जीना बड़ा सुविधापूर्ण है और, साथ ही, सोए हुए लोगों के साथ सोए हुए रहने में ही सुविधा दीखती है। यदि लोग चारों ओर सो रहे हों तो जागनेवाले अकेले व्यक्ति की कठिनाइयों का अनुमान नहीं किया जा सकता। पागलखाने में किसी आदमी के ठीक हो जाने पर उसे जो तकलीफ होती है वही सोए हुए जगत् में अकेले जागने की तकलीफ है। महावीर-जैसे लोग जिस कष्ट में पड़ जाते हैं उस कष्ट का हम हिसाब नहीं लगा सकते। सोए हुए लोगों के बीच जो व्यक्ति जागता है, वह सोए हुए लोगों का व्यवहार नहीं कर सकता—उसकी भाषा बदल जाती है, उसकी चेतना बदल जाती है और वह बिलकुल अजनबी हो जाता है।

इसलिए साधक का पहला लक्षण है—अनजान, अपरिचित, अनहोनी के लिए हिम्मत जुटाना। हम चाहते हैं शान्ति और सत्य, लेकिन अपने को बदलने के लिए तैयार हो नहीं पाते। हम नहीं चाहते कि हमने जो व्यवस्था कर रखी है, जो सम्बन्ध बना रखे हैं, उनमें कोई हेर-फेर करना पड़े। लेकिन हमें पता ही नहीं कि जब अंधे आदमी को आँख की ज्योति मिलेगी तो उसके सब सम्बन्ध बदल जायँगे। सोए हुए आदमी ने एक तरह की दुनिया बसाई है; जागा हुआ आदमी इस दुनिया को बिलकुल अस्त-व्यस्त कर देगा। मैं कहता हूँ कि अगर हम थोड़ा भी साहस जुटा पाएँ तो जागना कठिन नहीं है, क्योंकि जो सो सकता है वह जाग सकता है, चाहे वह कितनी ही गहरी नींद में क्यों न सोया हो। ध्यान रहे कि यह साधारण तल पर जागने की बात नहीं है। साधारण तल पर जागने और सोने में बुनियादी फर्क नहीं है, क्योंकि जिसे हम जागना कहते हैं, वह थोड़ी कम डिग्री में सोना ही है और जिसे हम सोना कहते हैं, वह थोड़ी कम डिग्री में जागना है। लेकिन परम जागरण के तल पर डिग्री का भेद नहीं होता, मौलिक रूपान्तरण का भेद होता है। इसलिए सोया हुआ आदमी जाग सकता है, लेकिन जागा हुआ आदमी सो नहीं सकता। और जागरण की एकमात्र विधि है कि हम जागने की कोशिश करें। जो कुछ भी करें, उसमें जागे हुए होने की कोशिश करें, उसमें पूर्णतया उपस्थित हों, उसे हमारा सारा व्यक्तित्व करे। **अगर ठीक से समझें तो ध्यान की अनुपस्थिति ही निद्रा है और उपस्थिति जागरण।**

प्रत्येक क्रिया में ध्यान उपस्थित हो जाय तो जागरण शुरू हो गया। महावीर जिसे विवेक कहते हैं, उसका यही अर्थ है। क्रिया में ध्यान की उपस्थिति का नाम विवेक है और क्रिया में ध्यान की अनुपस्थिति का नाम प्रमाद।

एक बार प्रसन्नचन्द्र नामक एक व्यक्ति ने महावीर से दीक्षा ली। दीक्षा के बाद वह तपश्चर्या में लीन हो गया। कुछ दिनों के बाद उसने सुना कि जिन लोगों पर उस ने विश्वास किया था, जिनकी देख-रेख में अपने बच्चे और अपनी सम्पत्ति छोड़ी थी, वे विश्वासघात करने पर तुले हैं और उसकी सम्पत्ति हड़पने की साज़िश कर रहे हैं। यह सुनते ही उसका हाथ तलवार पर चला गया। लेकिन उसके पास अब तलवार न थी। उसका ऐसा करना इस बात का प्रमाण है कि वह क्षण भर के लिए बेहोश हो गया था। क्रोध ने उसे बेसुध कर दिया था। जब उसे महसूस हुआ कि उसके पास कोई तलवार नहीं तब वह उसी क्षण जाग उठा, उसके सपने खण्ड-खण्ड हो गए और उसने कहा "मैं यह क्या कर रहा हूँ? मैं वह प्रसन्नचन्द्र नहीं हूँ जो कभी तलवार उठाने का आदी था।"

महावीर ने एक भक्त सम्राट् से कहा था : "जिस समय प्रसन्नचन्द्र का हाथ तलवार पर गया था उस समय यदि उसकी देह छूट जाती तो वह सातवें नरक में गिरता। लेकिन जिस क्षण उसकी निद्रा टूटी और उसे असलियत का ज्ञान हुआ, वह उसी क्षण श्रेष्ठतम स्वर्ग का हकदार हो गया"। कहने की जरूरत नहीं कि सोया हुआ आदमी नरक में होता है और जो जागता है, बह स्वर्ग का हकदार होता है। अतः जागने की चेष्टा हमें सतत करनी पड़ेगी। इसमें कई जन्म भी लग सकते हैं और जागरण एक क्षण में भी हो सकता है। यह तो प्यास और संकल्प की तीव्रता पर निर्भर होगा।

महावीर ने अपने पिछले जन्मों में कुछ साधा था तो वह था विवेक, उन्होंने साधा था जागरण। और यह जागरण जितना गहरा होता चला जाता है, हम उतने ही मुक्त होते चले जाते हैं, पुण्य में जीने लगते हैं, शान्त और आनन्दित हो जाते हैं। जिस दिन पूर्ण जागरण की घटना घट जाती है, उसी दिन विस्फोट हो जाता है; चेतना के कण-कण जाग्रत हो उठते हैं, कोने-कोने से निद्रा विलीन हो जाती है। ऐसी पूर्णतया जागी हुई चेतना ही मुक्त चेतना है। मूर्च्छा बाँधती है, मूर्च्छित पाप भी बाँधता है, मूर्च्छित पुण्य भी बाँधता है। मूर्च्छित असंयम भी बाँधता है, मूर्च्छित संयम भी बाँधता है। इसलिए समझ लो कि अगर कोई असंयम को संयम बनाने में लग गया हो तो इससे कुछ भी न होगा, क्योंकि उसके भीतर की चेतना ज्यों की त्यों--मूर्च्छित ही--होगी, यद्यपि उसकी क्रिया बदल जाती है। इसलिए मैं कहता हूँ--पाप वह है जो सजग व्यक्ति नहीं कर सकता और पुण्य वह है जो जागे हुए व्यक्ति को करना ही पड़ता है। सोया हुआ आदमी पुण्य कैसे कर सकता है? जागे हुए व्यक्ति से पाप

कैसे हो सकता है ? हो सकता है, उसके कुछ काम सोए हुए लोगों को पाप लगे, मगर वे पाप नहीं होते। इसलिए मेरा जोर निरन्तर इस बात पर होता है कि हम अपने कर्मों को बदलने के विचार में न पड़ें, वरन् अपनी चेतना को बदलने का प्रयास करें क्योंकि चेतना से कर्म आता है--चेतना बदल जाती है तो कर्म भी बदल जाते हैं।

महावीर की पूरी साधना विवेक की साधना है, संयम की साधना नहीं, क्योंकि विवेक से संयम छाया की तरह आता है। हम यह बुनियादी भूल न करें कि महावीर ने संयम की साधना की है।

३

कुछ लोगों का खयाल है कि करुणा भी वासना का ही एक 'सूक्ष्म रूप' है और चूँकि वासना में सदा द्वन्द्व रहता है, इसलिए करुणा का भी कोई विरोधी तत्त्व होगा जो मुक्तात्माओं में शेष रह जाता है। इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि करुणा वासना का अन्तिम रूप है, वासना और निर्वासना के बीच का सेतु है, वासना का सूक्ष्मरूप नहीं। वासना में तो सदा द्वन्द्व रहता ही है, इसलिए वासना में दुख है, निराशा है। सभी वासनाएँ एक सीमा पर अपने से विपरीत में बदल जाती हैं। बज हम प्रेम की बातें करते हैं, तभी घृणा खड़ी हो जाती है और जब हम क्षमा की बातें करते हैं, तभी क्रोध खड़ा हो जाता है। न तो करुणा कठोरता का उलटा है और न दया का समानार्थक। दया कठोरता का प्रहरी है। वह दूसरे की दीनता पर, दुख पर, दरिद्रता पर निर्भर होती है। दूसरा केन्द्र में होता है। जब मैं कठोर होता हूँ तब भी दूसरा केन्द्र में होता है। यह दूसरा शत्रु है, बुरा है; उसे मिटाना जरूरी है। करुणा का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। महावीर-जैसे व्यक्ति के पास से कोई भी निकले--दीन, भिखारी या सम्राट्—इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। करुणा बरसती रहेगी, सम्राट् पर भी उतनी ही जितनी भिखारी पर। करुणा दूसरे पर निर्भर नहीं होती। वह दया का पर्यायवाची नहीं है। दया कोई अच्छी चीज नहीं है। हाँ, बुरी चीजों से अच्छी है।

करुणा में द्वन्द्व नहीं होता। दया में द्वन्द्व होता है, क्योंकि दया सकारण होती है। न तो करुणा का कोई पर्याय है और न उसका कोई विपरीतार्थक शब्द। वह बेशर्त होती है। दूसरा कैसा है, इससे करुणा का कोई सम्बन्ध नहीं। महावीर के पास कोई हो या न हो, करुणा झरती ही रहती है। वासना और निर्वासना के बीच की कड़ी है करुणा। (वासना अर्थात् द्वैत, करुणा अर्थात् अद्वैत और निर्वासना जिसमें संख्या का सवाल ही नहीं। निर्वासना में होना संख्या से असंख्या में, सीमा से असीमा में पहुँचना है।) बुद्ध ने जिसे करुणा कहा है महावीर उसे अहिंसा कहते हैं, क्राइस्ट उसे प्रेम कहते हैं। ये सभी शब्द सेतु पर इंगित करते हैं।

अब हम इन दो प्रश्नों पर विचार करेंगे :

(१) वस्तुपरक दृष्टि से क्या संसार स्वप्न है ? इस सम्बन्ध में महावीर की दृष्टि शंकराचार्य के मायावाद से कहाँ भिन्न है ?

(२) यदि महावीर पूर्व जन्म में ही पूर्ण हो गए थे तो वर्तमान जगत् में अभिव्यक्ति के साधन खोजने के लिए उन्हें तपश्चर्या क्यों करनी पड़ी ? पूर्ण में यह अपूर्णता कैसी ?

इस सम्बन्ध में पहली बात यह है कि स्वप्न भी असत्य नहीं है। स्वप्न की अपनी निजी सत्ता है; वह सूक्ष्म एवं तरल मानस परमाणुओं का लोक है और उसका अपना सत्य है। जिन लोगों ने स्वप्न-लोक की गहराइयों में प्रवेश किया है उन्हें यह देखकर हैरान होना पड़ा है कि जिसे हम स्वप्न कहते हैं, वह बहुत गहरे अर्थों में हमारे सत्य लोक से जुड़ा है। बहुत से स्वप्न हमारे पिछले जन्मों की स्मृतियाँ हैं, बहुत से स्वप्न हमारे भविष्य की झलक हैं, और बहुत से स्वप्न मनोजगत् में हमारी अन्तर्यात्राएँ हैं, ऐसी यात्राएँ जो इस देह से न होकर सूक्ष्म शरीरों से होती है।

तो मैं स्वप्न को असत्य नहीं कहता। फर्क इतना ही कर रहा हूँ कि स्वप्न में जो सत्य दिखाई पड़ता है, वह स्वप्न के सत्य होने से नहीं आता—वह हमारे कर्ता होने से आता है। अगर हमारा कर्तापन मिट जाय तो हमारे लिए स्वप्न मिट जायगा, स्वप्न का सत्य तो बना ही रहेगा। अगर कर्तापन का भाव मिट जाय, अगर मैं नींद से जाग जाऊँ और मुझे खयाल आ जाय कि यह स्वप्न है जिसे मैं देख रहा था तो स्वप्न विलीन हो जायगा। फिर भी उसके सत्य नष्ट न होंगे। स्वप्न के सत्य अपने बल पर बने रहेंगे। जिस दिन मैं जागूँगा, देह रह जायगी, केवल यह 'मेरी देह' न होगी। मुझे यह खयाल होना चाहिए कि इस देह में करोड़ों कीटाणु जी रहे हैं और समझ रहे हैं कि यह देह उनकी है। उनमें से किसी को पता नहीं कि मैं भी इस देह के हकदारों में हूँ। 'साक्षी' होते ही मैं निष्क्रिय हो जाऊँगा, लेकिन किसी को 'अपना बेटा' नहीं कहूँगा। गहराई में देखने पर पता चलता है कि मैं अपने शरीर की मैल छोड़ देता हूँ, पर उस मैल का पिता नहीं कहलाता। अपने बालों को, नाखून को काटकर फेंक देता हूँ, लेकिन कभी यह नहीं कहता कि मैं इनका पिता हूँ। कभी लौटकर भी नहीं देखता इन्हें। जिस शरीर ने बाल पैदा किए उसी शरीर से वीर्य-अणु पैदा होते हैं, लेकिन जहाँ मैं बालों को काटकर फेंक देता हूँ वहीं वीर्य-अणुओं को 'अपना बेटा' मान लेता हूँ।

जब मैं कहता हूँ कि आपके जागते ही जगत् स्वप्नवत् हो जायगा तो मेरा मतलब यह नहीं कि जगत् झूठा हो जायगा। जगत् और अर्थों में रहेगा। स्वप्न भी बचता है, वह भी कहीं खो नहीं जाता। उसकी भी सार्थकता है और आप चाहें तो एक ही स्वप्न में हजारों बार प्रवेश कर सकते हैं। स्वप्न मिथ्या इसीलिए मालूम पड़ता

है कि हम उसमें दुबारा प्रवेश नहीं कर पाते। लेकिन इस तरह की पद्धतियाँ और व्यवस्थाएँ हैं कि एक ही स्वप्न में बार-बार जाया जा सके। यदि इनके सहारे एक ही स्वप्न में आपने कई बार प्रवेश किया तो आपको स्वप्न उतना ही मालूम होगा जितना आपका यह मकान। मेरे कहने का प्रयोजन यह है कि अगर 'साक्षी' जग जाय तो कल उसने जो जगत् बनाया था, वह बिदा हो जाता है और एक बिलकुल नया वस्तुपरक सत्य सामने आता है।

इस संसार के लिए महावीर 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं करते, क्योंकि 'माया' के प्रयोग से लगता है कि यह झूठ है। वे कहते हैं कि वह भी सत्य है, यह भी सत्य है। लेकिन दोनों सत्यों के बीच हमने बहुत से झूठ गढ़ रखे हैं जो बिदा हो जाने चाहिए। पदार्थ भी अपने में सत्य है और परमात्मा भी। वस्तुतः दोनों एक ही सत्य के दो छोर हैं। यदि शंकर 'माया' का प्रयोग करते हैं तो इसमें भी कोई हर्ज नहीं। हम स्वप्न के जगत् में जीते हैं और उस व्यक्ति के समान हैं जो दिन भर रुपए गिनता रहता है, ढेर लगाता जाता है और अन्त में उन्हें अपनी तिजोरी में बन्द कर देता है। रोज गिनता है और रोज बन्द कर देता है। ऐसा व्यक्ति रुपयों की गिनती में जीता है। और बड़े मजे की बात है कि रुपयों में क्या है जिनकी गिनती में कोई जिए? कल सरकार बदल जाय और कहे कि पुराने सिक्के खत्म हो गए तो उस आदमी का सारा मनोलोक बिलकुल धराशायी हो जायगा। हम उस आदमी से भिन्न नहीं। हमारा भी अपना स्वप्निल जगत् है और हमारे भी ऐसे ही सिक्के हैं—परिवार के सिक्के, प्रेम और मित्रता के सिक्के, जो कल सुबह नियम बदल जाने से बदल जायँगे।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पूर्णता की उपलब्धि में अभिव्यक्ति के साधन सम्मिलित नहीं हैं। अभिव्यक्ति की पूर्णता उपलब्धि की पूर्णता से बिलकुल अलग है। असल में पूर्णता भी एक नहीं है, अनन्त पूर्णताएँ हैं। यदि कोई एक दिशा में पूर्ण हो जाता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह सब दिशाओं में पूर्ण हो जाय। बहुत आयाम हैं पूर्णता के। एक व्यक्ति पुण्य में पूर्ण हो जाय तो फिर वह पाप की पूर्णता में पूर्ण नहीं हो सकता। पाप की भी अपनी पूर्णता है। सिर्फ परमात्मा ही सब दिशाओं से पूर्ण है क्योंकि वह कोई व्यक्ति नहीं है। और खयाल रहे, अनुभूति की एक दिशा है, अभिव्यक्ति की बिलकुल दूसरी। अनुभूति में जाना पड़ता है भीतर और अभिव्यक्ति में आना पड़ता है बाहर। अनुभूति में छोड़ना पड़ता है सबको और हो जाना पड़ता है बिलकुल 'स्व'—सब छोड़कर एक बिन्दु। अभिव्यक्ति में फैलना पड़ता है, सबको जोड़ना पड़ता है। अभिव्यक्ति में 'दूसरा' महत्त्वपूर्ण है; अनुभूति में 'स्वयं' ही महत्त्वपूर्ण है। जानना मौन में हैं और बताना वाणी में। तो जो जानेगा उसको मौन होना पड़ेगा और जब वह बताने जायगा तो फिर उसे शब्द

की साधना करनी पड़ेगी। इसलिए जरूरी नहीं कि जो अभिव्यक्ति कर रहा हो वह जानता भी हो। हो सकता है, उसकी अनुभूति उधार ली हुई हो। ऐसे ही आदमी को मैं पंडित कहता हूँ। पंडित के पास अभिव्यक्ति है, अनुभूति नहीं। ऐसे भी लोग हैं जिनके पास अनुभूति है, अभिव्यक्ति नहीं। ज्ञानी और तीर्थंकर में यही फर्क है। तीर्थंकर ज्ञानी ही नहीं, अभिव्यक्ति-कुशल भी है और ज्ञानी केवल अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति है। सिर्फ अभिव्यक्ति नहीं है उसके पास।

अनुभूति की पूर्णता महावीर को पिछले जन्म में मिली, लेकिन अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए उन्हें साधना करनी पड़ी। और मैं कहता हूँ कि अनुभूति की पूर्णता उतनी कठिन नहीं है जितनी अभिव्यक्ति की पूर्णता कठिन है। अनुभूति में मैं अकेला हूँ, लेकिन अभिव्यक्ति में दूसरा भी सम्मिलित हो जाता है--दूसरे को जानना-समझना, दूसरे तक पहुँचना भी जरूरी हो जाता है। कठिनाई के कई अन्य कारण भी होते हैं, जैसे दूसरे की भाषा, दूसरे के अनुभव, दूसरे का व्यक्तित्व, इत्यादि। सृष्टि में करोड़ों तरह के व्यक्तित्व हैं, करोड़-करोड़ योनियों में बँटा हुआ प्राण है। उन सब पर प्रतिध्वनि हो सके, उन सब तक खबर पहुँच सके, पत्थर भी सुन ले और देवता भी--ऐसी साधना बहुत बड़ी बात है। इसलिए केवल ज्ञान तो बहुत लोगों को उपलब्ध होता है, हुआ है, लेकिन तीर्थंकरों की संख्या बहुत कम है।

ध्यान रहे कि मनुष्य की शक्ति की अपनी सीमाएँ हैं। अगर कोई व्यक्ति संगीत में बहुत कुशल हो जाय तो उसके कान शिक्षित हो जायँगे, लेकिन आँखें मंद हो जायँगी, स्पर्श क्षीण हो जायगा। वह व्यक्ति और दिशाओं में एकदम सिकुड़ जायगा। शक्ति सीमित है, अनुभूतियाँ अनन्त हैं। केवल परमात्मा में लीन हो जाने से ही हम समग्र में पूर्ण हो जाते हैं। लेकिन एक दिशा में भी कोई पूर्ण हो जाय तो वह उस द्वार पर खड़ा हो जाता है जहाँ से परमात्मा में प्रवेश होना संभव है। पूर्णता किसी भी दिशा से क्यों न आए, वह परमात्मा के द्वार पर खड़ा कर ही देती है। अगर यह खयाल में हो कि पूर्णताएँ अनन्त हैं तो हम समझ सकेंगे कि सर्वज्ञ का क्या मतलब हो सकता है। इसका मतलब यह नहीं कि सर्वज्ञ आपकी बाइसिकिल के फटे टायर की मरम्मत कर देगा और किसी को टी० बी० हो जाय तो उसकी दवा भी कर देगा। लेकिन महावीर को पकड़नेवालों ने सर्वज्ञ का कुछ ऐसा ही मतलब समझ लिया है। सर्वज्ञ वह है जो पूर्णता की एक दिशा को पकड़ ले और उसमें सर्व हो जाय। महावीर आत्मज्ञान की दिशा में सर्वज्ञ हैं। उनके सर्वज्ञ होने का यह मतलब नहीं कि वे आपकी बीमारी को भी जानते हैं। भविष्य में क्या होगा, यह भी जानते हैं, कल क्या हुआ था, यह भी जानते हैं। वे सर्वज्ञ हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञान की शुद्धता उपलब्ध हो गई है। 'केवल ज्ञान' का मतलब यही है। सत्य यह है कि शुद्ध ज्ञान की क्षमता में जीना इतना आनन्दपूर्ण है कि उसे कोई दूसरी दिशा में लगाना नहीं

चाहता। इसलिए केवल ज्ञानी को जैसे ही शुद्धता उपलब्ध होती है, वह जानना छोड़ देता है---जानने की क्षमता में ही रम जाता है। जानने की क्षमता ही इतनी आनन्दपूर्ण है कि वह क्यों जानने जाए किसी को ? अज्ञान जानने जाता है, ज्ञान ठहर जाता है। अज्ञान में जानने की जिज्ञासा होती है, किन्तु ज्ञान की क्षमता उपलब्ध होते ही ज्ञान ठहर जाता है अज्ञान भटकाता है, ज्ञान ठहरा देता है। जिस व्यक्ति को परिपूर्ण ज्ञान की क्षमता उपलब्ध हो जाती है वह तत्काल सभी दिशाएँ छोड़कर परमात्मा में लीन हो जाता है, सर्वव्यापक हो जाता है—बूँद सागर में गिरकर सर्वव्यापी हो जाती है। दूसरी भी सम्भावना है कि वह एक जीवन के लिए लौट आए और अपनी क्षमता की खबर दे। इसे ही मैं करुणा कहता हूँ। इसी करुणा से प्रेरित हो ज्ञानी अभिव्यक्ति की पूर्णता हासिल करने की कोशिश करता है, उपाय करता है दूसरे से कहने का।

तृतीय अध्याय

मूक जगत् से तादात्म्य और सापेक्षवाद (स्याद्वाद)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते अत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं,
बुद्धो पमत्तेसु परिव्वएज्जा ।।[1]

—सूत्र० श्रु० १ अ० १२ गा० १८

१

महावीर के सामने इस जन्म का सबसे बड़ा सवाल था कि सत्य की अनुभूति को जीवन के सभी तलों तक—पेड़-पौधों से लेकर देवी-देवताओं तक—कैसे पहुँचाया जाय ? उन्होंने आजीवन चेष्टा की कि उनका संवाद पशु-पक्षियों तक, यहाँ तक कि निर्जीव समझे जानेवाले पदार्थों तक, पहुँचे। महावीर के बाद ऐसी कोशिश करनेवाला दूसरा आदमी नहीं हुआ । यूरोप में सन्त फ्रांसिस ने पशु-पक्षियों से बात करने की कोशिश की थी और हमारे युग में श्री अरविन्द ने पदार्थ तत्त्वों पर चेतना के स्पन्दन पहुँचाने के लिए यत्न किए थे। लेकिन जसा प्रयास महावीर ने किया वैसा न पहले कभी हुआ था और न बाद में हुआ।

कहा जाता है कि महावीर ने सत्य की साधना में बारह वर्ष बिताए । वस्तुतः वे वर्ष सत्य की अभिव्यक्ति के लिए साधन खोजने के वर्ष थे। और उन्हें साधन मिल जाते हैं । अस्तित्व के मूक अंगों तक अपनी अनुभूति पहुँचा सकने में उन्हें सफलता मिलती है। अपनी अनुभूति को पत्थर और मूक पशुओं तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति परम जड़ और मूक अवस्था में उतरे। तभी मूक जगत् से उसका सामंजस्य हो सकता है। यदि वृक्षों के साथ तालमेल बिठाना किसी का अभिष्ट हो तो उसे किसी वृक्ष के पास बैठकर पूर्णतया मूक हो जाना पड़ेगा जिससे उसकी चेतना बिलकुल शान्त होती चली जाय। रामकृष्ण की जड़-समाधि ऐसी ही अवस्था में उतरने की समाधि थी ।

---

1. जो प्रबुद्ध व्यक्ति मोहनिद्रा में डूबे रहनेवाले मनुष्यों के बीच रहकर भी संसार के छोटे-बड़े सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान देखे, इस महान् विश्व का निरीक्षण करे और सर्वदा अप्रमत्त भाव से संयमाचरण में रत रहे, वह मोक्ष का सच्चा अधिकारी है ।

इस सम्बन्ध में स्मरण रखना होगा कि महावीर की अहिंसा किसी तत्त्व-विचार से नहीं निकली; वह नीचे के जगत् के साथ उनके तादात्म्य से निकली है। उस तादात्म्य में उन्होंने नीचे के जगत् की जो पीड़ा अनुभव की थी, उसी पीड़ा की वजह से अहिंसा उनके जीवन का परम तत्त्व बन गया था। वह पीड़ा अत्यन्त सघन थी, असह्य थी। उन्होंने यह भी महसूस किया कि अगर व्यक्ति पूर्ण अहिंसक न हो जाय तो नीचे के मूक जगत् से तादात्म्य स्थापित करना बहुत मुश्किल है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम तादात्म्य उसी के साथ स्थापित कर सकते हैं जिसके प्रति हमारा समस्त हिंसक, आक्रामक भाव विलीन हो गया हो और हृदय प्रेम से ओतप्रोत हो। अगर मूक जगत् से तादात्म्य स्थापित करना है तो अहिंसा शर्त भी है, नहीं तो वह तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता। संत फ्रांसिस को देखकर नदी की सारी मछलियाँ तट पर इकट्ठी हो जातीं, जिस वृक्ष के नीचे वे बैठते, उस पर जंगल के सारे पक्षी आ जाते, उनकी गोद में उतरने लगते, उनके सिर पर बैठ जाते। वन के पशु-पक्षी अपनी अन्तःप्रज्ञा से जानते थे कि संत फ्रांसिस से उनकी कभी कोई हानि न होगी। यह अन्तःप्रज्ञा सभी पक्षियों के पास है। इसी अन्तःप्रज्ञा के फलस्वरूप जापान की एक चिड़िया भूकम्प आने के चौबीस घंटे पहले गाँव छोड़ देती है। उत्तरी ध्रुव पर रहनेवाले सैकड़ों पक्षी बर्फ गिरने के एक महीने पहले यूरप के समुद्री तटों पर चले जाते हैं और हजारों मिल की दूरी तय कर लेते हैं। आश्चर्य है कि वे इस देशान्तरण की प्रक्रिया में रास्ता नहीं भूलते और बर्फ गिरना बन्द होने के महीना भर पहले वापसी यात्रा शुरू कर देते हैं। वे जहाँ से आते हैं ठीक वहीं अपनी जगह वापस लौट जाते हैं। हमारे हृदय की भावधारा के स्पन्दनों को उनकी यह प्रज्ञा शीघ्र पहचान लेती है, उन्हें स्पर्श कर लेती है, और वे हमसे सचेत हो जाते हैं।

मुझे विश्वास है कि महावीर ने जितने पशुओं और पौधों की आत्माओं को विकसित किया है, उतने पशुओं और पौधों को इस जगत् में किसी दूसरे व्यक्ति ने विकसित नहीं किया। सत्य के अनुभव को संवाहित करने का प्रयोग गौतम बुद्ध ने भी किया था, किन्तु वह मनुष्यों से ज्यादा गहराई पर नहीं गया। सच तो यह है कि न तो क्राइस्ट ने, न बुद्ध ने, न ज़रतुश्त ने, न मुहम्मद ने, न किसी अन्य व्यक्ति ने मनुष्य तल से नीचे जो एक मूक जगत् का फैलाव है, जहाँ से हम आ रहे हैं, जहाँ हम कभी थे, जिससे हम पार हो गए—वहाँ पहुँचने का कोई मार्ग बताया। महावीर ने महसूस किया था कि उस जगत् के प्रति भी हमारा एक अनिवार्य कर्त्तव्य है कि हम उसे पार होने का रास्ता बता दें और खबर कर दें कि वह कैसे पार किया जा सकता है। उन्होंने अहिंसा के तत्त्व पर जो इतना बल दिया है उसका एक कारण यह है कि नीचे के मूक जगत् से पूर्ण अहिंसक वृत्ति के बिना सम्बन्धित होना असम्भव है। सम्बन्धित हो जाने पर उस मूक जगत् की अनन्त-अनन्त पीड़ाओं का

बोध होता है और तब उसके भार को हलका करने की भावना का पैदा होना भी स्वाभाविक है। मुझे ऐसा लगता है कि आज बहुत से मनुष्य सिर्फ इसलिए मनुष्य हैं कि उनकी पशुयोनि में या पौधे की योनि में या उनके पत्थर होने की अवस्था में महावीर ने सन्देश भेजे थे और उन्हें बुलावा भेजा था। इस बात की भी खोज-बीन की जा सकती है कि कितने लोगों को उस तरह की प्रेरणा उपलब्ध हुई और वे आगे बढ़े। यह इतना अद्‌भुत कार्य है कि केवल इसकी वजह से महावीर मनुष्य-मानस के बड़े से बड़े ज्ञाता बन जाते हैं।

अगर किसी भी व्यक्ति को पीछे की अविकसित चेतनाओं और स्थितियों से तादात्म्य स्थापित करना है तो उसे अपनी चेतना को उन्हीं तलों पर लाना पड़ता है जिन तलों पर वे चेतनाएँ हैं। यह जानकर आप हैरान होंगे कि महावीर का चिह्न सिंह है। इसका कारण यह है कि पिछली चेतनाओं से तादात्म्य स्थापित करने में महावीर को सबसे ज्यादा सरलता सिंह से तादात्म्य स्थापित करने में हुई। उनका व्यक्तित्व भी सिंह-जैसा है। वे पिछले जन्मों में सिंह रह चुके थे और लौटकर उससे तादात्म्य स्थापित करना उनके लिए एकदम सरल हो गया था। बात यह है कि जब उनका सिंह से तादात्म्य हुआ होगा तब उन्होंने पूरी तरह जाना होगा कि मैं सिंह हूँ और सिंह उनका प्रतीत बन गया। सिंह की तरह वे भी झुण्ड में नहीं चलते; उनमें भी सिंह का-सा अदम्य भाव है, अभय है।

पीछे उतरकर तादात्म्य स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि चेतना को निरन्तर शिथिल किया जाय, उसे इस जड़ स्थिति में ले आया जाय जिसमें उसमें कोई गति न रह जाय, वह बिलकुल शिथिल, शान्त और विराम को उपलब्ध हो जाय। शरीर जब जड़ हो और चेतना शिथिल तथा शून्य हो तब किसी भी वृक्ष, पशु और पौधे से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। और एक मजे की बात है कि अगर वृक्षों से तादात्म्य स्थापित करना हो तो किसी खास वृक्ष से तादात्म्य स्थापित करने की जरूरत नहीं। वृक्षों की पूरी जाति के साथ तादात्म्य स्थापित हो सकता है क्योंकि उनसे अभी व्यक्तित्व पैदा नहीं हुआ, अभी अहंकार और अस्मिता नहीं है—अभी वे एक जाति की तरह जीते हैं। इस तादात्म्य की स्थिति में जो भी भाव संकल्प किया जायगा वह प्रतिध्वनित होकर उन सारे जीवों तक व्याप्त हो जायगा। जैसे, यदि गुलाब के पौधों की जाति से तादात्म्य स्थापित किया गया हो तो उस क्षण में जो भी भाव-तरंग पैदा होगी वह समस्त गुलाबों तक संक्रमित हो जायगी।

तादात्म्य की ऐसी अवस्था में महावीर ने बहुत समय गुजारा और ऐसी अवस्था को उपलब्ध करने में उनको बहुत-सी बातें करनी पड़ीं जिन्हें समझना मुश्किल है। यह सत्य है कि उनके कानों में कीलें ठोकी गईं, लेकिन उन्हें इसका कष्ट न हुआ। इसका कारण है कि जिस समय उनके कान में कीलें ठोकी जा रही थीं उस समय

उन्होंने उन चट्टान-जैसी चीजों से तादात्म्य स्थापित कर लिया था जिन्हें कील ठोके जाने का अनुभव नहीं हो सकता। पत्थर में कीलें ठोको तो बेचारे पत्थर को इसका क्या अनुभव होगा? अगर कोई उनका हाथ भी काट लेता तो उन्हें इसका अनुभव न होता। हम जानते हैं कि लोग अंगारों पर कूद सकते हैं। तादात्म्य किससे है, इस पर सब बात निर्भर करती है। अगर किसी ने किसी देवता से तादात्म्य किया है तो वह अंगारों पर कूद जायगा, जलेगा नहीं क्योंकि देवता नहीं जल सकता। महावीर अभिव्यक्ति का जो उपाय खोज रहे हैं, वह है भूत, जड़ एवं मूक जगत् में तरंगें पहुँचाने का उपाय। अब तो तरंगों को वैज्ञानिक ढंग से भी अनुभव किया जा सकता है।

तीर्थों और मन्दिरों का महत्त्व भी इन्हीं तरंगों के कारण है। अगर महावीर-जैसा कोई व्यक्ति कुछ दिन इस कमरे में रह जाय तो इस कमरे से उसका तादात्म्य हो जाता है और इसके कण-कण में उसकी तरंगें अंकित हो जाती हैं। तीर्थ और मन्दिर साधकों के व्यक्तित्व की तरंगों से आप्लावित रहते हैं। इसलिए प्राचीन तीर्थों और मन्दिरों में साधना करना सार्थक हो सकता है। यदि इस कमरे में किसी ने आत्महत्या कर ली हो तो आत्महत्या के क्षण में हुए तीव्र तरंगों के विस्फोट की प्रतिध्वनियाँ सैकड़ों वर्षों तक इस कमरे की दीवारों पर अंकित रहती हैं। हो सकता है कि इसमें सोनेवाला व्यक्ति कोई रात आत्महत्या करने का सपना देखे। वह सपना केवल कमरे की प्रतिध्वनियों का उसके चित्त पर प्रभाव होगा। और यह भी हो सकता है कि इस कमरे में रहते हुए वह किसी दिन आत्महत्या कर गुजरे। बोधिवृक्ष का महत्त्व इसी कारण है कि उसके नीचे बुद्ध के निर्माण की घटना-घटी और उसके कण-कण में उनकी तरंगों का अंकन है। आज भी कोई रहस्यदर्शी चाहे तो उस वृक्ष के नीचे बैठकर उन तरंगों को वापस बुला सकता है। तीर्थ इन्हीं तरंगों के कारण महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। सम्भेद शिखर, गिरनार, काबा, काशी, जेरुसलम——सभी एक दिन जीवित तीर्थ थे। उनकी तरंगें धीरे-धीरे नष्ट हो गई हैं। इस समय पृथ्वी पर कोई भी जीवित तीर्थ नहीं है, सब तीर्थ मर गए हैं।

जड़ से जड़ वस्तु पर भी तरंगों का क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि पदार्थ का अन्तिम अणु भी हमारे निरीक्षण से प्रभावित होता है। यदि अणुओं और परमाणुओं को तोड़कर हम इलेक्ट्रोन (विद्युदणु) की दुनिया में पहुँचें तो वहाँ जो अनुभव होगा वह बहुत घबड़ानेवाला होगा। वह अनुभव यह होगा कि अनिरीक्षित विद्युदणुओं का व्यवहार वैसा नहीं होता जैसा निरीक्षित विद्युदणुओं का होता है। जब तक उसे कोई नहीं देखता तब तक वह एक ढंग से गति करता है, किन्तु खुर्दबीन से देखे जाने पर वह डगमगा जाता है और अपनी गति बदल देता है। इन परमाणुओं और विद्युदणुओं तक भी महावीर ने खबर पहुँचाने की कोशिश

की। इसके लिए उन्हें अनेक बार ऐसी अवस्था में होना पड़ा जिसमें यह कहना मुश्किल था कि वे जीवित हैं या मृत। इन अवस्थाओं को लाने के लिए उन्ह कुछ और प्रयोग करने पड़े। जैसे, उनका चार-चार महीने तक, पाँच-पाँच महीने तक भूखा रह जाना बड़ा असाधारण है। वे कुछ न खाकर भी क्षीण नहीं होते। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ और उनका असाधारण सौन्दर्य सदा अक्षुण्ण रहता। क्या कारण था इसका ? मेरी दृष्टि में कारण था मूक जगत् से उनका तादात्म्य और मूक अणुओं का—मूक पदार्थों के परमाणुओं का—प्रत्युत्तर। जो आदमी पास में पड़े हुए पत्थर की आत्मा को भी जगाने का उपाय कर रहा है, जो पास में लगे हुए वृक्ष की चेतना को जगाने के लिए कम्पन भेज रहा है, उसे अगर सारे पदार्थ-जगत् से प्रत्युत्तर में बहुत-सी शक्तियाँ मिलती हों तो आश्चर्य नहीं। परमाणुओं का सूक्ष्म जगत् उन्हें सीधा भोजन देता था। इसलिए महावीर के पीछे जो लोग भूखों मर रहे हैं, वे पागल हैं। वे सिर्फ मांसाहारी हैं—अपना ही मांस पचा रहे हैं। महावीर तीन-चार महीने बाद कभी भोजन कर लेते थे, वह भी इसलिए कि लोग उन्हें यह न पूछे कि इतने दिनों तक भूखा रहना कैसे सम्भव हो सका ? यह आप कैसे कर सके ? सभी बातें सभी को बताने के लिए नहीं होतीं। महावीर एक दिन भोजन कर लेते हैं, वह सिर्फ इसलिए कि लोगों को सान्त्वना हो जाय कि वे खाना ले लेते हैं। लोग यह सुनकर अचम्भा करते हैं कि महावीर को पसीना नहीं चलता, मल-मूत्र त्यागने नहीं पड़ते। यदि वे सूक्ष्म परमाणुओं से शक्ति न लेते और उन्हें मूक जगत् से सीधा भोजन न मिलता तो उन्हें भी ये सारे कार्य करने पड़ते और उनके शरीर से भी पसीना वहता। उनका भोजन इतना सूक्ष्म है कि वह शरीर में सीधे लीन हो जाता है।

काशी के एक संन्यासी ने, जिसका नाम विशुद्धानन्द था, एक अत्यन्त प्राचीन विज्ञान को, जो एकदम खो गया था, पुनरुज्जीवित किया। उस विज्ञान का नाम है सूर्ण-किरण-विज्ञान। विशुद्धानन्द का कहना था कि सूर्य की किरणों से जीवन और मृत्यु सीधे आ सकती है, बीच में कुछ और लेने की जरूरत नहीं। पृथ्वी पर फैला हुआ पदार्थ का जगत् सूर्य की किरणों से बँधा है। सूर्य अस्त हो जाय तो यह सारा दृश्य जगत् भी उसी के साथ अस्त हो जायगा। इस पृथ्वी पर सूर्य की किरणों ने देह और प्राण को जोड़ रखा है। इसलिए सूर्य न हो तो अदेही आत्माएँ हो सकती हैं, देह नहीं होगी। चाँद पर अदेही आत्माएँ रहती हैं। इसी कारण अंतरिक्ष के यात्रियों को वहाँ 'कोई' नहीं मिला। वहाँ देहधारी प्राणी नहीं है और न वहाँ वह स्थिति ही पैदा हुई है जिससे देह प्रकट हो सके।

तात्पर्य यह कि कोई चाहे और प्रयास करे तो वह अपनी आँखों से भी सूरज की किरणों को सीधे पी सकता है और ऐसी किरणें जीवनदायिनी हो सकती हैं।

त्राटक के बहुत से प्रयोग सीधे सूरज से जीवन खींचने के प्रयोग हैं, सिर्फ एकाग्रता के प्रयोग नहीं।

मूक जगत् ने महावीर के तादात्म्य के जो उत्तर दिए वे ही अब कहानियाँ बन गई हैं। उनके आधार पर हम कविताएँ रची हैं। कहा जाता है कि जब महावीर चलते तो पथ के काँटे सीधे पड़े न रहते, वे तत्काल उलट जाते ताकि वे महावीर के चरणों में न चुभें। ये हमारी कहानियाँ हैं जो एक गहन सत्य पर प्रकाश डालती हैं। वह सत्य यह है कि प्रकृति भी महावीर के प्रतिकूल नहीं जाती, बल्कि अनुकूल होने की कोशिश करती है। जिस व्यक्ति ने उनसे इतना प्रेम किया, तादात्म्य स्थापित किया, वे उसके प्रतिकूल कैसे जा सकती हैं? सड़क के किनारे पड़ा हुआ पत्थर भी आपके प्रेम का उत्तर देता ही है।

सुधी जनों का कहना है कि महावीर के समवसरण में पहली उपस्थिति देवताओं की हुई थी। यह आश्चर्य की बात नहीं है। इसका कारण यह है कि देवताओं के जगत् में अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का सहारा लेना नहीं पड़ता। वहाँ सम्भाषण के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती है। उस लोक में वाणी व्यर्थ हो गई है; वहाँ जो भाव उठते हैं, वे मौन में सम्प्रेषित हो जाते हैं। इसलिए वहाँ सत्य की वार्ता सबसे ज्यादा सरल है। मानव-लोक में शब्दों के बिना बात-चीत नहीं हो सकती, इसलिए इसमें भावों का हूबहू सम्प्रेषण सर्वाधिक कठिन है, शब्दों के कारण ही संवाद होना मुश्किल हो गया है। पक्षियों के पास अपनी वाणी नहीं है, वे कुछ कह नहीं सकते, लेकिन कुछ अनुभव कर सकते हैं। इसलिए अगर कोई अनुभव के तल पर उनसे सम्बन्ध जोड़े तो वह उनके अनुभवों को जान सकता है। महावीर के समवसरण में पशु-पक्षी ही नहीं, देवता और मनुष्य भी उपस्थित थे। लेकिन जहाँ पशु-पक्षियों ने उन्हें सुना और देवताओं ने समझा, वहीं मनुष्यों ने अनसुनी कर दी। मनुष्यों को जो कहा गया, शायद उन्होंने नहीं सुना। मनुष्यों के पास शब्द हैं और उन्हें अपनी समझदारी का खयाल है जो बड़ा खतरनाक है। मनुष्य को यह खयाल है कि मैं सब समझ लेता हूँ। यह बड़ी भारी बाधा है। जो जरूरी चीजें हैं, वह अब भी भाषा के बिना करता है। जैसे क्रोध आ जाय तो वह चाँटा मारता है, प्रेम आ जाय तो वह गले लगाता है। इस प्रकार उसका पशु होना प्रकट हो जाता है। पशु के पास कोई भाषा नहीं होती। वह जानता है कि भाषा समर्थ नहीं है। मनुष्य को समझाने की चेष्टा ही सबसे ज्यादा कठिन चेष्टा है। देवताओं को समझने में कठिनाई नहीं होती, क्योंकि उनसे कहनेवाले शब्दों को अपना माध्यम नहीं बनाते। उनके लिए व्याख्या करने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। पशु भी समझ लेते हैं, क्योंकि उनसे कहा ही नहीं जाता, व्याख्या की कोई बात ही नहीं होती—सिर्फ तरंगें प्रेषित की जाती हैं।

महावीर की बारह वर्षों की साधना अभिव्यक्ति के माध्यम की खोज की साधना है। कैसे पहुँचाया जा सके जो पहुँचाना है ? इस सम्बन्ध में दो छोटे सूत्र ख़याल में रख लेने चाहिए। यदि पशुओं के पास सम्प्रेषण करना अभीष्ट हो तो मूक होना पड़ेगा, वाणी खो देनी पड़ेगी, करीब-करीब मूर्च्छित और जड़-जैसा हो जाना होगा। शरीर जड़ होगा, मन जड़ होगा, मगर भीतर चेतना पूरी जागी होगी। अगर मनुष्य से सम्बन्ध जोड़ना है तो दो उपाय हैं : साधना से गुजरे हुए मनुष्य के साथ बिना शब्द के सम्बन्ध जोड़े जायँ और उस हालत में लाकर जिसमें देवता होते हैं, मौन में कहा जाय या फिर शब्दों का, वाणी का प्रयोग किया जाय। लेकिन शब्द ही पकड़ में आते हैं, अनुभूतियाँ छूट जाती हैं। इसलिए गणधर आते हैं, मध्यस्थ आते हैं, व्याख्याएँ होती हैं—सब बदल जाता है, सब खो जाता है। महावीर के शब्द महावीर के नहीं रह जाते, टीकाकारों के हो जाते हैं। महावीर ने मौन में क्या कहा है उसे पकड़ने की जरूरत है।

२

महावीर के पहले जो विचारधाराएँ प्रचलित थीं उनका आर्यपरम्परा से पृथक् अस्तित्व नहीं था। उनमें एक धारा का नाम 'श्रमण' था, क्योंकि उसका आधार श्रम था, प्रार्थना नहीं। इस धारा के विपरीत ब्राह्मणधारा थी[1] जिसका विश्वास था कि परमात्मा को विनम्र भाव से, प्रार्थना और शास्त्रविधि से ही पाया जा सकता है। (इस पूर्ण दीनता को क्राइस्ट ने 'पॉवर्टी ऑफ स्पिरिट' कहा है।) आर्य जीवन-दर्शन में उपर्युक्त दोनों धाराएँ सम्मिलित थीं, परन्तु महावीर के बाद श्रमण धारा ने अपना पृथक् अस्तित्व घोषित किया। महावीर के पहले वह धारा पृथक् न थी। इसीलिए आदिनाथ का नाम तो वेद में मिलता है, लेकिन महावीर का नाम किसी हिन्दू ग्रन्थ में नहीं मिलता। जैनों के पहले तेईस तीर्थंकर आर्य ही थे, आर्य ही पैदा हुए और आर्य ही मरे। वे जैन नहीं थे। सभी श्रमण भी जैन नहीं हो गए। श्रम और संकल्प पर आस्था रखनेवाले लोगों में आजीवक भी थे, बौद्ध भी थे, और दूसरे-दूसरे विचारक भी थे। जब महावीर ने एक पृथक् दर्शन की घोषणा की तो श्रमणधारा से एक पृथक् धारा निकल पड़ी। इसी धारा का नाम 'जैन' पड़ा। बौद्ध-धारा भी श्रमणधारा थी। इसलिए महावीर के दर्शन से प्रभावित धारा को एक नया नाम देना आवश्यक था। यदि गौतम थे बुद्ध तो महावीर थे जिन—विजेता। जिन

---

१. 'भारत में अनेक धर्म-परम्पराएँ रही हैं। ब्राह्मण परम्परा मुख्यतया वैदिक है जिसकी कई शाखाएँ हैं। श्रमण परम्परा की भी जैन, बौद्ध, आजीवक, प्राचीन सांख्य-योग आदि कई शाखाएँ हैं।' पं सुखलालजी, दर्शन और चिन्तन (१९५७), पृ० ५१।

का अर्थ जीतना ही है। दोनों श्रमण-धाराओं के बीच भेदक रेखा खींचने के लिए गौतम बुद्ध के अनुयायियों को बौद्ध कहा जाने लगा और महावीर के अनुयायियों को जैन। ('जिन' शब्द बहुत पुराना है और बुद्ध के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।)

ध्यान रहे कि श्रमणधारा आर्यमूलधारा से ही निस्सृत हुई थी और उस श्रमण-धारा से बौद्ध और जैन धर्म निकले। इसलिए महावीर के पहले के सभी तीर्थकर हिन्दू संघ के भीतर थे, महावीर हिन्दू संघ के बाहर। महावीर न तो किसी के अनुयायी थे और न कोई उनका गुरु था। फिर भी उनका दर्शन अन्य तीर्थंकरों के अनुयायियों से बहुत दूर तक मेल खा गया। महावीर को चिन्ता न थी कि उनके विचार किसी और के विचारों से मेल खा जायँ। यदि उनका मेल बैठ गया तो यह निपट संयोग की बात है। और इसी कारण वे अनुयायी धीरे-धीरे महावीर के पास आ गए। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि महावीर हूबहू वही कहते थे जो पिछले तेईस तीर्थंकरों ने कहा था। किसी पिछले तीर्थंकर ने ब्रह्मचर्य की कोई बात नहीं की थी। पार्श्वनाथ का धर्म चतुर्यामयुक्त था—उसमें ब्रह्मचर्य को एक पृथक् याम के रूप में स्वीकृति नहीं मिली थी।[1] महावीर ने पहली बार ब्रह्मचर्यव्रत की बात की और चार के स्थान पर पाँच महाव्रतों की प्रतिष्ठा हुई। ऐसी ही अनेक बातें हैं जिनसे महावीर की मौलिकता प्रकट होती है। लेकिन इतना तो जाहिर है कि उनकी बातें पिछले तीर्थकरों के विरोध में नहीं हैं। वस्तुतः महावीर-जैसे बलशाली व्यक्ति को पाकर उनकी धारा अनुगृहीत हो गई। वे बड़े साधक और सिद्ध थे सही, परन्तु उनमें एक भी ऐसा न था जो एक दर्शन निर्मित कर सके। यह क्षमता महावीर में थी। इसलिए चौबीसवाँ होते हुए भी महावीर करीब-करीब प्रथम हो गए। अगर तीर्थकरों

---

१. चतुर्याम का अर्थ है चार महाव्रत। भ० पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ-परम्परा चार महाव्रतधारी थी—चतुर्महाव्रत की परम्परा थी। उसमें अहिंसा, सत्य, असत्य, अपरिग्रह ही चार याम (महाव्रत) थे। किन्तु, जैसा कि पं० सुखलालजी ने कहा है, 'निर्ग्रन्थ परम्परा में क्रमशः ऐसा शैथिल्य आ गया कि कुछ निर्ग्रन्थ अपरिग्रह का अर्थ-संग्रह न करना, इतना ही करके स्त्रियों का संग्रह या परिग्रह बिना किए भी उनके सम्पर्क से अपरिग्रह का भंग समझते नहीं थे। इस शिथिलता को दूर करने के लिए भ० महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह से अलग स्थापित किया और चतुर्थ व्रत में शुद्धि लाने का प्रयत्न किया। महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत की अपरिग्रह से पृथक् स्थापना अपने तीस वर्ष के लम्बे उपदेश काल में कब की यह तो कहा नहीं जा सकता, पर उन्होंने यह स्थापना ऐसी बलपूर्वक की कि जिसके कारण अगली सारी निर्ग्रन्थ-परम्परा पंच महाव्रत की ही प्रतिष्ठा करने लगी, और जो इने-गिने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ महावीर के पंच महाव्रत-शासन से अलग रहे उनका आगे कोई अस्तित्व ही न रहा।' दर्शन और चिन्तन (१९५७), पृ० ९८–९९।

की विचारधारा का कुछ भी जीवन्त अंश आज शेष है तो सारा श्रेय महावीर को उपलब्ध होता है। उन तीर्थंकरों की हजारों वर्षों की यात्रा में जो सारे विचार-खंड हुए, उन खंडों को महावीर ने एक सुसम्बद्ध रूप दिया। इसलिए जैन-दर्शन पैदा हो सका।

महावीर के पहले भारत में विचार-पद्धतियाँ थीं और आर्य जीवन-दृष्टि सबको घेरती थी। उनमें वेद के क्रियाकांडी लोग थे और ठीक उनके विरोध में उपनिषद् के विचारक थे। लेकिन सबके सब आर्य जीवन-पथ के ही हिस्से थे। विचार-पद्धतियाँ थीं, किन्तु भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय न थे। स्वयं कृष्ण का चचेरा भाई[2] तीर्थंकर हुआ और कृष्ण हिन्दुओं के परम अवतार हुए। महावीर के साथ पहली दफा आर्य जीवन-पद्धति में एक अलग रास्ता टूट गया। फिर श्रमण जीवन-पद्धति में भी बुद्ध के साथ एक अलग मार्ग बना। जैन तीर्थंकरों की धारा में महावीर पहले सुसम्बद्ध चिन्तक थे। उनके समय में ही एक विवाद खड़ा हो गया था कि चौबीसवाँ तीर्थंकर कौन है? अजितकेसकंबली (अजित-केश-कम्बल) और मक्खली गोशाल भी दावेदार थे। परम्परा सुसंगति देनेवाला अपना अन्तिम व्यक्ति खोज रही थी। महावीर विजेता हो गए क्योंकि परम्परा ने उनमें वह सब पा लिया जिसकी उसे जरूरत थी। महावीर के मन में सम्प्रदाय बनाने का खयाल ही न था, लेकिन उन्होंने श्रमण जीवन-दृष्टि को जितनी सुसम्बद्ध रूप-रेखा दे दी उतनी ही वह धारा बँध गई और एक सम्प्रदाय खड़ा हो गया। महावीर से ज्यादा गैर साम्प्रदायिक चित्त खोजना कठिन है, लेकिन सम्प्रदाय के जन्मदाता वही हैं। सारी पृथ्वी पर ऐसा दूसरा आदमी ही नहीं हुआ जिसके पास इतना गैर साम्प्रदायिक चित्त हो। जो किसी की बात को सापेक्ष दृष्टि से सोचता हो उसकी दृष्टि में साम्प्रदायिकता हो ही नहीं सकती। बहुत बाद में आइस्टीन ने सापेक्षवाद की बात कही। धर्म के जगत् में इसकी घोषणा ढाई हजार साल पहले हो चुकी थी। यही सापेक्षवाद महावीर के स्याद्वाद की आधारशिला है।

महावीर के युग में सापेक्षवाद की घोषणा एक अद्‌भुत घटना थी। उस वक्त सापेक्षवाद का हवाला देना कठिन था क्योंकि आर्यधारा कई टुकड़ों में टूट चुकी थी और प्रत्येक टुकड़ा सत्य का दावा कर रहा था। साम्प्रदायिक चित्त का मतलब है कि सत्य का ठेका मेरे पास है, और किसी के पास नहीं। सब असत्य हैं, सत्य मैं हूँ। लेकिन जहाँ इतना विनम्र निवेदन हो कि मैं जो कह रहा हूँ वह भी सत्य हो सकता

---

२. भगवान् नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। शौरीपुर नरेश अन्धक वृष्णि के दस पुत्र हुए। सबसे बड़े पुत्र का नाम समुद्रविजय और सबसे छोटे का नाम वसुदेव था। समुद्रविजयके घर नेमिनाथ ने जन्म लिया और वसुदेव के घर श्रीकृष्ण ने। जरासंध के भय से यादवगण शौरीपुर छोड़कर द्वारका नगरी में जाकर रहने लगे।

है, उससे भी सत्य तक पहुँचा जा सकता है, वहाँ सम्प्रदाय तो निर्मित होगा, पर साम्प्रदायिक चित्त न होगा। महावीर का चित्त बिलकुल गैर साम्प्रदायिक था। वे कहते थे कि इस पृथ्वी पर पूर्ण जैसी कोई चीज नहीं होती। असत्य में भी सत्य का अंश होता है और सत्य में भी असत्य का अंश। अगर कोई उनसे पूछता कि 'ऐसा है ?' तो वे कहते, 'हाँ, है।' साथ ही वे यह भी कहते कि 'नहीं भी हो सकता है।' कोई पूछता, 'ईश्वर है ?' तो महावीर कहते, 'हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। किसी अर्थ में हो सकता है, किसी अर्थ में नहीं हो सकता।' इसी सापेक्षवाद के कारण उनके अनुयायियों की संख्या न बढ़ी। लोगों ने समझा—उनका दावा पक्का नहीं। उन्हें महावीर की बातों में संशय की रेखा दीख पड़ी। किन्तु, वह संशय न था, सम्भावना की ओर इंगित था। महावीर सिर्फ सब सत्यों की सम्भावना की बात करते थे। उनका मतलब यह न था कि मुझे संशय है ईश्वर के होने-न-होने में। उनका मतलब था कि सम्भावना है ईश्वर के होने की भी, न होने की भी।

जो आदमी जितना बुद्धिमान् होता चला जाता है, उसके वक्तव्य उतना ही 'स्यात्' होते चले जाते हैं। वह कहता है, 'स्यात् ऐसा हो।' वह दावा नहीं करता कि ऐसा ही है। लेकिन उसकी बुद्धिमत्ता को समझने के लिए बुद्धिमान् ही चाहिए। जितने अधिक बुद्धिहीन दावे होंगे, उतनी ही अधिक बुद्धिहीनों की संख्या होगी।

महावीर संख्या इकट्ठी न कर सके। उनके लिए अनुयायियों की भीड़ एकत्र करना मुश्किल था, एकदम असम्भव था। वे किसको और कैसे प्रभावित करते ? आदमी आता है गुरु के पास कि उसे पक्का आश्वासन मिले, चिट्ठी मिले कि स्वर्ग में तुम्हारी जगह निश्चित रहेगी। गुरु पक्के वादे करे कि वह अपने शिष्य को नरक जाने से बचा लेगा। लेकिन महावीर का कोई भी दावा न था। इतना गैर दावेदार आदमी जो सत्य को अनेक कोणों से देखे, जगत् में हुआ ही नहीं। दुनिया में तीन सम्भावनाओं की स्वीकृति महावीर के पहले से चली आती थी। यदि कोई कहता कि यह घड़ा है तो इसका मतलब था कि (१) घड़ा है, (२) घड़ा नहीं है (मिट्टी है) और (३) घड़ा है भी, नहीं भी है। घड़े के अर्थ में घड़ा है; मिट्टी के अर्थ में नहीं भी है। इस प्रकार सत्य के तीन कोण हो सकते हैं—(१) है, (२) नहीं है, (३) दोनों—नहीं है और है। यह त्रिभंगी महावीर के पहले भी थी। लेकिन महावीर ने इसे सप्तभंगी बनाते हुए कहा कि तीन से काम चलने को नहीं। सत्य और भी जटिल है। इसमें चार 'स्यात्' और भी जोड़ने पड़ेंगे। यह अद्भुत बात थी, लेकिन साधारण आदमी की पकड़ के बाहर हो गई। महावीर ने चौथी भंगी जोड़ी और कहा, 'स्यात् अनिर्वचनीय (अवक्तव्य) है'—इसमें कुछ ऐसा भी है जो नहीं कहा जा सकता। घड़ा अणु भी है, परमाणु भी है, इलेक्ट्रोन है, प्रोटोन है, विद्युत् है। सब है और इन सबको

इकट्ठा कहना मुश्किल है। ('एक शब्द एक समय में विधि और निषेध में से एक का ही कथन कर सकता है। ऐसी अवस्था में वस्तु अवाच्य ठहरती है—उसे शब्द के द्वारा नहीं कहा जा सकता।'[1]) घड़ा-जैसी छोटी चीज भी इतनी ज्यादा है कि उसे अनिर्वचनीय कहना पड़ेगा। और एक बात तो पक्की है कि घड़े में जो 'है-पन' है, इग्जिस्टेन्स है, उसका जो होना है, वह तो अनिर्वचनीय है ही, क्योंकि 'है' की क्या परिभाषा हो सकती है? अस्तित्व का क्या अर्थ होगा? घड़े का भी अस्तित्व है और अस्तित्व अनिर्वचनीय है। अस्तित्व तो ब्रह्म है। इसलिए महावीर ने चौथी भंगी जोड़ी—'शायद घड़ा अनिर्वचनीय है।' पाँचवीं भंगी जोड़ी कि 'स्यात् है और अनिर्वचनीय है।' छटी भंगी छोड़ी कि 'स्यात् नहीं है और अनिर्वचनीय है' और अन्त में कहा कि 'स्यात् है भी और नहीं भी है और अनिर्वचनीय है।'

महावीर का यह कथन कि सत्य को सात कोणों से देखा जा सकता है, अद्-भुत है। सत्य को आठवें कोण से नहीं देखा जा सकता। सातवाँ अन्तिम कोण है, इसलिए सप्तभंग की सात दृष्टियों से सत्य को देखा जा सकता है। जो एक ही दृष्टि का दावा करता है, वह छह अर्थों में असत्य का दावा करता है।

चूँकि महावीर की बात जटिल थी, इसलिए उनके अनुयायी कम हुए। उन्होंने कहा—ईश्वर-ब्रह्म तो बड़ी बातें हैं, घड़े की भी व्याख्या नहीं हो सकती। घड़े में भी एक तत्त्व है, ऐसा अस्तित्व है जो उतना ही अव्याख्येय है, जितना ब्रह्म। लेकिन वे ऐसा भी नहीं कहते कि वह तत्त्व अव्याख्येय है। उनके लिए यह दावा भी ज्यादा हो जायगा। इसलिए उन्होंने कहा—'स्यात्', जिसका अर्थ 'शायद' नहीं है।[2] 'शायद' में सन्देह है—'स्यात्' में नहीं। स्यात् का अर्थ है—ऐसा भी हो सकता है, इससे अन्यथा भी हो सकता है। इस शब्द में दोनों बातें जुड़ी हुई हैं। पूरा सत्य जब भी बोला जायगा, इन्हीं भंगियों में बोला जायगा।

इतनी जटिल बात से श्रोताओं को आकर्षित करना बहुत कठिन था। इसलिए महावीर के अनुयायियों की संख्या न बढ़ सकी। महावीर के जीवन-काल में जो लोग उनसे प्रभावित हुए थे, उनकी सन्तति ही महावीर के पीछे अन्धों की तरह चलती

---

१. "उक्त चार वचन व्यवहारों को दार्शनिक भाषा में स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् सदसत् और स्यात् अवक्तव्य कहते हैं। सप्तभंगी के मूल यही चार भंग हैं। इन्हीं के संयोग से सात भंग होते हैं। अर्थात् चतुर्थ भंग 'स्यात् अवक्तव्य' के साथ क्रमशः पहले, दूसरे और तीसरे भंग को मिलाने से पाँचवाँ, छठा और सातवाँ भंग बनता है।" कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म (काशी), पृ० ६७-६८।

२. "कोई-कोई विद्वान् 'स्यात्' शब्द का प्रयोग 'शायद' के अर्थ में करते हैं। किन्तु शायद शब्द अनिश्चितता का सूचक है, जब कि स्यात् शब्द एक निश्चित अपेक्षावाद का सूचक है।" जैनधर्म, पृ० ६६।

रही है,—नए लोग नहीं आ सके। मगर जन्म से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए 'जैन' जैसी कोई चीज नहीं है दुनिया में। वह महावीर के साथ ही खत्म हो गई। जन्म से बने जैन लोगों के दावे सुनकर महावीर भी हँसते। ये तथाकथित जैन कहते हैं कि महावीर तीर्थंकर हैं। खुद महावीर कहते—'स्यात् हो भी सकता है, स्यात् नहीं भी हो सकता।' जन्म से जैन होना बिलकुल असम्भव है। जिस प्रकार जन्म से कोई सूफी नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिन बनने पर कोई जैन बन सकता है। जन्म से कोई मुसलमान हो सकता है, पर सूफी नहीं।

३

महावीर के तर्क के विपरीत अरस्तू का तर्क चीजों को तोड़कर अलग-अलग कर देता है। अरस्तू का तर्क कुछ इस प्रकार है—'अ' 'अ' है और 'अ' कभी 'ब' नहीं हो सकता। 'ब' 'ब' है, कभी 'अ' नहीं हो सकता। पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है। पुरुष स्त्री नहीं हो सकता, स्त्री पुरुष नहीं हो सकती। काला काला है, सफेद सफेद है; सफेद काला नहीं और काला सफेद नहीं। महावीर कहते कि 'अ' 'अ' भी हो सकता है, 'अ' 'ब' भी हो सकता है। यह भी हो सकता है कि 'अ' भी न हो, 'ब' भी न हो। और 'अ' अनिर्वचनीय है। स्त्री स्त्री भी है, पुरुष भी है। पुरुष पुरुष भी है, स्त्री भी है, पुरुष स्त्री भी हो सकता है और स्त्री पुरुष हो सकती है और अनिर्वचनीय भी है।

जिन्दगी उतनी सरल नहीं जितनी अरस्तू समझता था। जिन्दगी में न कोई चीज काली है और न सफेद। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ केवल अँधेरा हो और कोई स्थान ऐसा नहीं जो बिलकुल प्रकाशित हो। गहरे प्रकाश में भी अंधकार मौजूद रहता है और अंधेरी से अंधेरी जगह में भी प्रकाश होता है। जिन्दगी बिलकुल घुली-मिली है, तरल है। अरस्तू के तर्क से निकलता है गणित और महावीर के तर्क से उद्भुत होता है रहस्य। यदि महावीर से कोई पूछता कि जिस स्याद्वाद की आपने घोषणा की, क्या वह पूर्ण सत्य है तो वे कहते—'स्यात्'। इसमें भी वे 'स्यात्' का ही उपयोग करते। वे कभी यह दावा नहीं करते कि मैं तुम्हारा कल्याण कर सकूँगा। वे कहते थे : कोई किसी का कल्याण नहीं कर सकता, अपना कल्याण आप ही करना होगा। जब कोई कहता है कि 'मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें मोक्ष दिलाऊँगा' तब अनुयायी उसका अनुगमन करते हैं। मगर महावीर कहते थे : 'मेरी शरण में मोक्ष नहीं मिल सकता। कोई किसी की शरण से कभी मोक्ष नहीं पाता।' इसलिए ऐसे व्यक्ति का अनुगमन कौन करता ? स्वयं महावीर भी किसी को गुरु बनाना या किसी का गुरु बनना नही चाहते थे। इसलिए अनुयायी होने के सारे रास्ते उन्होंने तोड़ दिए। उनकी दृष्टि में सहगमन हो सकता है, अनुगमन नहीं हो सकता। इसलिए महावीर के अनुयायी उन्हें नहीं समझ सकते।

और महावीर के साथ होना बड़ी हिम्मत की बात है। पीछे होना सरल है। इन्हीं कारणों से महावीर के आसपास अनुयायियों की बड़ी संख्या उपस्थित न हो सकी। छोटी संख्या उपस्थित हुई और वह निरन्तर छोटी होती चली गई। अब उस शाखा में कोई प्राण नहीं रहा। मैं किसी का अनुयायी नहीं, फिर भी चाहता हूँ कि इसमें नए अंकुर लगें। पूजा से वृक्ष सूखते हैं। मैं चाहता हूँ कि इस वृक्ष को पूजा के बदले पानी दिया जाय, लोग महावीर की स्यात्-दृष्टि को समझें और इसे ठीक-ठीक प्रकट करें ताकि भविष्य में भी महावीर के वृक्ष के नीचे बहुत से लोगों को छाया मिल सके।

मेरा खयाल है कि स्यात् की भाषा रोज-रोज महत्त्वपूर्ण होती चली जायगी। विज्ञान ने उसे स्वीकार कर लिया है। आइंस्टीन की स्वीकृति बहुत अद्भुत है। अब तक समझा जाता था कि जो अन्तिम अणु है, परमाणु है वह एक बिन्दु है जिसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं। लेकिन प्रयोगों से अब पता चला है कि कभी तो वह अणु बिन्दु की तरह व्यवहार करता है और कभी लहर की तरह। इसलिए ऐसा लगता है कि वह स्यात् अणु है, स्यात् लहर है। उसके लिए एक नया शब्द गढ़ना पड़ा—'क्वाण्टा'। यह उसके लिए प्रयुक्त होता है जो दोनों है—बिन्दु भी और लहर भी।

४

कुछ लोगों का मत है कि सत्य की यात्रा अणुव्रत से प्रारम्भ होती है और महाव्रत में समाप्त हो जाती है। वे कहते हैं कि आज अगर केवल मूर्च्छा टूटना ही सब कुछ हो गया तो अणुव्रत और महाव्रत का भेद मिट जायगा, कोई क्रम नहीं रहेगा और चरित्र[1] का महत्त्व दर्शन ले लेगा।

इस सम्बन्ध में दो तीन बातें समझनी चाहिए। एक तो यह कि अणुव्रत[2] से

---

१. जैन शास्त्रों का एक महत्त्वपूर्ण विधान है—चारित्रधम्मो अर्थात् चारित्र ही धर्म है। चारित्र क्या है ? इसका उत्तर यह कहकर दिया गया है—

"असुहाओ विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।"

अर्थात्—अशुभ कर्मों से निवृत्त होना तथा शुभ कर्मों में प्रवृत्त होना चरित्र कहलाता है।

२. इनकी भी संख्या पाँच है—स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसंतोष, इच्छापरिमाण। श्रावक की आंशिक चरित्र-साधना ही अणुव्रत कहलाती है। इसका अर्थ है स्थूल, छोटा अथवा आंशिक व्रत। अणुव्रती उपासक सम्यक् चारित्र का पालन करने में असमर्थ होता है। वह मोटे तौर पर ही चारित्र का पालन करता है। जैन आचार के लेखक डॉ० मोहनलाल मेहता

कभी कोई महाव्रत[1] तक नहीं जाता। महाव्रत की उपलब्धि से अनेक अणुव्रत आप ही उपलब्ध हो जाते हैं। पूरे अहिंसक ढंग से जीने का अर्थ है महाव्रत—पूर्ण अपरिग्रह, पूर्ण अनासक्त। मूर्च्छा के टूटते ही महाव्रत उपलब्ध होता है। मूर्च्छा टूट जाय तो मन ही टूट जाता है, चीजों से लगाव छूट जाता है। यदि कोई कहे कि 'यह मकान मेरा है' तो उसकी मूर्च्छा इस 'मेरा' में होगी। मूर्च्छा मकान में सोने में नहीं है। मूर्च्छा टूटने का मतलब यह नहीं कि चीजें हट जायँ—अपरिग्रह का मतलब यह नहीं कि चीजें न हों।

एक सम्राट् किसी संन्यासी से बहुत प्रभावित था। उसने संन्यासी से कहा : 'मेरे पास इतने बड़े महल हैं, आप वहाँ चलें।' सम्राट् ने सोचा था कि संन्यासी इनकार कर देगा, परन्तु संन्यासी ने कहा : जैसी आपकी मर्जी।' और वह डंडा उठाकर खड़ा हो गया। सम्राट् को आश्चर्य हुआ। उसे ऐसा लगा मानों संन्यासी महल में रहने की प्रतीक्षा ही कर रहा था ! सम्राट् ने उसे अपना कमरा दिखाया और पूछा : 'आप यहाँ ठहर सकेंगे न ?' संन्यासी ने कहा : 'बिलकुल मजे से।' और संन्यासी राजा के मखमली गद्दे पर उसी तरह सोने लगा जैसे वह नीम के नीचे सोया करता था। छह सहीने बीत गए। एक दिन सम्राट् ने कहा : 'अब तो मुझमें और आपमें कोई भेद मालूम नहीं होसा। आप ही सम्राट् हो गए हैं, बिलकुल निश्चिन्त हैं, राजसी ठाटबाट का आनन्द लेते हैं।' संन्यासी ने उत्तर दिया : (फर्क जानना चाहते हो तो आगे चलो।' दोनों चल पड़े। बगीचा पार हो गया, राजधानी निकल गई। सम्राट् ने कहा : 'अब तो बताएँ, फर्क क्या है ?' संन्यासी ने और आगे चलने को कहा। अन्त में सम्राट् ने कहा : 'धूप चढ़ी जाती है और हम नदी के पार आ गए हैं। अब लौट चलें।' संन्यासी ने कहा : 'नहीं, अब मैं लौटूँगा नहीं। तुम भी मेरे साथ चलो।' सम्राट् ने उत्तर दिया : 'मैं कैसे जा सकता हूँ ? मेरा मकान, मेरा राज्य—इनका क्या होगा ?' संन्यासी ने कहा : 'तो तुम लौट जाओ, लेकिन हम जाते हैं। अगर फर्क दिख जाय तो देख लेना। मगर यह मत सोचना कि हम तुम्हारे महल से डर गए। अगर लौट चलने को कहोगे तो हम लौट चलेंगे। लेकिन तुम्हारी शंका फिर पैदा हो जायगी। इसलिए अब हम जाते हैं।'

के शब्दों में "श्रमण के अहिंसादि पाँच महाव्रतों की अपेक्षा लघु होने के कारण श्रावक के प्रथम पाँच व्रत अणुव्रत अर्थात् लघुव्रत कहलाते हैं" देखिए जैन आचार (१९६६), पृ० ८५–१०४।

१. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—

"पाणिवह—मुसावाया-अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।
राईओयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥"

उस संन्यासी का चित्त अपरिग्रही था। वह सम्राट् के महल में था, लेकिन महल उसमें न था, इसलिए वह उसे छोड़कर कहीं भी जा सकता था।

तो मेरा खयाल है कि महाव्रत से अणुव्रत फलित हो सकते हैं, लेकिन अणुव्रतों के जोर से कभी महाव्रत नहीं निकलता, क्योंकि अणुव्रत की कोशिश मूर्च्छित चित्त की कोशिश है। और, कोई महाव्रत की कोशिश नहीं कर सकता। वह तो अमूर्च्छा आते ही उपलब्ध हो जाता है। महाव्रत अभ्यास से नहीं आ सकता। तुम्हारी मूर्च्छा टूट जाय तो वह फलित हो जाता है, तुम्हारा चित्त महाव्रती हो जाता है। आम तौर पर साधक की कोशिश यही रहती है कि वह अणुव्रत से चले और महाव्रत पर पहुँच जाय। मगर वह कभी नहीं पहुँच पाता। महाव्रत विस्फोट है।

महावीर महाव्रती थे। उनकी तीन देशनाएँ थीं : सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र। लेकिन उनके अनुयायी इसे उलट देते हैं और कहते हैं कि पहले चारित्र साधो। फिर ज्ञान स्थिर होगा; जब ज्ञान स्थिर होगा तब दर्शन की क्षमता उपलब्ध होगी। नहीं, सम्यक् दर्शन पहले हो। दर्शन से ज्ञान फलित होता है और जब ज्ञान प्रकट होता है तब चारित्र आता है। चारित्र अन्तिम है, प्रथम नहीं। साधना ध्यान और समाधि की है। दर्शन उसका फल है। दर्शन से ज्ञान निर्मित होगा और ज्ञान से सम्यक् आचरण। वह आचरण किस रूप में प्रकट होगा ? चूँकि आचरण बहुत-सी चीजों पर निर्भर है, इसलिए वह कई रूपों में हो सकता है। क्राइस्ट में एक तरह का होगा, कृष्ण में दूसरी तरह का और महावीर में तीसरी तरह का। दर्शन बिलकुल एक होगा, पर ज्ञान में भेद पड़ जायगा क्योंकि उस दर्शन को ज्ञान बनानेवाला प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग है। ज्ञान आचरण बनेगा और वह भिन्न-भिन्न अनुभूति-उपलब्ध व्यक्तियों में अलग-अलग होगा। जैसे—अगर आज महावीर न्यूयॉर्क में पैदा हों तो वहाँ वे नंगे न होंगे। जिस स्थिति में उनका जन्म हुआ था, उसमें नग्नता पागलपन का पर्याय नहीं थी, संन्यास का पर्याय थी।

प्रश्न है कि अगर ऐसी बात है तो क्या महावीर उत्तरी ध्रुव में मांस भी खा सकते थे? सम्भव है। लेकिन, चूंकि उन्हें मूक जगत् से सम्बन्ध स्थापित करना था, इसलिए वे ऐसा न करते। मांस खाने से मोक्ष का कोई विरोध नहीं है, लेकिन अगर वे मांस खाते तो केवल मनुष्यों से ही सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे और वह सम्बन्ध भी बहुत शुद्ध सम्बन्ध नहीं होता——उसमें भी थोड़ी बाधाएँ होतीं। पूर्ण शुद्ध सम्बन्ध के लिए पूर्ण अवैर साधना अनिवार्य होता है। इसलिए मैं अहिंसा को मोक्ष-प्राप्ति का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानता। अहिंसा अनिवार्य तत्त्व है मनुष्य के नीचे की योनियों से सम्बन्ध स्थापित करने का।

मैं कहता हूँ कि चरित्र तो समाज, लोक व्यवहार, स्थिति, युग, नीति-व्यवस्था, राज्य——इन सब पर निर्भर होता है। वह आता है सम्यक् दर्शन से, लेकिन प्रकट

होता है समाज में। मेरी दृष्टि में 'बेसिक मॉरैलिटि' जैसी कोई चीज नहीं। सत्य भी अनुभूति का, दर्शन का हिस्सा है, चरित्र का नहीं। यदि महावीर भी मुहम्मद की जगह होते तो, मैं मानता हूँ, वे विवाह करते। उस स्थिति में वही नैतिक तथ्य हो जाता। मुहम्मद के लिए ब्रह्मचर्य की कल्पना बहुत मुश्किल थी; अगर वे ब्रह्मचर्य की बात करते तो अरब मुल्क सदा के लिए नष्ट हो जाता। वे प्रत्येक व्यक्ति को चार-चार विवाह करने की सलाह देते हैं और उदाहरण पेश करने के लिए स्वयं नौ विवाह करते हैं। मैं जिस बात पर बल दे रहा हूँ वह यह है कि मैं चरित्र को केन्द्र नहीं मानता, परिधि मानता हूँ। दर्शन को केन्द्र मानता हूँ। दर्शन-ज्ञान ही चरित्र है। चरित्र साधने से ज्ञान नहीं होता। किसी के आचरण का हिसाब ही मत रखो—यह सम्यक् दृष्टि नहीं है। दर्शन कसे उपलब्ध हो, इसकी फिक्र करो। दर्शन का हमें खयाल नहीं रह गया, इसलिए हम चरित्र की फिक्र करते हैं। विचारणीय है दर्शन। और दर्शन, काल एवं परिस्थिति से आबद्ध नहीं है। वह कालातीत है, क्षेत्रातीत है। जब भी तुम्हें दर्शन होगा तो वही होगा जो किसी दूसरे को हुआ है।

अब प्रश्न उठता है—क्या आज का ज्ञान भी पुराने ज्ञान से भिन्न होगा? जैसा कि मैंने कहा, दर्शन भर अलग नहीं होगा क्योंकि वह शुद्धतम है, परन्तु ज्ञान अलग होगा, क्योंकि आज की भाषा बदल गई है, सोचने के ढंग बदल गए हैं। जब अरविंद बोलेंगे तब उसमें डार्विन मौजूद रहेगा। महावीर की भाषा अरविंद की भाषा से भिन्न होगी, क्योंकि महावीर को डार्विन का कोई पता न था। वे डार्विन की भाषा नहीं बोल सकते और न मार्क्स की। लेकिन अगर मैं बोलूँगा तो मार्क्स की भाषा बीच में आयगी ही। मैं कहूँगा, शोषण पाप है, महावीर नहीं कह सकते यह, क्योंकि उनके युग में शोषण के पाप होने की धारणा ही न थी। धन शोषण है, चोरी है—यह धारणा गत तीन सौ वर्षों में पैदा हुई है। महावीर को हम इस कारण कमजोर नहीं कह सकते कि उन्हें विकास की भाषा का पता नहीं था। वह भाषा थी ही नहीं। आनेवाले हजार वर्षों में भाषा फिर बदलेगी, आज भी बदल रही है। इसी बदली हुई भाषा में फिर ज्ञान प्रकट होगा। अभिव्यक्ति के माध्यम बदल जायँगे। पुरानी भाषाएँ ही काव्यात्मक थीं। आजकल की भाषा वैज्ञानिक है। आजकी कविता भी गणित के सवाल की तरह मालूम होती है, बिलकुल गद्य है। पुराना गद्य भी पद्य था : नया पद्य भी गद्य है।

लोग पूछते हैं कि महावीर की नग्नता उनके चरित्र का ही एक अंग है या उनके दर्शन का? महावीर की नग्नता उनके ज्ञान का अंग है, चरित्र का नहीं। अगर किसी को विस्तीर्ण ब्रह्माण्ड से मूक जगत् से सम्बन्धित होना है तो उसके लिए वस्त्र बाधा है। महावीर को इस तथ्य की जानकारी हो गई थी कि मुझे जो कुछ अभिव्यक्त करना है वह ब्रह्मांड से एक होकर ही किया जा सकता है। इसलिए नग्न होकर उन्होंने एक तरह का तादात्म्य साधा है।

मेरा भी विचार है कि वस्त्र बाधा बनता है और प्रत्येक वस्त्र अलग तरह की बाधा और सुविधा उपस्थित करता है। रेशमी वस्त्र से कामोत्तेजना बढ़ती है। वह स्त्री जिसने रेशमी वस्त्र पहन रखा है, काम को अधिक उत्तेजित करती है। सूती या खादी वस्त्र से ऐसा नहीं होता। इस सम्बन्ध में ऊनी वस्त्र बहुत अद्‌भुत हैं। आपने देखा होगा कि सूफी फकीर ऊनी कपड़े ही पहनते हैं। सूफ का मतलब ही ऊन होता है। ऊनी वस्त्र भिन्न-भिन्न प्रकार की लहरों से सुरक्षित रहता है, शरीर की गर्मी को बाहर जाने नहीं देता। उसमें गर्मी-जैसी कोई चीज नहीं होती। सिर्फ भीतर रुकी हुई गर्मी ऊनी वस्त्र को गर्म रखती है। अनुभव बतलाता है कि न केवल गर्मी को बल्कि और तरह के सूक्ष्म अनुभवों को भी ऊनी वस्त्र रोकने में सहयोगी होता है। जिन्हें किसी गुह्य (एसोटेरिक) विज्ञान में काम करना हो उनके लिए ऊनी वस्त्र बहुत उपयोगी है।

तो ध्यान रहे कि महावीर की नग्नता उनके ज्ञान का हिस्सा है, चरित्र का नहीं। इसलिए जो लोग उसे चरित्र का हिस्सा समझकर नग्न खड़े हो जाते हैं, वे बिलकुल पागल हैं। यदि नग्नावस्था में महावीर के शरीर में कुछ तरंगें पैदा होती थीं तो हवाएँ उन लहरों को लेकर यात्रा कर जाती थी। कपड़ों में वे लहरें भीतर रह जातीं। सूफी जान-बूझकर ऊनी वस्त्र पहनते हैं; महावीर को भी नग्नता के महत्त्व की जानकारी थी और उस युग की चरित्र-व्यवस्था नग्न खड़े होने की सुविधा देती थी। हर युग में महावीर नग्न खड़े नहीं हो सकते। बम्बई और न्यूयॉर्क-जैसे नगरों में आज नग्न खड़ा होना मुश्किल है। नग्न आदमी को सड़क पर निकलने के लिए गवर्नर की अनुमति चाहिए। न्यूयॉर्क में नग्न व्यक्ति बिलकुल पकड़ लिया जायगा, बन्द कर दिया जायगा।

५

मैंने कहा कि महावीर पिछले जन्म में सिंह थे और उन्हें सत्य की जो अनुभूति हुई वह भी पिछले जन्म में ही हुई। तो क्या पशु-योनि में भी मुक्त हुआ जा सकता है? मैं इसकी सम्भावना का निषेध नहीं करता। हाँ, आज तक ऐसा नहीं हुआ कि कोई पशु योनि में जन्म लेकर मुक्त हो जाय। अतः महावीर को सत्य का जो अनुभव हुआ होगा वह मनुष्य जन्म में ही हुआ होगा। किसी दिन जब मनुष्ययोनि बहुत विकसित हो जायगी और इसमें मुक्त होना सरल हो जायगा तब नीचे के योनियों में भी मुक्त की एक-दो घटनाएँ घटने लगेंगी। मगर अब तक मनुष्ययोनि को छोड़कर किसी दूसरी योनि में ऐसी घटना नहीं घटी हैं। इसलिए मैंने जो 'पिछले जन्म' का प्रयोग किया, उसका मतलब ठीक पिछला जन्म नहीं है।

देवयोनि में भी मुक्ति की घटना नहीं हो सकती। पशुयोनि में कभी हो सकती है, निषेध नहीं है, लेकिन देवयोनि में इसकी सम्भावना नहीं। निषेध का कारण है कि देवयोनि में एक तो शरीर नहीं है और दूसरे वह मनोयोनि है। और स्मरण

रहे कि शरीर भी साधना में अनिवार्य कड़ी है। जिस प्रकार पशुओं में बुद्धि न होने से यह घटना मुश्किल हो गई है, उसी प्रकार देवताओं में शरीर न होने से मुश्किल हो गई है। पशुओं में कभी बुद्धि विकसित हो सकती है, मगर देवताओं को कभी शरीर मिले, इसकी सम्भावना नहीं है। मुक्ति के लिए पशुओं को मनुष्य तक आना पड़ता है और देवताओं को पुनः मनुष्य तक लौटना पड़ता है।

हो सकता है कि मेरे कहने से आपको ऐसा भी लगे कि महावीर का तादात्म्य जब जड़ के साथ है, वृक्ष के साथ है तो मनुष्यों के साथ नहीं है। और आप ऐसा भी सोच सकते हैं कि जब तादात्म्य होता है तब सबके साथ होता है, अलग-अलग नहीं। मेरा कहना है कि जब तादात्म्य पूर्ण होता है तभी वह सबके साथ होता है। ऐसी अवस्था मोक्ष में ही होती है। लेकिन महावीर तो उन विभूतियों में हैं जो परिपूर्ण मोक्ष पाने के पहले ही वापस लौट आये हैं। पूर्ण तादात्म्य होता तो महावीर नहीं रह जाते। जो मुक्त हो जाता है वह परमात्मा का हिस्सा हो जाता है और परमात्मा कोई संदेश पहुँचाने नहीं आता। संदेश पहुँचाने के लिए महावीर लौट आते हैं वापस। ज्ञान पूरा हो गया है, लेकिन अभी डूब नहीं गए हैं सागर में। इस हालत में तादात्म्य सबसे नहीं होता। वह एक विशिष्ट दिशा में एक साथ एक बार होगा। दूसरी दिशा में दूसरी बार होगा। मोक्ष में सबके साथ युगपत् होगा। मोक्ष होते ही किसी व्यक्ति का कोई व्यक्तित्व नहीं रह जाता। गंगा गिर जाती है सागर में। फिर भी उसका कण-कण मौजूद है सागर में। वह खो गई है सागर में, मिट नहीं गई। जो था वह अब भी है, केवल सीमा नहीं रह गई। हाँ, कुछ ऐसी विधियाँ हैं जिनके सहारे हम चाहें तो सागर-तट पर गंगा को पुकारें और उसके वे अणु जो अनन्त सागर में खो गए हैं, उस तट पर इकट्ठे हो जायँ। वे सब सागर में मौजूद हैं। इसी तरह चेतना के महासागर में महावीर-जैसा व्यक्ति खो गया है। लेकिन उनके अणु आपको उत्तर दे सकते हैं। जरूरत है कि आप उन्हें अनन्त के किनारे खड़े होकर पुकारें, उनके द्वारा छोड़े गए संकेतों का उपयोग करें। जो लोग खो जाते हैं अनन्त में, वे ही उपाय भी छोड़ जाते हैं पीछे। यह भी सच है कि सभी नहीं छोड़ते। यह उनकी मर्जी पर निर्भर है कि वे छोड़ें या न छोड़ें। महावीर उनमें हैं जो निश्चित ही छोड़ गए हैं। उस उपाय से ही उनसे सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। महावीर का कोई व्यक्तित्व नहीं रहा लेकिन उत्तर आ जाता है उस अनन्त से। ब्लेवटस्की ने करीब-करीब सभी शिक्षकों से सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की थी। उनमें महावीर भी एक हैं। ब्लेवटस्की थियोसॉफिकल सोसायटी की जन्मदात्री है। उसके साथ अल्काट और एनी बेसेंट ने भी सम्बन्ध स्थापित किए थे। लेकिन वे सब मर चुके हैं। अब कोई भी ऐसा नहीं जो पुराने शिक्षकों से सम्बन्ध स्थापित कर सके। मैं चाहता हूँ कि इधर कुछ लोग उत्सुक हों तो बराबर इस विधि पर काम करवाया जाय। इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

चतुर्थ अध्याय

सामायिक, प्रतिक्रमण और चारित्र

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुहपडिकूला, अप्पियवहा
पियजीविणो जीविउकामा णातिवाएज्ज कंचणं ।[1]

—आचारांग १. २. ३

१

महावीर ने मूक जगत् के साथ तो सम्बन्ध स्थापित किया ही था, उन्होंने देवताओं तक भी अपनी बात पहुँचाई थी । मगर देव-जैसी किसी हस्ती की स्वीकृति हमें बहुत कठिन मालूम पड़ती है । जो हमें दिखाई पड़ता है, वही हमारे लिए सत्य प्रतीत होता है । देव उस अस्तित्व का नाम है जो हमें साधारणतः दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन यदि थोड़ा-सा भी श्रम किया जाय तो उस लोक के अस्तित्व को भी देखा जा सकता है । उससे सम्बद्ध भी हुआ जा सकता है । जहाँ हम रह रहे हैं, ठीक वहीं देव भी हैं और प्रेत भी । प्रेतात्माएँ इतनी निकृष्ट हैं कि उन्होंने मनुष्य होने की सामर्थ्य खो दी है । देवात्माएँ मनुष्य से ऊपर उठी आत्माएँ हैं जिनमें मोक्ष को उपलब्ध करने की सामर्थ्य नहीं है । ये सारी आत्माएँ ठीक हमारे साथ हैं, किसी चाँद पर नहीं । इसलिए कभी-कभी वे हमारा स्पर्श भी करती हैं और किन्हीं छाहों में दिखाई भी पड़ती हैं । परन्तु साधारणतः ऐसा नहीं होता क्योंकि हमारा और उनका अलग-अलग अस्तित्व है । एक ही कमरे में प्रकाश भी हो सकता है और सुगंध भी । उसमें वीणा की ध्वनि भी गूँज सकती है । जिस प्रकार ये एक-दूसरे को नहीं काटते, उसी प्रकार देवता, प्रेत और मनुष्य एक ही जगत् में रहकर भी एक-दूसरे की जगह घेरने का काम नहीं करते । उनका अस्तित्व हमारे अस्तित्व के ठीक समानान्तर है और वे हमारे साथ जीते हैं । महावीर या उनके जैसे व्यक्तियों के जीवन के साथ उनका निरन्तर सम्बन्ध और सम्पर्क रहा है जिसे परम्पराएँ समझने में एकदम असमर्थ हैं । उनकी बातचीत वैसे ही होती है जैसे दो व्यक्तियों के बीच होती है । महाबीर, इन्द्र या और देवता किसी कल्पनालोक में बातें नहीं करते । वे बिलकुल आमने-सामने मिलते और बातें करते हैं ।

---

१. सभी प्राणियों को अपना-अपना जीवन प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुख सबके प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, जीवन प्रिय है, सब जीने की कामना करते हैं । इसलिए किसी को मारना या कष्ट देना नहीं चाहिए ।

इसमें सन्देह नहीं कि उनसे—देवलोक से, प्रेतात्माओं से—सम्बन्धित होने का जो मार्ग है वह हमारे भीतर है और आज प्रसुप्त है। मनुष्य के मस्तिष्क का शायद एक तिहाई भाग काम कर रहा है। इससे वैज्ञानिक भी चिन्तित हैं। उनका खयाल है कि यदि हमारे मस्तिष्क का वह बड़ा हिस्सा जो निष्क्रिय पड़ा है, सक्रिय हो जाय तो नई इन्द्रियों का खुलना शुरू हो जायगा और जीवन तथा अस्तित्व की अनन्त सम्भावनाओं से हमारे सम्बन्ध जुड़ने शुरू हो जायँगे। तीसरी आँख की बात हम निरन्तर सुनते रहे हैं। अगर वह हिस्सा जो हमारी दोनों आँखों के बीच निष्क्रिय पड़ा है, सक्रिय हो जाय—हमारी तीसरी आँख खुल जाय—तो हम कुछ ऐसी बातें देखना शुरू कर देंगे जिनकी हमें आज कल्पना तक नहीं है। वह तीसरी आँख रेडार से भी अद्‌भुत होगी। उसके लिए स्थान और काल के परदे न होंगे। वह भविष्य की बहुत-सी सम्भावनाओं को पकड़ सकेगी, दूसरे के मन में चलनेवाले विचारों की झलक पा लेगी। मस्तिष्क का एक हिस्सा जो आज निष्क्रिय पड़ा है, वह सक्रिय होते ही हमें देवलोक से जोड़ सकती है। स्विडनबोर्ग नामक एक व्यक्ति ने अपनी पुस्तक 'स्वर्ग और नरक' में देवताओं के सम्बन्ध में बहुत अद्‌भुत बातें कही हैं। यूरप में देवलोक के सम्बन्ध में जानकारी रखनेवाला पहला आदमी वही था। उसने अपनी पुस्तक में आँखों देखे वर्णन दिए हैं।

पिछले विश्वयुद्ध में एक व्यक्ति रेलगाड़ी से गिर पड़ा और गिरते ही उसके मस्तिष्क का एक निक्रिय भाग सक्रिय हो गया। उसे दिन में तारे दिखाई पड़ने लगे। बाद में डाक्टरों ने उसके सिर का ऑपरेशन किया ताकि उसे दिन में तारे न दिखाई पड़ें। इसी प्रकार एक अन्य व्यक्ति को दूसरे महायुद्ध में ही चोट लगी और वह अस्पताल लाया गया। उसे महसूस हुआ कि उसके कान रेडियो की भाँति ध्वनियाँ पकड़ने लगे हैं। उस आदमी के पागल होने की नौबत आ गई।

शायद हमें पता नहीं कि हमारे मस्तिष्क की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। महावीर को पता था कि देवलोक से सम्बन्धित होने के लिए मस्तिष्क में एक विशेष हिस्सा है जिसका सक्रिय होना जरूरी है। प्रश्न है कि यह हिस्सा सक्रिय कसे हो? इस सम्बन्ध में पहली बात यह है कि अगर कोई व्यक्ति समग्र चेतना से, अपने सारे शरीर को छोड़कर सिर्फ दोनों आँखों के बीच आज्ञाचक्र पर ध्यान स्थिर करता रहे तो जहाँ हमारा ध्यान स्थिर होता है वहीं सोए हुए केन्द्र तत्काल सक्रिय हो जाते हैं। **ध्यान सक्रियता का सूत्र है।** शरीर में किन्हीं भी केन्द्रों पर ध्यान स्थिर करने से वे केन्द्र सक्रिय हो जाते हैं। उदाहरण के लिए 'सेक्स सेन्टर' को ही लें। जैसे ही आप का ध्यान यौन-केन्द्र की तरफ जायगा, वह केन्द्र तत्काल सक्रिय हो जायगा। सिर्फ ध्यान जाने से ही. स्वप्न में भी, जरा सी कल्पना उठते ही सेक्स वासना का केन्द्र सक्रिय हो जाता है। आज्ञाचक्र वह जगह है जिसे दूसरे लोग 'तीसरी आँख' भी कहते

हैं। अगर सारा ध्यान वहाँ केन्द्रित हो जाय तो भीतर करीब-करीब एक आँख के बराबर का एक टुकड़ा बिलकुल खुल जाता है।

जिसे हम महावीर का साधना काल कहते हैं वह अभिव्यक्ति के माध्यम खोजने में और इस तरह के केन्द्रों को सक्रिय करने और तोड़ने में व्यतीत हुआ। इस तरह के केद्रों को तोड़ने में जितना ज्यादा ध्यान बिना बाधा के दिया जा सके उतना उपयोगी है। यही वजह है कि महावीर को बहुत लम्बे अरसे तक खाना, पीना, सोना आदि सारे काम त्यागने पड़े थे। चोट सतत और सीधी होनी चाहिए। बीच में कोई बाधा न आए। बीच में दूसरी बात आयगी तो ध्यान वहीं जायगा। और ध्यान दूसरी जगह गया कि जो काम हुआ था वह अधूरा छूट जायगा। वह अधूरा न छूट जाय, इसलिए जीवन के सारे कामों से—जो बीच में बाधाएँ उपस्थित कर सकते हैं—ध्यान हटाना पड़ेगा। तभी किसी केन्द्र को पूरी तरह सक्रिय किया जा सकता है।

ध्यान रहे कि महावीर की अधिकतम साधना खड़े-खड़े हुई है, जब कि दूसरे साधकों ने बैठकर साधना की है। महावीर के ध्यान का प्रयोग भी खड़े-खड़े करने के लिए है। इसका कारण यह है कि बैठा या लेटा हुआ आदमी सो सकता है। और अगर एक क्षण भी ध्यान वहाँ से हट जाय तो पहला काम विलीन हो जाता है। जिस चक्र को सक्रिय करना हो उस पर सतत काम होना चाहिए। वह काम खड़े होकर ही किया जा सकता है। निद्रा से बचने के लिए ही महावीर ने भोजन करना छोड़ दिया था। नींद का पचहत्तर प्रतिशत भोजन से सम्बन्धित है। जो लोग आज्ञाचक्र पर काम करते हों और जिनका ध्यान उस पर लगा हो, उनकी शक्ति नीचे नहीं आनी चाहिए। यदि पेट भरा हो तो मस्तिष्क की शक्ति उतर जाती है नीचे। सत्य की अनुभूति से वह चक्र नहीं खुल जाता। हाँ, उस अनुभूति को उस चक्र के माध्यम से प्रकट करना हो तो उसे खोलने की जरूरत पड़ती है। आज्ञाचक्र के खुलने से ही देवताओं से जुड़ा जा सकता है। भाव जो भीतर पैदा होते हैं वे आज्ञाचक्र से प्रतिध्वनित हो जाते हैं और देव-चेतना तक प्रवेश कर जाते हैं।

मैंने दो बातें कहीं। जड़ से सम्बन्धित होना हो तो चेतना इतनी शिथिल हो जानी चाहिए कि जड़ के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाय और यदि मनुष्य से ऊपर की योनियों से सम्बन्धित होना हो तो चेतना इतनी एकाग्र होनी चाहिए कि आज्ञा-चक सक्रिय हो जाय—तीसरी आँख खुल जाय।

सम्मोहन के द्वारा सन्देश कैसे पहुँचाया जाय, इसके लिए भी महावीर ने वर्षों तक काम किया था। लेकिन उन्होंने इस विधि का उपयोग नहीं किया, क्योंकि उन्हें पता था कि सम्मोहन के द्वारा सन्देश तो पहुँच जाते हैं लेकिन दूसरे व्यक्ति को कुछ सूक्ष्म नुकसान भी हो जाता है। उसकी तर्क-शक्ति क्षीण हो जाती है, वह परवश

हो जाता है और धीरे-धीरे दूसरे के हाथ में जीने लगता है। मैंने भी इधर सम्मोहन पर कई प्रयोग किए। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि सम्मोहित व्यक्ति में कोई बात आसानी से प्रवेश कराई जा सकती है। लेकिन मैं भी इसी नतीजे पर पहुँचा कि जिस व्यक्ति पर सम्मोहन के प्रयोग होते हैं और जिसमें सम्मोहन की अवस्था में कोई बात प्रवेश कराई जाती है, वह व्यक्ति ऐसे जीने लगता है जैसे उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। रामकृष्ण ने विवेकानन्द को जो पहला सन्देश दिया था, वह सम्मोहन की विधि से दिया था। रामकृष्ण के स्पर्शमात्र से विवेकानन्द को समाधि का अनुभव हो गया था। मरने के तीन दिन पहले भी उन्हें ऐसा ही अनुभव हुआ था। वह अनुभव भी विवेकानन्द का अपना न था। उसमें विवेकानन्द की अपनी कोई उपलब्धि न थी। चूँकि वे रामकृष्ण से बँधे थे, इसलिए बहुत चिन्तित, दुखी और परेशान रहते।

अब प्रश्न उठता है कि अगर महावीर ने सम्मोहन की प्रक्रिया का उपयोग नहीं किया तो रामकृष्ण ने क्यों किया? इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि रामकृष्ण वाणी में असमर्थ थे और वाणी के लिए विवेकानन्द को साधन की तरह उपयोग करना जरूरी था। नहीं तो रामकृष्ण ने जो जाना था, वह खो जाता। इसलिए मैं कहता हूँ कि विवेकानन्द सिर्फ रामकृष्ण के ध्वनि-विस्तारक यंत्र हैं, इससे ज्यादा नहीं। महावीर को ऐसी कोई कठिनाई न थी। उनके पास रामकृष्ण के अनुभव थे और विवेकानन्द की सामर्थ्य भी। इसलिए दो व्यक्तियों की जरूरत न पड़ी। एक ही व्यक्ति काफी था। इसी प्रकार गुरजिएफ ने ऑस्पेंस्की का उपयोग किया था। गुरजिएफ के पास वाणी न थी; ऑस्पेंस्की के पास वाणी थी, बुद्धि थी, तर्क था। महावीर के पास गुरजिएफ की साधना थी और ऑस्पेंस्की की वाणी, बुद्धि और तर्क भी। उनके पास भी सम्मोहन का साधन था, लेकिन उन्होंने देखा कि वह साधन व्यक्ति को नुकसान पहुँचाता है। वे ध्यान को उपलब्ध थे, इसलिए मौन में ही संवाद संप्रेषित कर लेना उनके लिए सहज सुगम था। उनके लिए शब्दों के उपयोग की आवश्यकता ही न थी। वस्तुतः शब्द सबसे असमर्थ चीज हैं। मौन में जो कहा जाय, वह पहुँच जाता है; जो कहा ही नहीं जा सकता, बल्कि केवल समझा जा सकता है, वह भी पहुँच जाता है।

इसलिए महावीर के भक्तों को श्रावक कहते हैं—श्रावक यानी ठीक से सुननेवाला। सुनते हम सभी हैं और इसलिए, इस अर्थ में, हम सभी श्रावक हैं। किन्तु हम उस अर्थ में श्रावक नहीं हैं जिस अर्थ में महावीर के सच्चे भक्त इसका प्रयोग करते हैं। **श्रावक वह है जो ध्यान की स्थिति में बैठकर सुन सके**—उस स्थिति में जहाँ उसके मन में कोई विचार न हों, शब्द न हों, कुछ भी न हो। मौन में बैठकर जो सुन सके वही सच्चा श्रावक है और ऐसे व्यक्ति द्वारा होनेवाली सुनने की क्रिया को ही सम्यक्

श्रवण कहते हैं। श्रावक हम तब होते हैं जब हम सिर्फ सुनते हैं और हमारे भीतर कुछ भी नहीं होता।

महावीर की सतत चेष्टा इसमें लगी कि मनुष्य श्रावक कैसे बने—वह कैसे सुन सके। वह तभी सुन सकता है जब उसके चित्त की सारी विचार-परिक्रमा ठहर जाय। फिर बोलने की जरूरत नहीं, वह सुन लेगा। ऐसी बोली जो बोली तो न गई हो पर जिसे सुना गया हो, 'दिव्य ध्वनि' की संज्ञा पाती है। ऐसी ध्वनि बोली नहीं जाती, लेकिन सुनी जाती है, दी नहीं जाती लेकिन पहुँच जाती है। सिर्फ भीतर उठती है और सम्प्रेषित हो जाती है। और स्मरण रहे कि श्रोता कान से सुनता है, श्रावक अपने पूरे प्राणों से सुनता है। महावीर ने सम्यक् श्रवण की, श्रावक बनने की, कला विकसित की। यह बड़ी से बड़ी कला है जगत् में। क्राइस्ट-जैसी महान् आत्माएँ भी लोगों को समझा न पाईं। उन्होंने सिर्फ इसकी फिक्र की कि मैं ठीक-ठीक कहूँ, इसकी फिक्र नहीं की कि लोग ठीक-ठीक सुन सकें। मुहम्मद ने इसकी फिक्र न की कि उनके श्रोता केवल सुने ही नहीं, सम्यक् श्रवण भी करें। उन्होंने केवल इसकी फिक्र की कि मैं जो कह रहा हूँ वह ठीक हो। लेकिन कहना ही ठीक होने से कुछ नहीं होता, सुननेवाला भी ठीक होना चाहिए। नहीं तो कहना व्यर्थ हो जाता है।

इसलिए श्रावक बनने की कला को मैं महावीर की दूसरी बड़ी देनों में मानता हूँ।

२

जिसे 'प्रतिक्रमण'[1] (शास्त्रों में 'पडिक्कण') कहा जाता है, वह भी श्रावक बनाने की कला का एक हिस्सा है। 'आक्रमण' का अर्थ होता है—दूसरे पर हमला करना;

---

१. द्रष्टव्यः

पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहिय-वयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु अपुहत्ते सुप्पणिहिये विहरइ॥ (उत्त० अ० २९, गा० ११)

'हे भगवान् ! प्रतिक्रमण से जीव क्या उपार्जन करता है ?'

'हे शिष्य ! प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रों को ढँकता है और इस तरह व्रतों के छिद्रों को ढँकने से वह जीव आस्रव रोकनेवाला होता है। साथ ही शुद्ध चरित्रवान् और अष्टप्रवचन-माता के प्रति उपयोग वाला बनता है तथा समाधिपूर्वक संयममार्ग में विचरण करता है।' दे० पं० धीरजलाल शाह 'शतावधानी', श्री महावीर-वचनामृत (सं० २०१९), पृ० ३६७-३६८।

पंडित सुखलालजी के अनुसार 'प्रतिक्रमण का मतलब पीछे लौटना है--एक स्थिति में जाकर फिर मूल स्थिति को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।' (दर्शन और चिन्तन, पृ० १७९) 'सामान्य रीति से प्रतिक्रमण (१) द्रव्य और (२) भाव, यों दो

प्रतिकमण का अर्थ होता है—सभी हमलों को लौटा लेना। हमारी चेतना साधारणतः आक्रामक है। प्रतिक्रमण आक्रमण का उलटा है। इसका अर्थ है—सारी चेतना को समेट लेना। जिस प्रकार शाम को सूर्य अपनी किरणों के जाल को समेट लेता है, उसी प्रकार अपनी फैली हुई चेतना को मित्र, शत्रु, पत्नी, बेटे, मकान धन आदि से वापस बुलालेना। जहाँ-जहाँ हमारी चेतना ने खूँटियाँ गाड़ दी हैं और वह फैल गई है, वहाँ-वहाँ से उसे वापस बुला लेना है। प्रतिक्रमण ध्यान का पहला चरण है, सामायिक[1] इसका दूसरा चरण। सामायिक ध्यान से भी अद्‌भुत शब्द है। 'ध्यान' शब्द किसी-न-किसी रूप में पर-केन्द्रित है—इसमें किसी पर या कहीं ध्यान के होने का भाव छिपा है। यह कहने पर कि 'ध्यान में जाओ', यह जिज्ञासा होती है कि पूछूँ—किस के ध्यान में जाऊँ? किस पर ध्यान करूँ, कहाँ ध्यान लगाऊँ? समय का मतलब होता है आत्मा और सामायिक का मतलब होता है आत्मा में होना। प्रतिक्रमण है पहला हिस्सा (दूसरे से लौट आओ), सामायिक है दूसरा भाग (अपने में हो जाओ)। जबतक दूसरे से नहीं लौटोगे तब तक अपने में होओगे कैसे? इसलिए पहली सीढ़ी प्रतिक्रमण की है और दूसरी सीढ़ी सामायिक की। लेकिन वह, जो बकवास प्रतिक्रमण के नाम से चलता है, वह प्रतिक्रमण नहीं है।

महावीर ने ध्यान शब्द का प्रयोग नहीं किया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ध्यान शब्द ही दूसरे का इशारा करता है। लोग पूछते हैं—हम ध्यान

प्रकार का है। भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं। द्रव्य प्रतिक्रमण वह है, जो दिखावे के लिए किया जाता है। दोष का प्रतिक्रमण करने के बाद भी फिर से उस दोष को बार-बार सेवन करना, यह द्रव्यप्रतिक्रमण है। इससे आत्मशुद्धि के बदले ढिठाई द्वारा और भी दोषों की पुष्टि होती है। इस पर कुम्हार के बर्तनों को कंकर द्वारा बार-बार फोड़कर बार-बार माफी माँगनेवाले एक क्षुल्लक-साधु का दृष्टांत प्रसिद्ध है।' (उपरिवत्) पं० धीरजलाल शाह 'शतावधानी' के शब्दों में 'अज्ञान, मोह, अथवा प्रमादवश अपने मूल-स्वभाव से दूर गए किसी जीव का अपने मूल-स्वभाव की ओर पुनः लौटने की प्रवृत्ति प्रतिक्रमण कहलाती है।' इस संदर्भ में निम्नलिखित गाथा भी स्मरणीय है:—

स्वस्थानाद् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशं गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

अर्थात्—यदि (आत्मा प्रमादवश अपने स्थान से परस्थान में गई हो तो वहाँ से उसे वापस लौटाना ही प्रतिक्रमण कहाता है। दे० श्रीपंचप्रतिक्रमणसूत्र (जैन-साहित्य-विकास-मण्डल, १९५५), पृ०१६६।

१. सामाइय समाय की क्रिया। 'जिसमें सम अर्थात् राग-द्वेष रहित स्थिति का आय अर्थात् लाभ हो, उसको समाय कहते हैं।' (उपरिवत्, पृ० ३५)

करना चाहते हैं, किसपर करें? ध्यान शब्द में ही विषय का खयाल छिपा है। इसलिए महावीर ने ध्यान की जगह जिस शब्द का अधिक प्रयोग किया है, वह है सामायिक। वह महावीर का अपना शब्द है। जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मा में ही होता है तब उसे सामायिक कहते है।[1]

आइन्स्टीन ने कहा था कि समय स्पेस (स्थान, क्षेत्र) का ही चौथा आयाम है, अलग चीज नहीं। उसकी मृत्यु के पश्चात् इस विषय पर और काम हुआ और पाया गया कि टाइम भी एक तरह की ऊर्जा (एनर्जी, शक्ति) है। अब वैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य का शरीर तो तीन आयामों--लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई--से बना है, परन्तु उसकी आत्मा चौथे आयाम से बनी है। महावीर ने आज से लगभग २५०० साल पहले आत्मा को समय कहा था। कई बार विज्ञान जिन अनुभूतियों से बहुत बड़ी उपलब्धि कर पाता है, रहस्य में डूबे हुए सन्त उसे हजारों साल पहले देख लेते हैं। रूस के वैज्ञानिक निरंतर इस तथ्य के निकट पहुँचते जा रहे हैं कि समय ही मनुष्य की चेतना है। यदि सोच लें कि समय नहीं है जगत् में, तो पदार्थ हो सकता है, पत्थर हो सकता है, लेकिन चेतना नहीं हो सकती, क्योंकि चेतना की जो गति है, वह स्थान में नहीं है, समय में है। जब आप अपने घर से यहाँ उठकर आते हैं तो आप का शरीर यात्रा करता है और यह यात्रा होती है स्थान में। आपकी जगह कार में अगर पत्थर भी रख दिया गया होता तो वह भी कार में बैठकर यहाँ आ जाता। लेकिन कार में बैठे हुए आप का मन एक और गति भी करता है जिसका दूरी से कोई संबंध नहीं। वह गति समय में है। हो सकता है, आप जब घर में हों या कार में बैठे हों, तभी आप इस हॉल में आ गए हों, आपका मन यहाँ आ पहुँचा हो। लेकिन आपकी गाड़ी अभी घर के सामने खड़ी है। जब आप कार में बैठे है तो दो गति हो रही है---एक तो आपका शरीर स्थान में यात्रा कर रहा है और दूसरे आपका मन समय में यात्रा कर रहा है। चेतना की गति समय में है।

---

१. देखिए महावीर-वाणी, पृ० ५५९–५६१। जैनधर्म में सामायिक की प्रतिज्ञा विधिपूर्वक करनी पड़ती है। शुद्ध वस्त्र पहनकर कटासन, मुहपत्ती, चरवला, नवकार-वाली एवं कोई भी धार्मिक पुस्तक लेकर गुरु के समक्ष जाना पड़ता है और कहना पड़ता है---'करेमि भंते ! सामाइयं', अर्थात् 'हे पूज्य ! मैं सामायिक करता हूँ;' तदनन्तर कहना पड़ता है---'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि', अर्थात् 'मैं पापमयी-प्रवृत्ति का प्रतिज्ञा-पूर्वक परित्याग करता हूँ।'

सामयिकी में पापवाली प्रवृत्ति का छह प्रकार से त्याग किया जाता है---(१) पाप-वाली प्रवृत्ति मैं मन से करूँ नहीं; (२) पापवाली प्रवृत्ति मैं मन से कराऊँ नहीं; (३) पापवाली प्रवृत्ति मैं वचन से करूँ नहीं, और (६) पापवाली प्रवृत्ति मैं काया से कराऊँ नहीं। श्री पंच प्रतिक्रमण सूत्र, पृ० ३६।

महावीर ने चेतना को समय और ध्यान को सामायिक कहा है। अगर चेतना की गति समय में है तो इस गति के ठहर जाने का नाम सामायिक है। शरीर की सारी गति के ठहर जाने का नाम आसन और चित्त की सारी गति के ठहर जाने का नाम ध्यान है।

समय के बिना चेतना का कोई अस्तित्व अनुभव में नहीं आ सकता। समय का जो बोध है वह चेतना का अनिवार्य अंग है। इस बात में और भी बातें अन्तर्निहित हैं। जगत् में सभी चीजें क्षणभंगुर हैं। आज हैं, कल न होंगी। इस जगत् की लम्बी धारा में समय ही एक ऐसी चीज है जो सदा है, जो नहीं बदलता और जिसके भीतर सब बदलाहट होती है। अगर समय न हो तो बच्चा बच्चा रह जायगा, कली कली रह जायगी। क्योंकि परिवर्तन की सारी सम्भावनाएँ समय में हैं। जगत् में सभी चीजें समय के बाहर हैं और परिवर्तनशील हैं, लेकिन समय 'समय' के बाहर है और परिवर्तनशील नहीं है। अकेला समय ही शाश्वत सत्य है जो सदा था, सदा होगा। महावीर आत्मा को समय का नाम इसलिए भी देना चाहते हैं कि वही तत्त्व शाश्वत, सनातन, अनादि, अनन्त है। साधारणतः हम समय के तीन विभाग करते हैं : अतीत, वर्तमान और भविष्य। लेकिन यह विभाजन बिलकुल गलत है। अतीत सिर्फ स्मृति में है, और कहीं नहीं; भविष्य केवल कल्पना में हैं, अन्यत्र नहीं। है तो सिर्फ वर्तमान। इसलिए समय का एक ही अर्थ हो सकता हैं—वर्तमान। जो है वही समय है। क्षण का अन्तिम हिस्सा जो हमारे हाथ में है, महावीर उसे ही समय कहते हैं। 'समय' एक विभाजन है वर्तमान क्षण का जो हमारे हाथ में होता है। जैसे अणु-परमाणु दिखाई नहीं पड़ते; वैसे ही क्षण का वह हिस्सा भी हमारे बोध में नहीं आ पाता। जब वह हमारे बोध में आता है तब तक वह जा चुका होता है। यानी, हमारे होश से मरने में भी इतना समय लग जाता है कि समय जा चुका होता है। जिस दिन आप इतनें शान्त हो जायँ कि वर्तमान आपकी पकड़ में आ जाय, उस दिन आप सामायिक में प्रवेश कर गए। चित्त इतना शान्त और निर्मल चाहिए कि वर्तमान का जो कण है अत्यल्प, वह भी झलक जाय। यदि वह झलक जाय तो समझना चाहिए कि हम सामायिक को उपलब्ध हुए—यानी हम समय के अनुभव को उपलब्ध हुए, हमने समय को जाना, देखा और अनुभव किया। जब हम कहते हैं कि आठ बजा तब उतनी ही देर में घड़ी की सुई कुछ आगे जा चुकी होती है। वह कण-भर तो अवश्य सरक जाती है, आगे चली जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो कुछ कहा जाता है वह, कहते-कहते, अतीत का अंग बन जाता है; हम जब भी पकड़ पाते हैं, अतीत को ही पकड़ पाते हैं। वर्तमान हमारे हाथ से चूक जाता है। हम इतने व्यस्त और अशान्त हैं कि उस छोटे-से क्षण की हमारे मन पर कोई छाप नहीं बन पाती। हम समय से निरन्तर चूकते चले जाते हैं, इस कारण अस्तित्व से परिचित नहीं हो

पाते। वस्तुतः जो अस्तित्व है, समय भी वही है, बाकी सब या तो हो चुका या अभी हुआ नहीं। जो है, उससे ही प्रवेश करना होगा।

महावीर इसलिए भी आत्मा को समय कहते हैं कि समय के दर्शन होते ही जो उपलब्ध होता है वह आत्मा है। जब तुम अस्तित्व का ही अनुभव नहीं कर पाते तो तुम्हारे अस्तित्व का मतलब क्या है? आत्मा तो सबके भीतर है—सम्भावना की तरह, सत्य की तरह नहीं। हम भी आत्मा हो सकते हैं। जब हम कहते हैं कि सबके भीतर आत्मा है, तो इसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि हम भी आत्मा हो सकते हैं, अभी हैं नहीं। हम उसी क्षण आत्मा हो जायँगे जिस क्षण हम अस्तित्व को देखने, जानने, पहचानने में समर्थ हो जायँगे। इसे दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। **अतीत और भविष्य मन के हिस्से हैं, वर्तमान आत्मा का हिस्सा है।** मन हमेशा अतीत और भविष्य में रहता है—पीछे या आगे। यहाँ, इसी वक्त, अभी, अब—ऐसी कोई चीज मन में नहीं होती। **मन संग्रह है अतीत का और भविष्य की योजनाओं का।** मन जीता है अतीत और भविष्य में। अतीत और भविष्य के बीच में एक अत्यन्त सूक्ष्म रेखा है जो दोनों को तोड़ती है। यह वर्तमान है। यह रेखा इतनी बारीक है कि इसके अनुभव के लिए हमारा अत्यन्त शान्त होना जरूरी है। जरा-सा कम्पन हुआ कि हम चूक जायँगे। इसलिए जिस दिन हमारी चेतना अकम्प होगी, उसी दिन समय के क्षण का एक छोटा-सा दर्शन भी हमें उपलब्ध होगा। वर्तमान का क्षण ही द्वार है अस्तित्व में प्रवेश का। ब्रह्म में प्रवेश कहें, सत्य या मोक्ष में प्रवेश कहें, यह वर्तमान के क्षण से ही सम्भव होता है।

चूँकि हम वर्तमान के क्षण में व्यस्त होते हैं, इसलिए चूक जाते हैं। इसलिए सामायिक का अर्थ है अव्यस्त होना। जब हम कुछ भी करते या सोचते नहीं होते, तब समय को पकड़ना सम्भव होता है। जहाँ कुछ किया कि समय चूक जाता है। महावीर ने आत्मा को समय का पर्याय कहा है और उन्होंने यह नाम बड़े गहरे प्रयोजन से दिया है। उनका कहना था कि यदि तुम समय को जान लो, समय में खड़े हो जाओ, उसे देख लो तो तुम अपने को पहचान लोगे। लेकिन समय को जानना ही मुश्किल है। सबसे ज्यादा कठिन है वर्तमान में खड़ा होना, क्योंकि हमारी पूरी आदत चाहे तो पीछे होने की होती है या आगे होने की। हम चाहे तो अतीत में होते हैं या भविष्य में। ऐसा आदमी विरल होता है जो वर्तमान में हो। यदि ऐसा आदमी मिल जाय तो समझना कि वह सामायिक में था। जब हम कुछ भी कहते नहीं होते, यहाँ तक कि न तो मन्त्र जपते होते हैं और न अपनी साँस देखते हुए, तब सामायिक में होते हैं। जिसे मैं श्वास देखना कहता हूँ वह सामायिक नहीं है। व्यर्थ की व्यस्तताएँ छूट जायँ, इसलिए मैं श्वास देखने के लिए कहता हूँ। जब कम-से-कम एक ही व्यस्तता रह जाय तब कहूँगा कि इससे भी छलांग लगा जायँ। यह एक

ऐसी व्यस्तता है जिससे छलांग लगाने में कठिनाई न होगी। यह सामायिक के पहले की सीढ़ी है—सिर्फ छलांग लगाने की सीढ़ी।

मेरी बात अच्छी तरह समझ लें। कुछ करते जाना ही वर्तमान से चूकते जाना है। इसलिए कुछ क्षणों के लिए आप कुछ न करें, बस हो जायँ। कमरे में पड़े हैं, कोने में टिके हैं—सिर्फ हैं। कुछ भी न करें। बस हैं। वृक्ष हैं, पत्थर हैं, पहाड़ हैं, चाँद-तारे हैं, सब हैं। शायद वे इसलिए सुन्दर हैं कि समय में कहीं गहरे डूबे हुए हैं। शायद हम इसीलिए इतने कुरूप, परेशान, चिन्तित और दुखी हैं कि समय से भागे हुए हैं—मानों जीवन के मूल स्रोत से कहीं झटका लग गया हो, जड़ें उखड़ गई हों और हम कहीं और आ गिरे हों।

क्रियाएँ दो तरह की हैं। एक तो हमारे शरीर की क्रियाएँ हैं जो हमारी निद्रा में शिथिल हो जाती हैं, बेहोशी में बन्द हो जाती हैं। शरीर की इन क्रियाओं से कोई गहरी बाधा नहीं है और न इन्हें रोकना ही कठिन है। असली बाधाएँ तो उपस्थित होती हैं मन की क्रियाओं से जो हमें समय से चुकाती हैं। शरीर का अस्तित्व तो निरन्तर वर्तमान में है; वह हमेशा समय में है—वह एक क्षण भी न तो अतीत में जाता है और न भविष्य में। शरीर वहीं है जहाँ है। परन्तु भटकाता है मन। फिर भी लोग शरीर के ही दुश्मन हो जाते हैं, जब कि बेचारा शरीर हमसे शत्रुता नहीं ठानता। इसलिए साधक शरीर से दुश्मनी न साधें, वरन् अ-मन की स्थिति में पहुँचने का प्रयोग करें। उनके सारे प्रयोग इसी मन पर होने चाहिए। यह बड़े मजे की बात है कि मन होगा तो क्रिया होगी; क्रिया होगी तो मन होगा। मन कहता है—कुछ भी करो, हम राजी हैं, क्योंकि करने-मात्र से मन बच जाता है। आप कहते हैं कि मंत्र जपो तो वह कहता है, चलो हम राजी हैं। यदि आप कहते हैं कि हम कुछ भी करना नहीं चाहते, तो मन बिलकुल राजी नहीं होता।

ज़ेन भिक्षु कहते हैं कि ध्यान का अर्थ ही है कुछ न करना। जब तक हम कुछ कर रहे हैं तब तक ध्यान नहीं हो सकता। फिर भी, 'ध्यान' शब्द में क्रिया जुड़ी हुई है। 'सामायिक' शब्द में वह क्रिया नहीं है।[1] लगता है, ध्यान कुछ करने की

---

१. आचार्य रजनीश के अनुसार 'सूत्र अनुयायी बनाते हैं और बाँधते हैं। महावीर को कोई सम्बन्ध नहीं है इन सूत्रों से।...महावीर-जैसे लोगों को समझना ही मुश्किल है। क्योंकि वह जो बात कह रहे हैं, इतनी गहराई की है, और हम जहाँ खड़े हैं वह इतने उलथेपन में है बल्कि उलथेपन में भी तट पर खड़े हुए हैं और वहाँ से जो हमारी समझ में आता है, वह इन्तजाम हम कर लेते हैं। अनुयायी सारी व्यवस्था देता है, और कुछ व्यवस्थापरक मस्तिष्क होते हैं जो सदा व्यवस्था देते रहते हैं।..' महावीर : मेरी दृष्टि में (पृ० ३११-३१२) स्पष्ट है कि जहाँ आचार्य रजनीश 'सामायिक' को महावीरकी साधना-पद्धति का 'केन्द्रिय शब्द' (उपरि० पृ० २९१) कहते हैं वहाँ वे ऐसे सूत्रों से अपनी

बात है। 'सामायिक' में करने को कुछ नहीं रह जाता। 'सामायिक' का मतलब है—अपने में होना, 'समय' में होना। करना नहीं है वहाँ, होना है सिर्फ। इसलिए जब कोई पूछता है कि 'सामायिक' कैसे करें तो इससे और गलत सवाल दूसरा नहीं हो सकता। वस्तुतः हमारी सारी भाषा-चिन्तना करने पर खड़ी है। न करने का हमें कोई खयाल ही नहीं है। सूक्ष्मतम तलों पर, जब भी हम कुछ करते हैं, सदा और के साथ करते हैं। जब हम कर्ता बनते हैं तब हम वह बनते हैं जो हम नहीं हैं। तब हम अपने ऊपर कोई अभिनय लेते हैं। उदाहरण के लिए उस व्यक्ति को ले जो दूकानदार बनता है। दूकानदार होना जीवन के एक बड़े नाटक में उसका अभिनय है। अगर स्वभाव को जानना हो, जो मैं हूँ उसे ही जानना हो, तो मुझे सारी क्रियाओं को, सभी चेहरों और अभिनयों को छोड़कर बाहर हो जाना पड़ेगा। थोड़ी देर के लिए बाहर खड़े हो जाने का नाम सामायिक है। एक बार मुझे पहचान हो जाय कि मेरा कोई नाम नहीं, चेहरा नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं, कोई अभिनय नहीं, मात्र होना है, अस्तित्व-मात्र मेरा स्वभाव है और जानना-मात्र मेरी प्रकृति, तो एक मुक्ति, एक विस्फोट होगा। ऐसा विस्फोट व्यक्ति को जीवन के समस्त चक्कर के बाहर खड़ा कर देता है। हमारी सारी सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को उसका ठीक अभिनय देने की है।

चीन के एक ज़ेन फकीर ने कहा है—'तुम खोजते हो, इसलिए खो रहे हो; जिसे तुम खोजते हो वह तुम्हें मिला हुआ है। एक क्षण तो रुको, अपनी दौड़ बंद करो, ताकि तुम देख सको कि तुम्हें क्या मिला हुआ है :' बुद्ध को जिस दिन उपलब्धि हुई, उस दिन सुबह उनसे लोगों ने पूछा—'आप को क्या मिला ?' बुद्ध ने उत्तर दिया—'मिला कुछ भी नहीं। जो मिला ही हुआ था, वही मिल गया।' कैसे मिला ? बुद्ध ने कहा—"कैसे की" बात मत पूछो। जब तक "कैसे" की भाषा में सोचता था, तब तक नहीं मिला। फिर मैंने सब खोज छोड़ दी। उसी क्षण पता लगा कि जिसे मैं खोजता था वह मुझे मिला हुआ था।' जब कोई आत्मा को खोजने लगता है तब वह पागलपन में उलझ जाता है, क्योंकि आत्मा को खोजेगा कौन ? खोजेगा कैसे ? वह तो है ही हमारे पास। जब हम खोज रहे हैं तब भी, जब नहीं खोज रहे हैं तब भी। अगर यह बात ठीक से खयाल में आ जाय कि सामायिक है अप्रयास, अ-खोज, और अगर आप इसी क्षण में हो सकते हैं तो आप वहीं पहुँच जायँगे जहाँ महावीर सदा से खड़े हैं। अगर हम लक्ष्य को खोजते हुए भटकते रहें तो हम अनन्त-अनन्त जन्मों तक चूकते चले जायँगे, कारण कोई लक्ष्य नहीं है जो भविष्य

असहमति प्रकट करते हैं जो 'सामायिक' को क्रिया मानते हैं। 'सामाइय-सुत्तं' में कहा गया है—'करेमि भंते ! सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।' अर्थात्, 'हे पूज्य ! मैं सामायिक करता हूँ। अतः पापवाली प्रवृत्ति को प्रतिज्ञापूर्वक छोड़ देता हूँ।'

में है। वह है अभी और यहीं। जो नहीं जानते, वे कहते हैं--'जो खोजने की इच्छा कर रहा है, उसे खोजो।' लेकिन जो जानते हैं, वे कहेंगे--'जहाँ से प्रश्न उठा है, वहीं उतर जाओ--अन्यत्र न खोजो।' सच तो यह है कि पाने की भाषा ही गलत है। जिसे पा लिया गया है उसका आविष्कार कर लेना है। इसलिए आत्मा उपलब्ध नहीं होती, सिर्फ जो ढका हुआ होता है, उसे उघाड़ लिया जाता है। और आत्मा ढकी होती है हमारी खोज करने की प्रवृत्ति से; ढकी होती है हमारी और कहीं होने की स्थिति से। सामायिक न तो कोई क्रिया है, न कोई अभ्यास। यह न कोई प्रयत्न है और न कोई साधना। पाने की सब आकांक्षा स्वयं के बाहर ले जाती है। जब पाने की कोई आकांक्षा नहीं रह जाती तब आदमी स्वयं में वापस लौट आता है। यह जो वापस लौट आना है और घर में ही ठहर जाना है, 'सामायिक' कहलाता है। महावीर ने अद्भुत व्यवस्था की है 'अक्रिया' में उतर जाने की। होने मात्र में उत्तर जाने की। जिसकी समझ में न आ जाय उसके लिए सामायिक के करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिसकी समझ में न आवे वह कुछ भी करता रहे, फर्क नहीं पड़ता।

सारांश यह है कि सामायिक के लिए कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं। कुछ देर के लिए कुछ भी करना नहीं है; जो हो रहा है, उसे होने देना है। विचार आते हों तो उन्हें आने देना है; भाव उठते हों तो उन्हें उठने देना है। सब होने देना है। थोड़ी देर के लिए आप कर्ता न रहें, बस साक्षी बन जायँ। सामायिक तभी होगी जब आप बिलकुल ही अप्रयास होंगे।

युद्ध या कुश्ती की एक कला का नाम है जुजुत्सू। जुजुत्सू में हमला करना नहीं सिखाते, वरन् यह बतलाते हैं कि जब प्रतिद्वन्द्वी तुम्हारी छाती में घूसा मारे तो उसके घूसे के लिए जगह बना देना, राजी होकर उसके घूसे को पी जाना। सामायिक का मतलब भी यही है—चित्त पर होने वाले हमलों के लिए राजी हो जाना। चित्त पर विचारों का, क्रोध और वासना का सतत आक्रमण जारी है। सबके लिए राजी हो जाना। कुछ करना ही मत। जो हो रहा है, होने देना। यही सामायिक है।

३

चारित्र-सम्बन्धी शास्त्रगत विचारों से मेरे विचारों का तालमेल नहीं बैठता। चरित्र की जो धारणा प्रचलित रही है[1] उससे मैं बिलकुल असहमत हूँ। मैं यह भी

---

१. उदाहरणार्थ : "सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥" रत्नकरंड०।

अर्थात्—'धर्म के प्रवर्तक सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धर्म कहते हैं। इनके विपरीत मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र संसार के मार्ग हैं।'

कहता हूँ कि महावीर की भी धारणा वैसी न थी। वस्तुत: असली चीज है अन्तर्विवेक। जिसके पास अन्तर्विवेक नहीं है, वह बाह्य आचरण को व्यवस्थित नहीं कर सकता। अन्तर्विवेक हो तो बाह्य आचरण स्वयं व्यवस्थित हो जाता है, उसे व्यवस्थित करना नहीं पड़ता। जिसे करना पड़ता है, वह इस बात की खबर देता है कि उसके पास अन्तर्विवेक नहीं है। अन्तर्विवेक की अनुपस्थिति में बाह्य आचरण अंधा है—चाहे हम उसे अच्छा कहें या बुरा, नैतिक कहें या अनैतिक। हमारा समाज अच्छा आचरण उसे कहता है जिससे उसके जीवन में सुविधा बनती है, बुरा आचरण उसे कहता है जिससे असुविधा होती है। समाज को व्यक्ति की आत्मा से कोई मतलब नहीं है, सिर्फ व्यक्ति के व्यवहार से मतलब है, क्योंकि समाज व्यवहार से बनता है, आत्माओं से नहीं बनता। समाज की चिन्ता यह है कि आप सच बोलें, यह चिन्ता नहीं है कि आप सत्य हों। आप झूठ हों तो कोई चिन्ता नहीं, पर बोलें सच। समाज की चिन्ता आपके आचरण से है, धर्म की चिन्ता आपकी आत्मा से है। समाज के द्वारा आचरण की जो व्यवस्था है वह भय पर आधारित है। पुलिस है, अदालत है, कानून है या पाप-पुण्य का डर है, स्वर्ग है, नरक है। परिणामस्वरूप समाज व्यक्ति को केवल पाखंडी बना पाता है या अनैतिक—नैतिक कभी नहीं। और जो व्यक्ति पाखंड़ी हो गया उसके धार्मिक होने की सम्भावना अनैतिक व्यक्ति से भी कम हो जाती है। परम ज्ञानी जैसा भीतर होता है वैसा ही बाहर भी। अज्ञानी का भी बाह्याभ्यंतर एक-सा होता है। बीच में पाखंडी होता है जिसका बाहर ज्ञानी-जैसा किन्तु भीतर अज्ञानी-जैसा होता है। उसके भीतर गाली उठती है, हिंसा उठती है, मगर वह 'अहिंसा परमोधर्म:' की तख्ती लगाकर बैठता है, चरित्रवान् दिखाई पड़ता है, अनुशासनबद्ध होता है। बाहर का व्यक्तित्व वह ज्ञानी से उधार लेता है और भीतर का व्यक्तित्व अज्ञानी से। वह पाखंडी व्यक्ति, जिसे समाज नैतिक कहता है, कभी भी धर्म को उपलब्ध नहीं होता। अनैतिक व्यक्ति उपलब्ध हो भी सकता है। अक्सर पापी पहुँच जाते हैं, पुण्यात्माएँ भटक जाती हैं। इसके दोहरे कारण हैं। एक तो पाप दुखदायी है। उसकी पीड़ा है जो रूपान्तरण लाती है। दूसरी बात यह है कि पाप करने के लिए, समाज के विपरीत जाने के लिए भी साहस चाहिए। पाखंडी लोग अतिसामान्य—मीडिओकर—होते हैं। उनमें साहस नहीं होता। साहस के अभाव में वे चेहरा वैसा बना लेते हैं जैसा समाज चाहता है, समाज के डर के कारण। अनैतिक व्यक्ति के पास एक साहस होता है जो कि आध्यात्मिक गुण है और उसके पास पाप की पीड़ा होती है।

पाखंडियों की नैतिकता साहस की कमी के कारण होती है, साहस के कारण नहीं। एक आदमी चोरी नहीं करता। आम तौर से हम उसकी प्रशंसा करते हैं। मगर चोरी न करना ही अचोर होने का लक्षण नहीं है। चोरी न करने का कुल

कारण इतना हो सकता है कि आदमी तो चोर है, लेकिन चोरी करने का साहस नहीं जुटा पाता। जिन्हें हम नैतिक कहते हैं, अक्सर वे साहसहीन लोग होते हैं। और, याद रहे, धर्म साहस की यात्रा है। साहसहीन लोग इसलिए नैतिक होते हैं कि उनमें साहस नहीं है।

तो मेरी दृष्टि यह है कि पापी की सम्भावनाएँ धर्म के निकट पहुँचने की ज्यादा हैं उस व्यक्ति की अपेक्षा जिसे हम नैतिक व्यक्ति कहते हैं। जिस दिन पापी धर्म की दुनिया में पहुँचता है वह उतनी ही तीव्रता से पहुँचता है जितनी तीव्रता से वह पाप की दुनिया में गया था। नीत्से ने लिखा है––'जब मैंने वृक्षों को आकाश छूते देखा तो मैंने खोजबीन की। मुझे पता चला कि जिस वृक्ष को आकाश छूना हो उसकी जड़ों को पाताल छूना पड़ता है। तब मुझे खयाल आया कि जिस व्यक्ति को पुण्य की ऊँचाइयाँ छूनी हों उस व्यक्ति के भीतर पाप की गहराइयों को छूने की क्षमता चाहिए।'

मैं चाहता हूँ कि आदमी सीधा हो, चाहे वह पापी ही क्यों न हो। इसलिए मेरी भविष्यवाणी है कि आनेवाले सौ वर्षों में पश्चिम में धर्म का उदय होगा और पूरब में धर्म प्रतिदिन क्षीण होता चला जायगा। इसका कारण यह है कि पूरब पाखंडी है, पश्चिम बुरा है मगर साफ है। यह साफ बुरा होना पीड़ा देनेवाला है। इसलिए उस पीड़ा से पश्चिम को बाहर निकलना ही पड़ेगा। पाखंडी का झुठा अच्छा होना पीड़ा नहीं बनता। वह कुनकुनी हालत में होता है—कभी भाप नहीं बनता, बर्फ भी नहीं बनता। पापी आदमी बर्फ भी बन सकता है, भाप भी बन सकता है। मेरा मानना है कि समाज ने नैतिक शिक्षा देकर अपने को किसी प्रकार सुव्यवस्थित तो कर लिया है मगर व्यक्ति की आत्मा को भारी नुकसान पहुँचाया है। और मेरा यह भी मानना है कि समाज व्यवस्थित है, यह सिर्फ दिखाई पड़ता है। अगर व्यक्ति झूठे हैं तो व्यवस्था सच्ची कैसे हो सकती है?

अक्सर धार्मिक व्यक्ति को असामाजिक होना पड़ा है, क्योंकि वह इस झूठे समाज से राजी नहीं हो सकता। इसलिए बुद्ध अपने भिक्षुओं को जो नाम देते हैं वह है 'अनागरिक'। असल में भिक्षु, साधु, संन्यासी का मतलब ही यह है कि वह किसी अर्थ में असामाजिक हो गया है। समाज का अब तक का इतिहास झूठी नैतिकता, झूठी व्यवस्था और अराजकता के बीच डोलता रहा है।

मैं यह भी कहता हूँ कि काम-वासना उतनी खतरनाक नहीं है जितना खतरनाक पाखंड है। पाखंड मनुष्य की ईजाद है और काम-वासना परमात्मा की।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सत्य से ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है। यदि काम-वासना सत्य है तो उससे भी ब्रह्मचर्य तक पहुँचा जा सकता है। सत्य काम-वासना की समझ से ही उत्पन्न अन्तिम अनुभूति है। काम-वासना व्यक्ति के जीवन का सत्य है। इस सत्य को समझने से हम और बड़े सत्य को उपलब्ध हो सकते हैं—

यानी ब्रह्मचर्य वासना की ही अन्तिम समझ से हुई निष्पत्ति है। वह वासना के विरुद्ध लड़ी गई बात नहीं है। वासना को जिसने ठीक से समझा-पहचाना, वह धीरे-धीरे ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो जाता है।[1] जिसने इसे पहचानने से इनकार कर दिया वह अपने ऊपर झूठा ब्रह्मचर्य थोप लेता है। जब मैं साधु-संन्यासियों से मिलता हूँ तो हैरान हो जाता हूँ। लोगों के सामने तो वे आत्मा-परमात्मा की बातें करते हैं, ब्रह्मचर्य के गुण गाते हैं, परन्तु एकान्त में वे पूछते हैं कि काम-वासना से छुटकारा कैसे हो। इसलिए मैं कहता हूँ कि जो आदमी सेक्स को ठीक से समझ लेता है वह ब्रह्मचारी हुए बिना नहीं रह सकता—उसे ब्रह्मचर्य की ओर जाना ही होगा। अगर किसी को ब्रह्मचर्य की ओर लाना हो तो उसे काम-वासना की पूरी समझ देनी होगी। उसके उस सम्मोहन को तोड़ना पड़ेगा जो उसे काम-वासना दे रही है। यह जानकर हैरानी होगी कि साधारणतया कामुक व्यक्ति उतना कामुक नहीं होता जितना वह साधु-संन्यासी होता है जिसने ऊपर से ब्रह्मचर्य थोप लिया है। वह एक क्षण भी काम से छुटकारा नहीं पा सकता। उसने जिसे दबाया है वह भीतर से निकलने के लिए हजारों उपाय खोज लेगा, वह उसके सारे चित्त को घेर लेगा, उसके पूरे चित्त के रग-रेशे में प्रविष्ट हो जायगा। ऐसा व्यक्ति सेक्स के केन्द्र पर इतना दमन डालता है कि सेक्स की प्रवृत्ति दूसरे केन्द्रों में प्रविष्ट हो जाती है—अर्थात्, वह उसके मन और उसकी चेतना तक में चली जाती है। ब्रह्मचर्य सरल है अगर थोपा न जाय। वह कठिन है

---

१. रजनीश की ब्रह्मचर्य-विषयक मान्यताएँ जैनधर्म की मूलभूत मान्यताओं का खंडन नहीं करतीं और उनमें काम-वासना की प्रशस्ति है। उनका लक्ष्य विशुद्ध आध्यात्मिक लक्ष्य है। रजनीश काम-वासना तक रुकने को नहीं कहते, प्रत्युत उसे स्वीकृति देने और समझने की सलाह देते हैं, उसके सत्य को स्वीकार करने की माँग करते हैं। और यह इसलिए करते हैं कि ऐसी स्वीकृति से ही ब्रह्मचर्य फलित हो सकता है, अन्यथा नहीं। काम-वासना को जानना है ताकि उससे मुक्त हुआ जा सके। उसके दमन से ब्रह्मचर्य फलित नहीं होता, उसकी स्वीकृति से उसका अतिक्रमण हो सकता है। वे कहते हैं कि काम-वासना के सत्य को समझो, इससे भागो मत, डरो मत, भयभीत मत होओ—इसे पहचानो, जागो। जागोगे, पहचानोगे, समझोगे तो काम-वासना क्षीण होगी और पूर्ण समझ की स्थिति में रूपान्तरित हो जायगी। हाँ, वे यह नहीं मानते कि मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे स्थान में निवास करे जहाँ एकान्त हो, जो कम बस्ती वाला हो और जो स्त्री आदि से रहित हो।

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं थीजणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए॥
(उत्त० अ० १६, गा० १)

अगर थोप लिया जाय। तो मैं कहता हूँ कि समाज को सम्यक् वासना सिखाओ, सम्यक् काम की शिक्षा दो। महावीर भी जिस ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हुए थे, वह जन्म-जन्मान्तरों की वासना की समझ का ही परिणाम था।

किसी चीज को समझने के लिए उससे गुजरना और उसे जीना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य की साधना की प्रक्रिया का सूत्र यह है कि सेक्स के क्षण में हम जागे हुए कैसे रहें। अगर आप दूसरे क्षणों में जागे हुए होने का अभ्यास कर रहे हैं तो आप सेक्स के क्षण में भी जागे हुए हो सकते हैं। ठीक यही बात मृत्यु के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मृत्यु का भय इतना ज्यादा है कि हम मृत्यु को जागे हुए भोग नहीं पाते, इसलिए मृत्यु से अपरिचित रह जाते हैं। एक दफा कोई मृत्यु में जागे हुए गुजर जाय तो मृत्यु खत्म हो गई, आतमा के अमर स्वरूप का ज्ञान हो गया और उसे पता लगा कि मरा तो कुछ भी नहीं, सिर्फ शरीर छूटा है। हम सेक्स से मूर्च्छित गुजरते हैं, इसलिए उससे अपरिचित रह जाते हैं। जो सेक्स से परिचित हो जाय, वह ब्रह्मचर्य को जान लेता है।

प्रकृति ने जिन्दगी के सभी कीमती अनुभवों को बेहोशी में गुजरवाने का इन्तजाम किया है। यदि ऐसा न होता तो आप उनसे गुजरने से इनकार कर देते। सेक्स प्रकृति की गहरी जरूरत है। वह सन्तति उत्पादन की व्यवस्था है। प्रकृति नहीं चाहती कि आप उसमें गड़बड़ करें। जिसे आप प्रेम आदि की संज्ञा देते हैं वह सब बेहोश होने की तरकीबें हैं, और कुछ नहीं। प्रेयसी के पास आपको पहले मूर्च्छित होना पड़ता है, उसे मूर्च्छित करना पड़ता है। प्रेमक्रीड़ा से गुजरने के पहले सारा गोरख-धंधा एक-दूसरे को मूर्च्छित करने का उपाय है।

मेरे कहने का तात्पर्य कुल इतना है कि यदि आप किसी भी क्रिया से मुक्त होना चाहते हों तो याद रखिए--मूर्च्छित हालत में आप उससे कभी मुक्त नहीं हो सकते।

अगर महावीर स्त्रियों को छोड़कर जंगल चले गए हैं तो हमें लगता है कि हम भी स्त्रियों को छोड़ें और जंगल चले जायँ। हम महावीर की बुनियादी बात समझना भूल गए। वे जब जंगल जा रहे हैं तो पीछे स्त्रियों की स्मृति नहीं है उनके मन में। लेकिन आपका जंगल जाना कुछ और होता है। वहाँ उनकी स्मृति आपको घेरे हुए होती है और आप समझते हैं कि आप वही काम कर रहे हैं जिसे महावीर ने किया था। आप भी जंगल में जाकर बैठ जायँगे। मगर महावीर बैठेंगे तो स्वयं खो जायँगे। आप बैठेंगे तो स्त्रियों में खो जायँगे। आप कहेंगे कि यह तो महावीर ने भी किया था जो हम कर रहे हैं। हमारी कठिनाई यह है कि हमें ऊपर का रूप ही दिखाई पड़ता है। महावीर जंगल जाते दिखाई पड़ते हैं। उनके भीतर क्या घटी है, यह हमें दिखाई नहीं पड़ती। अगर वह दीख पड़ जाय तो बात कुछ और ही हो जाय।

तो मेरा कहना है कि बिना अनुभव के कोई मुक्ति नहीं। पाप के अनुभव के बिना पाप से भी मुक्ति नहीं। इसलिए भयभीत होकर जो पाप से रुका है, वह पाप से भी मुक्त नहीं होता। वह पाप करने की सिर्फ शक्ति अर्जित करता है। आज नहीं, कल वह पाप करेगा ही और पाप करके पछताएगा। स्वयं पछताकर फिर दमन करने लगेगा और तत्पश्चात्—दमन के फलस्वरूप—फिर पाप करेगा और फिर पछताएगा। यह एक बुरा चक्र है—पाप पश्चात्ताप, फिर पाप और पश्चात्ताप! मैं कहता हूँ कि पश्चात्ताप भूलकर भी मत करना। मैं कहता हूँ जानकर पाप करना पूरे जागे हुए पाप करना। जो भी करना, पूरे जागे हुए करना। गाली भी देना तो पूरा जागे हुए देना। शायद गाली देने का मौका दुबारा न आवे और पश्चात्ताप की भी जरूरत न पड़े। मेरा मतलब केवल इतना है कि हमारा कोई भी अनुभव जितना जागरूक हो सके उतना अच्छा है। दमन का सवाल नहीं है।[1] मेरी धारणा रही है कि अनैतिक व्यक्ति को जितना बुरा कहा गया है, वह उतना बुरा नहीं होता। नैतिक व्यक्ति को जो भला कहा जाता है, वह कहना भी गलत है। मेरी समझ में जीवन की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि व्यक्ति को सरल और सहज होने का मौका मिले—न उसकी निन्दा हो, न उसका दमन हो और न उसको ज़बरदस्ती ढालने-बदलने की चेष्टा हो। समाज उसे समझने का विज्ञान और व्यवस्था दे; शिक्षा उसे समझने का मौका दे। कोई उससे न कहे : क्रोध मत करो, क्रोध बुरा है। स्कूलों में उसे सिखाया जाय : क्रोध करो लेकिन जागे हुए, जानते हुए। अगर ऐसी व्यवस्था हो तो

---

१. रजनीश की मान्यता है कि ज्ञानी शास्त्र नहीं रचते। इसीलिए शास्त्रों का यह कथन कि साधु दमन करता है, ज्ञान से उद्भूत नहीं है। साधुधर्म के सम्बन्ध में एक सूत्र है :

समणं संजयं दन्तं, हणेज्जा को वि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति, एवं पेहेज्ज संजए॥

(उत्त० अ० २, गा० २७)

इसमें साधु को इन्द्रियों का दमन करने वाला तथा संयमी कहा गया है। एक अन्य सूत्र में कहा गया है कि साधु कर्म आने के सभी अप्रशस्त द्वारों को सब ओर से बंदकर अनास्रवी हो जाता है और अध्यात्म तथा ध्यान-योग से आत्मा का प्रशस्त दमन एवं अनुशासन करनेवाला होता है :

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो।
अज्झप्पज्झाण जोगेहिं, पसत्थदमसासणो॥

(उत्त० अ० १९, गा० ९४)

व्यक्ति धीरे-धीरे क्रोध के बाहर हो जायगा, क्योंकि समझपूर्वक कोई कभी क्रोध नहीं कर सकता।

मेरी बात कई दफा उलटी दीखती है। कई दफा ऐसा लगता है कि इससे स्वच्छंदता फैल जायगी, अराजकता का बीजवपन होगा। लेकिन अराजकता फैली हुई है, स्वच्छंदता व्याप्त है। मैं जो कह रहा हूँ, उससे अराजकता मिटेगी, स्वच्छंदता तिरोहित हो जायगी। जिन रास्तों पर हम चल रहे हैं: वे हमें साधारण बनाने के रास्ते हैं। ऐसे रास्ते भी हैं जो हमें असाधारण बना सकते हैं। समाज नहीं चाहता कि व्यक्ति असाधारण बने। उसे साधारण व्यक्ति ही चाहिए, क्योंकि साधारण व्यक्ति खतरनाक नहीं होते, वे विद्रोह नहीं करते—वे व्यक्ति नहीं, भीड़ होते हैं। समाज को भीड़ की आवश्यकता होती है, व्यक्ति की नहीं। नेता चाहते हैं भीड़, गुरु चाहते हैं भीड़, शोषक चाहते हैं भीड़। और मैं कहता हूँ कि चाहिए व्यक्ति, क्योंकि भीड़ की कोई आत्मा नहीं होती; मैं चाहता हूँ एक ऐसी दुनिया, एक ऐसा समाज जिसमें व्यक्ति ही व्यक्ति हों, भीड़ नहीं। जो गुरु अनुयायियों को इकट्ठे करते फिरते हैं, वे हिंसक वृत्ति के लोग हैं। उनका लक्ष्य व्यक्ति को मिटाना होता है, भीड़ इकट्ठी करना होता है। जो उनसे राजी होते हैं, वे स्वयं को मिटाकर अनुयायी बनना स्वीकार करते हैं। अच्छा आदमी यह नहीं चाहता कि आप उससे राजी हों। अच्छा आदमी चाहता है कि आप सोचना शुरू करें। मैं यह नहीं कहता कि आप मेरी बातों को मान लें। मेरा जोर इस बात पर है कि आप भी इस भाँति सोचना शुरू करें। जीवन में सोचना शुरू हो, जागना शुरू हो, दमन बन्द हो, अनुगमन बन्द हो तो प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा मिलनी शुरू होगी और आत्मा प्रत्येक को असाधारण बना देती है।

प्रश्न उठता है कि इन ढाई हजार वर्षों में जिन श्रावकों और साधुओं ने व्रतों का पालन किया, क्या वे सब-के-सब पाखंडी थे, क्या उनके लिए सत्य के ज्ञान की कोई सम्भावना नहीं थी ?

मैं कहता हूँ—नहीं, कभी कोई सम्भावना न थी। असल में व्रत पालनेवाला कभी भी पाखंडी होने से बच नहीं सकता। व्रती पाखंडी होगा ही। व्रत लेता वही है जो भीतर सोया हुआ है। जो जग गया है, वह व्रत नहीं लेता—व्रत आते हैं उसके जीवन में। कोई व्रती पाखंडी न रहा हो, यह असम्भव है। व्रत का मतलब क्या है ? व्रत का मतलब है दमन, चित्त की उस दशा का दमन जिसके विपरीत आप व्रत ले रहे हैं। मैं कामवासना से भरा हूँ, इसलिए ब्रह्मचर्य का व्रत लेता हूँ; हिंसा से भरा हूँ, इसलिए अहिंसा का व्रत लेता हूँ; परिग्रह से भरा हूँ, अपरिग्रह का व्रत लेता हूँ। न तो परिग्रह का व्रत लेना पड़ता है और न हिंसा या कामवासना का। जो हम हैं उसका व्रत लेना नहीं पड़ता। जो हम नहीं हैं, उसका व्रत

लेना पड़ता है। निश्चित ही व्रत दमन लायगा। व्रती तो निःशल्य हो ही नहीं सकता।[1] उसका व्रत ही एक शल्य है। अव्रती निःशल्य हो सकता है। लेकिन मैं यह नहीं कहता कि अव्रती होने से ही कोई निःशल्य हो जायगा। अव्रती होना हमारे जीवन की स्थिति है। अव्रती दशा में जागना हमारी साधना है। उदाहरण के लिए कुन्दकुन्द को ही लें। वह वैसा ही व्यक्ति है जैसा महावीर। वह कोई व्रत नहीं पालता, केवल समझ को जगाता है। जो समझता है, वह छूटता चला जाता है और जो व्यर्थ है, आप ही विदा हो जाता है। लेकिन है वह अव्रती व्यक्ति। वह जो व्रती व्यक्ति है, वह सदा झूठ हैं, निपट पाखंडी है। व्रत पालने से कोई कभी कहीं नहीं पहुँचा। महावीर को भी मैं अव्रती कहता हूँ। कुन्दकुन्द भी अव्रती है: ऐसा ही है उमास्वाति। ऐसे ही हैं कुछ और लोग भी। लेकिन जब तुम कहते हो 'जैन श्रावक', 'जैन साधु' तो न तो कुन्दकुन्द जैन है, न उमास्वाति। जिन्हें जैन होने का पागलपन है, वे कभी नहीं पहुँचते, क्योंकि जैन होने का भ्रम व्रत आदि से होता है।

व्रत की व्यर्थता का अनुभव व्रत पालने से ही होता है। अगर हम जाग जायँ तो पता लगे कि हमारे सारे व्रत व्यर्थ थे। चित्त वैसा ही रह गया है जैसा था। कर्त्तव्य को भी मैं व्रत की भाषा मानता हूँ। यह भी व्रत की बात है। प्रेम अव्रत की भाषा है, अव्रत की बात है। लेकिन अव्रत अकेला काफी नहीं है। अव्रत के साथ जागरण हो। जागरण चाहे अव्रती का हो या व्रती का, फलीभूत होता ही है। आप जिस स्थिति में हों, उसी में जाग जायँ। हम जो भी कर रहे हैं उसके प्रति जाग जायँ। करने के प्रति जागने से फल आना शुरू हो जाता है। चोरी करनेवाला चोरी के प्रति जाग जाय तो उसका भी जागरण सफल होगा। जागरण के पीछे बल होगा अवश्य। हम मन्दिर जा रहे हों तो भी जागना है, वेश्यालय जा रहे हों तो भी जागना है। हम जो भी करें उसे होशपूर्वक करें। होशपूर्वक करने से जो शेष रह जाता है वह धर्म है और जो मिट जाता है वह अधर्म। नींद तोड़ने से बड़ा और कोई पौरुष नहीं है। हमारा कोई आन्तरिक शत्रु नहीं है सिवा निद्रा के, मूर्च्छा और प्रमाद के। इसलिए महावीर से कोई पूछे कि धर्म क्या है तो वे कहेंगे: अप्रमाद। और अधर्म क्या है? वे कहेंगे: प्रमाद। कोई पूछे कि साधुता क्या है? वे जवाब

---

१ शास्त्र कहते हैं कि व्रती को निःशल्य होना है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित सूत्र ध्यातव्य है:

खुअं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरइं भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं॥ (नश० अ० ८, गा०२७)

अर्थात्—क्षुधा, तृषा, दुःशय्या, सरदी, गरमी, अरति (राग का अभाव), भय आदि सभी कष्टों को साधक अदीन भाव से सहन करे। (समभाव से सहन किए गए) दैहिक कष्ट महाफलदायी होते हैं।

देंगे : अमूर्च्छा। असाधुता क्या है ? वे कहेंगे : मूर्च्छा। उनकी सारी साधना का सूत्र है विवेक—कोई कैसे जागे, कैसे होश से भरा हुआ हो।

महावीर का पौरुष काम, क्रोध, लोभ आदि से लड़ने में न था। ये तो लक्षण हैं सिर्फ। इनसे कोई पागल ही लड़ेगा। मूर्च्छा है मूल वस्तु। काम, क्रोध, लोभ इससे ही पैदा होते हैं। मूर्च्छा टूटेगी तो ये आप ही विदा हो जायँगे। अगर मूर्च्छा से बचते हुए व्रत लेकर इन्हें खत्म करने की कोशिश की गई तो ये कभी खत्म न होंगे, क्योंकि मुर्च्छा भीतर जारी है। वह नए-नए रूपों में इन्हें पैदा करती रहेगी। एक कोने से न निकलकर दूसरे दरवाजे से ये फूट पड़ेंगे। महावीर तो बहुत स्पष्ट हैं कि साधना है अमूर्च्छा, संघर्ष यानी मूर्च्छा, संकल्प यानी जागरण।

आचारांग के एक वाक्य का अर्थ है कि 'तू बाह्य शत्रुओं से क्यों लड़ता है, अपनी आत्मा के शत्रुओं से ही लड़।' मैं सूत्रों की फिक्र नहीं करता, क्योंकि जो लोग उन्हें संगृहीत करते हैं वे कोई बहुत समझदार लोग नहीं होते। इसलिए उनसे तालमेल बिठाने का सवाल पैदा नहीं होता। यदि बैठ जाय तो यह आकस्मिक बात होगी। न बैठे तो मुझे इसकी परवा नहीं। 'आन्तरिक शत्रुओं से लड़' में कहीं-न कहीं बुनियादी भूल हो गई है, क्योंकि आन्तरिक शत्रु सिर्फ मूर्च्छा है। महावीर बार-बार यही कहते हैं। शत्रु एक ही है और मित्र भी एक। जागरण मित्र है और मूर्च्छा शत्रु। इसलिए सुनने वाले ने कहीं-न-कहीं भूल कर दी है। 'आन्तरिक शत्रु' से लड़ना है, न कि 'शत्रुओं' से। जो बहुत शत्रुओं से लड़ रहा है, वह बुनियादी भूल कर रहा है, क्योंकि मजे की बात तो यह है कि अगर काम चला जाय तो लोभ स्वतः चला जाता है, कोध चला जाता है, मोह चला जाता है। यानी वे चार जो तुम्हें दिखाई पड़ रहे हैं—काम, क्रोध, लोभ और मोह—संयुक्त हैं और उन सबका जो संयुक्त तना है नीचे, वह मूर्च्छा है। वहाँ से शाखाएँ निकलती रहती हैं। गहराई में उतरने वाले कहेंगे: 'मूर्च्छा से लड़ना है।' और लड़ना क्या है, जागना है। जागा हुआ आदमी कभी लोभी नहीं पाया गया और सोया हुआ आदमी कभी अलोभी नहीं हुआ, अकामी नहीं हुआ। और, याद रहे, व्रत से कभी कुछ नहीं मिटता, क्योंकि व्रत शाखाओं से लड़ाई है। महावीर और कृष्ण मुक्त हुए होंगे तो दमन से नहीं, जागरण से। फ्रॉयड के शोधों से यह बात पहली बार स्पष्ट हुई है। इस नियम को उसने पहली बार वैज्ञानिक ढंग से कहा है। इसलिए अब जो लोग महावीर को समझने के लिए फ्रॉयड के पूर्व की भाषा का उपयोग करेंगे वे महावीर को आज के युग के लिए उपयोगी बनने न देंगे। यह निश्चित है कि महावीर की मुक्ति जब भी घटी होगी, वह दमन से घटी न होगी। दमन से मूर्च्छा पर विजय पाना एक वैज्ञानिक असम्भावना है। यानी—अगर कोई कहे कि दमन से महावीर उपलब्ध हुए हैं तो फिर महावीर उपलब्ध न हुए होंगे और अगर वे उपलब्ध हुए तो उन्होंने दमन न

किया होगा। मैं मानता हूँ कि वे उपलब्ध हुए, क्योंकि जैसी शान्ति, जैसा आनन्द और जैसी ज्योति उनके व्यक्ति में आई वैसी दमित व्यक्ति को आ ही नहीं सकती। दमित व्यक्ति के चेहरे पर, मन पर सब ओर तनाव ही तनाव होता है। सिर्फ विमुक्त आदमी के मन में वैसी शान्ति हो सकती है जैसी महावीर के मन में है।

४

प्रश्न किए जाते हैं कि जिसे मैं सामायिक या आत्म-स्थिति कहता हूँ, क्या वह वीतरागता ही नहीं है? आत्म-स्थिति में होनेवाले लोग क्या जीवन-व्यवहार में आकर अपनी आत्म-स्थिति खो नहीं देते? मेरा उत्तर है—नहीं, वे इसे नहीं खोते। आप चाहे जागे हों या सोए, काम कर रहे हों या शान्त बैठे हों, आपकी साँस चलती ही रहती है, क्योंकि वह जीवन की स्थिति है। ऐसी ही चेतना की स्थिति है। एक बार वह हमारे खयाल में आ जाय तो फिर कभी मिटती नहीं। यानी जीवन-व्यवहार में उसका ध्यान नहीं रखना पड़ता कि वह बनी रहे—वह हमेशा बनी ही रहती है। धनपति को चौबीस घंटे यह याद रखना नहीं पड़ता कि वह धनपति है। लेकिन धनपति होने की वह स्थिति बनी रहती है चौबीस घंटे। हमारी स्थितियाँ हमारे साथ ही चलती हैं। एक पल के हजारवें हिस्से में भी अगर हमें आत्म-स्थिति का अनुभव हुआ है तो वह अनुभव बराबर बना रहेगा, क्योंकि हमारे पास पल के हजारवें हिस्से से बड़ा कोई समय होता ही नहीं।

'सामायिक' को मैं मार्ग कहता हूँ, वीतरागता को मंजिल। सामायिक द्वार है, वीतरागता उपलब्धि। साधन और साध्य अन्ततः अलग-अलग नहीं हैं। साधन ही विकसित होते-होते साध्य हो जाता है। वीतरागता में परम उपलब्धि होगी उसकी जिसे सामायिक में धीरे-धीरे उपलब्ध किया जाता है। सामायिक में पूरी तरह स्थिर हो जाना वीतरागता में प्रवेश करना है।

कृष्ण ने जिसे 'स्थिर' या 'स्थितप्रज्ञ' कहा है, वह वही है जो वीतराग है। दोनों शब्द बहुमूल्य हैं। वीतराग वह है जो सब द्वन्द्वों के पार चला गया है, जो दो के पार चला गया है, जो एक में ही पहुँच गया है। अब ध्यान रहे कि स्थिर या स्थितप्रज्ञ वह है जिसकी प्रज्ञा ठहर गई है, जिसकी प्रज्ञा काँपती नहीं। प्रज्ञा उसकी ही काँपती है जो द्वन्द्व में जीता है—दो के बीच जीता है। जहाँ द्वन्द्व है, वहाँ कम्पन है। महावीर ने द्वन्द्व के निषेध पर जोर दिया है, इसलिए 'वीतराग' शब्द का उपयोग किया है; कृष्ण ने द्वन्द्व की बात ही नहीं की, स्थिरता पर जोर दिया। एक ही चीज को दो तरफ से पकड़ने की कोशिश की है दोनों ने। कृष्ण पकड़ रहे हैं दीए की स्थिरता से; महावीर पकड़ रहे हैं द्वन्द्व के निषेध से। लेकिन द्वन्द्व का निषेध हो तो प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, प्रज्ञा स्थिर हो जाय तो द्वन्द्व का निषेध हो जाता है। ये दोनों एक ही अर्थ रखते हैं।

यह भी न भूलें कि जीवन-व्यवहार हमसे निकलता है। हम जैसे हैं वैसा ही हो जाता है। हम मूर्च्छित हैं तो हमारा जीवन-व्यवहार मूर्च्छित होता है। जो हम करते हैं, उसमें मूर्च्छा होती है। अगर हम ज्ञान में पहुँच गए तो हमारा जीवन-व्यवहार ज्ञान से भर जाता है। अगर मूल स्रोत अमृत से भर गया तो फिर जो लहरें छलकेंगी, उनमें अमृत भरा होगा।

मैंने ऊपर जिस अन्तर्ज्योति की बात कही, वह ऐसी ज्योति नहीं जो कभी बुझती है। वह अभी भी जल रही है। वह कभी बुझी नहीं, क्योंकि वह हमारी चेतना का अन्तिम हिस्सा है— वह हमारा स्वभाव है। पीठ फेरेंगे, लौटकर देखेंगे तो उसे जली हुई पायँगे।

पंचम अध्याय

कर्मवाद

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बज्झगं ।।[1]

—उत्त० अ० ३३ गा० १८

१

कर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ समझना जरूरी है, क्योंकि जितनी नासमझी इस बात के सम्बन्ध में है, उतनी शायद किसी बात के सम्बन्ध में नहीं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि किसी सत्य-चिन्तन के आसपास असत्य की कितनी दीवारें खड़ी हो सकती हैं ! साधारणतः कर्मवाद ऐसा कहता हुआ प्रतीत होता है कि जो हमने किया है, उसका फल हमें भोगना पड़ेगा। हमारे कर्म और हमारे भोग में एक अनिवार्यकार्य-कारण सम्बन्ध है। यह बिलकुल सत्य है कि जो हम करते हैं, उससे अन्यथा हम नहीं भोगते—भोग भी नहीं सकते। **कर्म भोग की तैयारी है।** असल में, कर्म भोग का प्रारम्भिक बीज है। फिर वही बीज भोग में वृक्ष बन जाता है।

कर्मवाद का जो सिद्धान्त प्रचलित है, उसमें ठीक बात को भी इस ढंग से रखा गया है कि वह बिलकुल गलत हो गई है। उस सिद्धान्त में ऐसी बात न मालूम किन कारणों से प्रविष्ट हो गई है कि कर्म तो हम अभी करेंगे और भोगेंगे अगले जन्म में। कार्य-कारण के बीच अन्तराल नहीं होता—अन्तराल हो ही नहीं सकता। अगर अन्तराल आ जाय तो कार्य-कारण विच्छिन्न हो जायँगे, उनका सम्बन्ध टूट जायगा। आग में मैं अभी हाथ डालूँ और जलूँ अगले जन्म में—यह समझ के बाहर की बात होगी। लेकिन इस तरह के सिद्धान्त का, इस तरह की भ्रान्ति का कुछ कारण है। वह यह है कि हम एक ओर तो भले आदमियों को दुःख झेलते देखते हैं, वहीं दूसरी ओर हमें बुरे लोग सुख उठाते दीखते हैं। अगर प्रतिपल हमारे कार्य और कारण परस्पर जुड़े हैं तो बुरे लोगों का सुखी होना और भले लोगों का दुखी, होना, कैसे समझाया जा सकता है ? एक आदमी भला है, सच्चरित्र है, ईमानदार है और दुःख भोग रहा है, कष्ट पा रहा है; दूसरा आदमी बुरा है, बेईमान है, चरित्रहीन है और

---

१. सभी जीव अपने आसपास छहों दिशाओं में स्थित कर्मप्रद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्व प्रदेशों के साथ सर्व कर्मों का सर्व प्रकार से बन्धन हो जाता है।

सुख पा रहा है; वह धन-धान्य से भरा-पूरा है। अगर अच्छे कार्य तत्काल फल लाते हैं तो अच्छे आदमी को सुख भोगना चाहिए और यदि बुरे कार्यों का परिणाम तत्काल बुरा होता है तो बुरे आदमी को दुःख भोगना चाहिए। परन्तु ऐसा कम होता है।

जिन्होंने इसे समझने-समझाने की कोशिश की उन्हें मानो एक ही रास्ता मिला। उन्होंने पूर्व जन्म में किए गए पुण्य-पाप के सहारे इस जीवन के सुख-दुख को जोड़ने की गलती की और कहा कि अगर अच्छा आदमी दुःख भोगता है तो वह अपने पिछले बुरे कार्यों के कारण और अगर कोई बुरा आदमी सुख भोगता है तो अपने पिछले अच्छे कर्मों के कारण। लेकिन इस समस्या को सुलझाने के दूसरे उपाय भी थे और असल में दूसरे उपाय ही सच हैं। पिछले जन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दुःख की व्याख्या करना कर्मवाद के सिद्धान्त को विकृत करना है। सच पूछिए तो ऐसी ही व्याख्या के कारण कर्मवाद की उपादेयता नष्ट हो गई है।

कर्मवाद की उपादेयता इस बात में है कि वह कहता है—तुम जो कर रहे हो, वही तुम भोग रहे हो। इसलिए तुम ऐसा करो कि सुख भोग सको, आनन्द पा सको। अगर तुम क्रोध करोगे तो दुःख भोगोगे, भोग ही रहे हो। क्रोध के पीछे ही दुःख भी आ रहा है छाया की तरह। अगर प्रेम करोगे, शान्ति से रहोगे और दूसरों को शान्ति दोगे तो शान्ति अर्जित करोगे : यही थी उपयोगिता कर्मवाद की। किन्तु इसकी गलत व्याख्या की गई। कहा गया कि इस जन्म के पुण्य का फल अगले जन्म में मिलेगा, यदि दुःख है तो इसका कारण पिछले जन्म में किया गया कोई पाप होगा। ऐसी बातों का चित्त पर बहुत गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति इतने दूरगामी चित्त का नहीं होता कि वह अभी कर्म करे और अगले जन्म में मिलने-वाले फल से चिन्तित हो। अगला जन्म अँधेरे में खो जाता है। अगले जन्म का क्या भरोसा? पहले तो यही पक्का नहीं कि अगला जन्म होगा या नहीं। फिर, यह भी पक्का नहीं कि जो कर्म अभी फल दे सकने में असमर्थ है, वह अगले जन्म में देगा ही। अगर एक जन्म तक कुछ कर्मों के फल रोके जा सकते हैं तो अनेक जन्मों तक क्यों नहीं? तीसरी बात यह है कि मनुष्य का चित्त तत्कालजीवी है। वह कहता है : ठीक है, अगले जन्म में जो होगा, होगा; अभी जो हो रहा है, करने दो। अभी मैं क्यों चिन्ता करूँ अगले जन्म की?

इस प्रकार कर्मवाद की जो उपयोगिता थी, वह नष्ट हो गई। जो सत्य था, वह भी नष्ट हो गया। सत्य है कार्य-कारण सिद्धान्त जिस पर विज्ञान खड़ा है। अगर कार्य-कारण के सिद्धान्त को हटा दो तो विज्ञान का सारा भवन धराशायी हो जाय।

ह्यूम नामक दार्शनिक ने इंगलैंड में और चार्वाक ने भारतवर्ष में कार्य-कारण के सिद्धान्त को गलत सिद्ध करना चाहा। अगर ह्यूम जीत जाता तो विज्ञान का जन्म

नहीं होता। अगर चार्वाक जीत जाता तो धर्म का जन्म नहीं होता, क्योंकि चार्वाक ने भी कार्य-कारण के सिद्धान्त को न माना। उसने कहा : 'खाओ, पिओ, मौज करो, क्योंकि कोई भरोसा नहीं कि जो बुरा करता है, उसे बुरा ही मिले। देखो, एक आदमी बुरा कर रहा है और भला भोग रहा है। चोर मजा कर रहा है, अचोर दुखी है। जीवन के सभी कर्म असम्बद्ध हैं। बुद्धिमान आदमी जानता है कि किसी कर्म का किसी फल से कोई सम्बन्ध नहीं।'

चार्वाक के विरोध में ही महावीर का कर्म-सिद्धान्त है।

धर्म भी विज्ञान है और वह भी कार्य-कारण सिद्धान्त पर खड़ा है।

विज्ञान कहता है : 'अभी कारण, अभी कार्य।' परन्तु जब तथाकथित धार्मिक कहते हैं : 'अभी कारण, कार्य अगले जन्म में' तो धर्म का वैज्ञानिक आधार खिसक जाता है। यह अन्तराल एकदम झूठ है। कार्य और कारण में अगर कोई सम्बन्ध है तो उसके बीच में अन्तराल नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तराल हो गया तो सम्बन्ध क्या रहा? चीजें असम्बद्ध हो गईं, अलग-अलग हो गईं। यह व्याख्या नैतिक लोगों ने खोज ली, क्योंकि वे समझ नहीं सके जीवन को।

मेरी अपनी समझ यह है कि प्रत्येक कर्म तत्काल फलदायी है। जैसे—यदि मैंने क्रोध किया तो मैं क्रोध करने के क्षण से ही क्रोध को भोगना शुरू करता हूँ। ऐसा नहीं कि अगले जन्म में इसका फल भोगूँ। क्रोध का करना और क्रोध का दुख भोगना साथ-साथ चल रहा है। क्रोध विदा हो जाता है लेकिन दुख का सिलसिला देर तक चलता है। यदि दुख और आनन्द अगले जन्म में मिलेंगे और उनके लिए प्रतीक्षा करनी होगी तो कहीं किसी को हिसाब-किताब रखने की जरूरत होगी। परन्तु, फल के लिए प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं होती। वह तत्काल मिलता है। हिसाब-किताब रखने की जरूरत नहीं होती। इसलिए महावीर भगवान् को भी विदा कर सके। अगर जन्म-जन्मान्तर का हिसाब-किताब रखना है तो फिर नियन्ता की व्यवस्था जरूरी है। नियन्ता की जरूरत वहाँ होती है जहाँ नियम का लेखा-जोखा रखना पड़ता है। क्रोध मैं अभी करूँ और फल मुझे किसी दूसरे जन्म में मिले तो इसका हिसाब कहाँ रहेगा? इसलिए कुछ लोगों ने कहा : परमात्मा के पास। उन लोगों का परमात्मा महालिपिक है जो हमारे पुण्य-पाप का हिसाब रखता है और देखता है कि नियम पूरे हो रहे हैं या नहीं।

महावीर ने बड़ी वैज्ञानिक बात कही है। उनके अनुसार नियम पर्याप्त हैं, नियन्ता की जरूरत नहीं है। अगर नियन्ता है तो नियम में गड़बड़ी होने की सम्भावना बनी रहेगी। लोग उसकी प्रार्थना करेंगे, खुशामद करेंगे और वह खुश होकर नियमों में उलट-फेर करता रहेगा। कभी प्रह्लाद-जैसे भक्तों को वह आग में जलने न देगा और कभी नाराज होगा तो आग को जलाने की आज्ञा देगा। उसके भक्त को पहाड़ से

गिराओ तो उसके पैर नहीं टूटते; किसी दूसरे व्यक्ति को गिराओ तो उसके पैर टूट जाते हैं। प्रह्लाद की कथा पक्षपात की कथा है। उसमें अपने आदमी की फिक्र की जा रही है और नियम के अपवाद बनाए जा रहे हैं। महावीर कहते हैं कि अगर प्रह्लाद-जैसे अपवाद हैं तो फिर धर्म नहीं हो सकता। धर्म का आधार समानता है; नियम है जो भगवान के भक्तों पर उसी बेरहमी से लागू होता है जिस बेरहमी से उन लोगों पर जो उसके भक्त नहीं हैं। यदि अपवाद की बात मान ली जाय तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि क्षय के कीटाणु किसी दवा से न मरें। हो सकता है कि क्षय के कीटाणु भी प्रह्लाद की तरह भगवान् के भक्त हों और कोई दवा काम न करे। यदि धर्म है तो नियम है और अगर नियम है तो नियन्ता में बाधा पड़ेगी। इसलिए महावीर नियम के पक्ष में नियन्ता को विदा कर देते हैं। वे कहते हैं कि नियम काफी हैं और नियम अखंड हैं। प्रार्थना, पूजा उनसे हमारी रक्षा नहीं कर सकती। नियम से बचने का एक ही उपाय है कि नियम को समझ लो। यह जान लो कि आग में हाथ डालने से हाथ जलता है, इसलिए हाथ मत डालो।

महावीर न तो चार्वाक को मानते हैं और न नियन्ता के माननेवालों को। चार्वाक नियम को तोड़कर अव्यवस्था पैदा करता है और नियन्ता के माननेवाले नियम के ऊपर किसी नियन्ता को स्थापित कर अव्यवस्था पैदा करते हैं। महावीर पूछते हैं कि यह भगवान् नियम के अन्तर्गत चलता है या नहीं? अगर नियम के अन्तर्गत चलता है तो उसकी जरूरत क्या है? यानी—अगर भगवान् आग में हाथ डालेगा तो उसका हाथ जलेगा कि नहीं? अगर जलता है तो वह भी वैसा ही है जैसा हम हैं; अगर नहीं जलता तो ऐसा भगवान् खतरनाक है। यदि हम उससे दोस्ती करेंगे तो आग में हाथ भी डालेंगे और शीतल होने का उपाय भी कर लेंगे। इसलिए महावीर कहते हैं कि नियम को न मानना अवैज्ञानिक है और नियन्ता की स्वीकृति नियम में बाधा डालती है। विज्ञान कहता है कि किसी भगवान् से हमें कुछ लेना-देना नहीं, हम तो प्रकृति के नियम खोजते हैं। ठीक यही बात ढाई हजार साल पहले महावीर ने चेतना के जगत् में कही थी। उनके अनुसार नियम शाश्वत, अखंड और अपरिवर्तनीय है। उस अपरिवर्तनीय नियम पर ही धर्म का विज्ञान खड़ा है। यह असम्भव ही है कि एक कर्म अभी हो और उसका फल अगले जन्म में मिले। फल इसी कर्म की श्रृंखला का हिस्सा होगा जो इसी कर्म के साथ मिलना शुरू हो जायगा। हम जो भी करते हैं उसे भोग लेते हैं। यदि मेरी अशान्ति पिछले जन्म के कर्मों का फल है तो मैं इस अशान्ति को दूर नहीं कर सकता। इस प्रकार मैं एकदम परतंत्र हो जाता हूँ और गुरुओं के पास जाकर शान्ति के उपाय खोजता हूँ। मगर सही बात यह है कि जो मैं अभी कर रहा हूँ उसे अनकिया करने की सामर्थ्य भी मुझमें है। अगर मैं आग में हाथ डाल रहा हूँ और मेरा हाथ जल रहा है, और अगर मेरी मान्यता यह है कि

पिछले जन्म के किसी पाप का फल भोग रहा हूँ तो मैं हाथ डाले चला जाऊँगा, क्योंकि पिछले जन्म के कर्म को मैं बदल कैसे सकता हूँ ? जिन गुरुओं की यह मान्यता है कि पिछले जन्म के किसी कर्म के कारण मेरा हाथ जल रहा है, वे यह नहीं कहेंगे कि हाथ बाहर खींचो तो जलना बन्द हो जाय। इसका मतलब यह हुआ कि हाथ अभी डाला जा रहा है और अभी डाला गया हाथ बाहर भी खींचा जा सकता है, लेकिन पिछले जन्म में डाला गया हाथ आज कैसे बाहर खींचा जा सकता है ? हमारी इस व्याख्या ने कि अनन्त जन्मों तक कर्म के फल चलते हैं, मनुष्य को एकदम परतंत्र कर दिया है। किन्तु मेरा मानना है कि सब कुछ किया जा सकता है इसी वक्त, क्योंकि जो हम कर रहे हैं वही हम भोग रहे हैं।

जिन्दगी की विषमता को समझने के लिए ऊटपटाँग व्यवस्थाएँ गढ़ ली जाती हैं। मेरी समझ में यदि कोई बुरा आदमी सफल होता है, सुखी है तो इसका भी कारण है। मैं बुरे आदमी को एक बहुत बड़ी जटिल घटना मानता हूँ। हो सकता है, वह झूठ बोलता हो, बेईमानी करता हो, लेकिन उसमें कुछ और गुण होंगे जो हमें दिखाई नहीं पड़ते। वह साहसी हो सकता है, बुद्धिमान् हो सकता है, एक-एक कदम को समझकर उठानेवाला हो सकता है। उसके एक पहलू को देखकर ही कि वह बेईमान है, आपने निर्णय करना चाहा तो आप गलती कर लेंगे। हो सकता है कि अच्छा आदमी चोरी न करता हो, बेईमानी भी न करता हो, लेकिन वह कायर हो। बुद्धिमान् आदमी के लिए अच्छा होना अक्सर मुश्किल हो जाता है। बुद्धिमान आदमी अच्छा होने के लिए मजबूर होता है। मेरी मान्यता है कि सफलता मिलती है साहस से। अगर बुरा आदमी साहसी है तो सफलता ले आयगा। अच्छा आदमी अगर साहसी है तो वह बुरे आदमी की अपेक्षा हजार गुनी सफलता ले आयगा। सफलता मिलती है बुद्धिमानी से। अगर बुरा आदमी बुद्धिमान् है तो उसे सफलता मिलेगी ही। अगर अच्छा आदमी बुद्धिमान् है तो उसे हजार गुनी सफलता मिलेगी। लेकिन सफलता अच्छे भर होने से नहीं आती। सफलता आती है बुद्धिमानी से, विचार से, विवेक से। कोई आदमी अच्छा है, मन्दिर जाता है, प्रार्थना करता है, लेकिन उसके पास पैसे नहीं हैं। अब मन्दिर जाने और प्रार्थना करने से पैसा होने का क्या सम्बन्ध ? अगर कोई अच्छा आदमी यह कहे कि मैं सुखी नहीं हूँ, क्योंकि मैं अच्छा हूँ और वह दूसरा आदमी सुखी है क्योंकि वह बुरा है तो अच्छा दीखनेवाला वह आदमी बुरे होने का सबूत दे रहा है। वह ईर्ष्या से भरा हुआ आदमी है। बुरे आदमी को जो-जो मिला है वह सब पाना चाहता है और अच्छा रहकर पाना चाहता है। यानी आकांक्षा ही बड़ी बेहूदी है। यदि बुरे आदमी ने दस लाख रुपए कमा लिये तो इसके लिए उसने बुरे होने का सौदा चुकाया, बुरे होने की पीड़ा झेली, बुरे होने का दंश झेला। अच्छा आदमी मन्दिर में पूजा करना चाहता है, घर में

बैठना चाहता है और बुरे आदमी को दस लाख रुपए मिले हैं, वह भी चाहता है। जब उसे रुपये नहीं मिलते तो कहता है कि मैं अपने पिछले जन्म के बुरे कर्मों का फल भोग रहा हूँ। उसे झूठी सान्त्वना भी मिलती है कि जहाँ वह अगले जन्म में स्वर्ग में होगा वहीं वह बुरा आदमी नरक में।

मैं कहता हूँ कि कर्म का फल तत्काल मिलता है, लेकिन कर्म बहुत जटिल बात है। साहस भी कर्म है और उसका भी फल होता है; साहसहीनता भी कर्म है और उसके भी फल हैं। इसी प्रकार बुद्धिमानी भी कर्म है, बुद्धिहीनता भी कर्म। इनके भी अपने-अपने फल हैं। यदि असफलता के कारण उनके भीतर होंगे तो अच्छे आदमी भी असफल हो सकते हैं। बुरे आदमी भी सुखी हो सकते हैं यदि सुख के कारण उनके भीतर वर्तमान होंगे। किसी और का दुख तो हमें दिखता नहीं, दुख सिर्फ अपना और सुख सदा दूसरे का दिखता है। ऐसे ही शुभ कर्म हमें अपना और अशुभ कर्म दूसरे का दिखता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म को शुभ मानता है, क्योंकि इससे उसके अहंकार की तृप्ति होती है। सुख के हम आदी होते जाते हैं, दुख के कभी आदी नहीं हो पाते। आदमी दूसरे का देखता है अशुभ और सुख, अपना देखता है शुभ और दुख। उपद्रव हो गया तो वह कर्मवाद के सिद्धान्त का आश्रय लेता है। मेरी मान्यता यह है कि अगर वह सुख भोग रहा है तो उसमें कुछ ऐसा जरूर है जो सुख का कारण है, क्योंकि अकारण कुछ भी नहीं होता। अगर एक डाकू सुखी है तो इसका भी कारण है। साधु के दुखी होने का भी कारण है। अगर दस डाकू साथ होंगे तो उनमें इतना भाई-चारा होगा जितना दस साधु में कभी सुना नहीं गया। लेकिन अगर दस डाकुओं में मित्रता है तो वे मित्रता के सुख अवश्य भोगेंगे। साधु कैसे भोगेगा उस सुख को? डाकू कभी एक-दूसरे से झूठ नहीं बोलेंगे, लेकिन साधु एक-दूसरे से बिलकुल झूठ बोलते रहेंगे। सच बोलने का जो सुख है वह साधु नहीं भोग सकता।

अन्त में मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अकस्मात् कुछ भी नहीं होता। यदि कुछ घटनाओं को अकस्मात् होना मान लें तो कार्य-कारण का सिद्धान्त व्यर्थ हो जाता है। यहाँ तक कि लॉटरी भी किसी को अकस्मात् नहीं मिलती। हो सकता है कि जिन लाख लोगों ने लॉटरी लगाई उनमें सबसे ज्यादा संकल्पवाला आदमी वही हो जिसे लॉटरी मिली। ऐसे ही हजार कारण हो सकते हैं जो हमें दीख नहीं पड़ते। वस्तुतः उस घटना को ही अकस्मात् कहते हैं जिसके कारण का हमें पता नहीं होता। ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनका कारण हमारी समझ में नहीं आता। जीवन सचमुच बहुत जटिल है। इसमें कोई घटना कैसे घटित हो रही है यह ठीक-ठीक कहना एकदम मुश्किल है, लेकिन इतना तो निश्चित है कि जो घटना हो रही है उसके पीछे कोई-न-कोई कारण है, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात। कर्म के सिद्धान्त

का बुनियादी आधार यह है कि अकारण कुछ भी नहीं होता। दूसरा बुनियादी आधार यह है कि जो हम कर रहे हैं वही भोग रहे हैं और उसमें जन्मों के फासले नहीं हैं। हमें जानना चाहिए कि हम जो भोग रहे हैं, उसके लिए हमने कुछ उपाय किया है, चाहे सुख हो या दुख, चाहे शान्ति हो या अशान्ति।

२

मेरी मान्यता है कि लॉटरी भी किसी को अकारण नहीं मिलती। हो सकता है कि जिस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति सबसे अधिक प्रबल हो उसे ही लॉटरी मिले। इच्छा-शक्ति पर हजारों प्रयोग किए गए और यह निर्णीत हो गया है कि भीतर का संकल्प पाँसे तक को प्रभावित करता है, ताश के पत्तों तक को प्रभावित करता है। यह भी आकस्मिक नहीं है कि किसी व्यक्ति को भीतरी संकल्प मिल जाता है और किसी को नहीं। भीतरी संकल्प भी उसके उन हजारों अनुभवों का फल होता है जिनसे वह गुजरा है।

प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि किसी एक व्यक्ति को लॉटरी मिलनी है, इसलिए उसे मिल गई? नहीं, यदि लॉटरी का मिलना निपट संयोग है तो उसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। लेकिन ऐसे भी लोग हैं जो बता देंगे कि लॉटरी किसको मिलेगी। हिटलर की मृत्यु को बतानेवाले लोग थे। चीन भारत पर किस दिन हमला करेगा, इसकी भी भविष्यवाणी की गई थी। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि संयोग-जैसी कोई चीज नहीं है। यहाँ तक कि हिरोशिमा में दो लाख व्यक्तियों का एक साथ मरना भी संयोग नहीं है। हिरोशिमा में दो लाख व्यक्तियों का मरना आकस्मिक दीखता है, क्योंकि इन दो लाख व्यक्तियों के भीतर हमारा कोई प्रवेश नहीं है। लेकिन पूछा जा सकता है कि अणु बम हिरोशिमा पर ही क्यों गिरा? हिरोशिमा कोई महत्त्वपूर्ण नगर न था। टोकियो पर गिर सकता था, पर नागासाकी पर क्यों गिरा? जब तक हम इनके कारणों के भीतर––हिरोशिमा के लोगों के भीतर—प्रवेश नहीं करते तब तक हमारे लिए कुछ कहना असम्भव होगा। हो सकता है कि हिरोशिमा में ही जापान के सबसे ज्यादा आत्मघातेच्छुक लोग रहे हों और उन्होंने ही अणु बम को आकर्षित किया हो।

यह जानने की जिज्ञासा भी बहुत स्वाभाविक है कि जो बच्चे अंगहीन, अंधे या अस्वस्थ पैदा होते हैं, इसमें उनका क्या कसूर? उन्होंने कौन-सा कर्म किया है जिसकी वजह से वे कष्ट भोगते हैं? इसके उत्तर में वैज्ञानिक कहेगा कि माँ-बाप के जिन अणुओं से बच्चे का जन्म हुआ उनमें अंधेपन की गुंजाइश थी, उनमें कोई रासायनिक कमी थी जिसके कारण आँख नहीं बन पाई। धार्मिक व्यक्ति का उत्तर कुछ और होगा। उसकी दृष्टि में पैदा होने के पीछे भी कारण है, सिर्फ अंधा होने के

पीछे ही नहीं। धर्म कहता है कि मरते वक्त आदमी की ऐसी स्थितियाँ हो सकती हैं कि वह खुद आँख न चाहे या उसके कर्मों का पूरा योग हो सकता है उस क्षण में कि आँख सम्भव न रहे। जब ऐसे आदमी की मृत्यु होती है तो उसकी आत्मा उसी माँ-बाप के शरीर में प्रवेश करती है जिसमें अंधे होने के सभी संयोग जुड़ गए हों।

अब प्रश्न उठता है कि जब आत्मा उसी माँ-बाप के शरीर में प्रवेश करती है जिसमें उसके लिए अंधे होने के संयोग जुड़े हैं तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्मों के फल दूसरे जन्म तक जाते हैं ?

मेरा कहना है कि एक जन्म से दूसरे जन्म में कर्म के फल नहीं जाते। लेकिन जो कर्म और फल हमने किए और भोगे, उनकी एक सूखी रेखा हमारे साथ रह जाती है। उस सूखी रेखा को मैं संस्कार कहता हूँ। कर्मों के फल दूसरे जन्म तक नहीं जाते। यदि मैंने पिछले जन्म में गाली दी थी तो फल उसी जन्म में भोग लिया था, फिर भी मैं उस व्यक्ति से भिन्न हूँ जिसने गालीं नहीं दी थी। मेरे पास एक सूखी रेखा है, गाली देने और गाली का फल भोगने की। इस जन्म में मेरे साथ सम्भावना है कि कोई गाली दे तो मैं फिर गाली दूँ, क्योंकि वह सूखी रेखा जो है ! न्यूनतम प्रतिरोध की वजह से मैं उसे फौरन पकड़ लूँगा। हमने जो किया और भोगा है, उसने हमें एक खास परिस्थिति दी है, एक खास संस्कारबद्धता को जन्म दिया है। वही संस्कारबद्धता हमें खास मार्गों पर प्रवाहित करती है। वे खास मार्ग सब रूपों में कारण से बँधे होंगे।

इसे एक उदाहरण से समझें। जैसे, यदि कोई आग में हाथ डालता है तो उसे उसी वक्त जलना पड़ता है। लेकिन मेरा कहना है कि यह आदमी आग में हाथ डालने की प्रवृत्तिवाला है। दूसरे जन्म में भी इससे डर है कि कहीं यह आग में हाथ न डाल दे। आग में बार-बार हाथ डालने की इसकी आदत भय पैदा करती है। फिर भी इसका यह मतलब नहीं कि यह आदमी आग में हाथ डालने को बँधा है। यह चाहे तो न डाले ! इसका मतलब यह हुआ कि कर्मों की निर्जरा नहीं करनी है आपको। कर्मों की निर्जरा हर कर्म के साथ होती चली जाती है। पीछे सूखी रेखा रह जाती है। इस सूखी रेखा से आपको ज्ञान हो जाना काफी है। इसलिए मोक्ष या निर्वाण तत्काल हो सकता है, पुरानी धारणा के अनुसार वह तत्काल नहीं हो सकता, क्योंकि आपने जितने कर्म किए हैं उनके फल आपको भोगने ही पड़ेंगे। जब आप सारे फल भोग लेंगे तभी आपकी मुक्ति हो सकती है। और यदि इन फलों को भोगने में आपने फिर कुछ कर्म कर लिये तो आप फिर बँध जायँगे। इस शृंखला का कभी अन्त न होगा। यदि पुरानी व्याख्या सही है तो कोई कभी मुक्त हो ही नहीं सकता। कारण कि कल मैंने जितने पाप किए, जितनी बुराइयाँ कीं, उनका फल भोगना अनिवार्य है। किन्तु, उनका फल कैसे भोगूँगा ? जब कोई मुझे गाली देगा

(क्योंकि मैंने पिछले जन्म में उसे गाली दी थी) तो फिर मेरा कर्म शुरू हो जायगा, क्योंकि गाली देने की मेरी वृत्ति—सूखी रेखा—मेरे साथ है ही। अब अगर वह मुझे गाली देगा तो मैं फिर उसे गाली दूँगा और यह सिलसिला अनन्त जन्मों तक चलता रहेगा, क्योंकि अगर एक कर्म भी शेष रह गया तो उसे भोगने में फिर नए-नए कर्म निर्मित होने चले जायँगे। अगर कर्मवाद की पुरानी व्याख्या सही है तो दुनिया में कभी कोई मुक्त हुआ ही नहीं। लेकिन दुनिया में मुक्त लोग हुए हैं और वे इसलिए मुक्त हो सके हैं कि कर्मों के फल आगे के लिए शेष नहीं रह जाते। सिर्फ रह जाती है सोयी हुई वृत्ति। और अगर आदमी सोया ही रहे तो उन्हीं कर्मों को दोहराता चला जायगा। जाग जाय तो दुहराना बन्द कर देगा। यानी मुझे कोई मजबूर नहीं कर रहा है कि मैं क्रोध करूँ सिवा मेरी मूर्च्छा के। अगर मैं जाग गया हूँ तो कहता हूँ कि ठीक है, इस रास्ते से बहुत बार जा चुके, बहुत दुःख उठा चुके।

इसलिए महावीर ने कोशिश की थी कि प्रत्येक व्यक्ति को पिछले जन्मों का स्मरण हो, ताकि उसे इस बात का पूरा-पूरा एहसास हो जाय कि उसने क्या-क्या किया था। अगर किसी व्यक्ति को दो-चार जन्मों का स्मरण हो जाय तो उसे पता लगेगा कि उसने बहुत बार धन कमाया, बेईमानी की, प्रेम किया, यश कमाया, अपमान सहा—उसने वे सारे कर्म-कुकर्म किए थे जिन्हें वह इस जन्म में कर रहा है। ऐसा एहसास होते ही वह जाग उठेगा और फिर इनकी ओर उन्मुख न होगा। उसे यह साफ-साफ दीख पड़ेगा कि धन, यश, प्रेम आदि सब व्यर्थ हैं। उसने धन कमाया था, परन्तु क्या हुआ उस धन का ? उसे पिछले जन्मों में यश मिला था, परन्तु कहाँ गया वह यश ? यदि वे न रहे तो फिर इस जन्म के धन और यश भी न रहेंगे। फिर इनके लिए इतनी परेशानी क्यों ? तो यह जागरण उसकी सूखी रेखा को तोड़ने का कारण बन जायगा। इसमें तत्काल बोध की सम्भावना है। सच तो यह है कि जब भी मुक्ति होती है, वह तत्काल होती है।

इसी सन्दर्भ में एक बात और समझ लेनी चाहिए कि अन्याय कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो हम कर रहे हैं, वही हम भोग रहे हैं। पुराना खयाल था कि अगर मैं किसी को चाँटा मारूँ तो किसी जन्म में वह भी मुझे चाँटा मारेगा। इसका मतलब यह हुआ कि अगर मैंने किसी को चाँटा मार दिया तो जबतक वह मुझे चाँटा न मार ले, तब तक वह भी मुक्त नहीं हो सकता। यानी मेरा कृत्य उसकी भी अमुक्ति का कारण बन जायगा। वह इसी जन्म में मुक्त हो सकता था, मगर अब वह तब तक मुक्त न होगा जब तक वह मुझे चाँटा न मार ले। क्योंकि मुझे चाँटा मारेगा कौन ? हिसाब कैसे पूरा होगा ? उसे जन्म तो लेना ही पड़ेगा और वह भी मेरे कारण।

ऐसे तर्क सर्वथा निराधार होते हैं। मेरा कहना यह है कि जब मैं किसी को चाँटा मारूँ तो वह मुझे चाँटा मारे ही, यह अनिवार्य नहीं है। चाँटा मारने में मैं

जिस वृत्ति से गुजरता हूँ, वह मुझे दुख दे जाती है। चाँटा लौटाने का सवाल नहीं उठता। यदि वह भी चाँटा मारता है तो उसका यह कर्म मेरे चाँटा मारने का फल नहीं है। वह उसका कर्म है जिसका फल उसे भोगना पड़ेगा। इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है। मैंने किसी को चाँटा मारा है। अगर वह चुपचाप खड़ा रहे और यह सोचकर कि मारनेवाला बेचारा पागल है, वह कुछ न करे और चाँटे को साक्षी भाव से देखता रहे, तो उसने कोई कर्मबन्ध नहीं किया। मेरे कर्मों की शृंखला से उसने कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा। लेकिन अगर मेरे चाँटे के उत्तर में वह भी चाँटा मारे तो वह मेरे चाँटे का उत्तर नहीं है। अपने चाँटे का उत्तर तो मैं ही भोग रहा हूँ। वह अपने चाँटे का उत्तर स्वयं भोगता है। यह उसकी कर्म-शृंखला है। इससे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। इसमें कुछ अन्याय भी नहीं।

इस सम्बन्ध में दो प्रश्न उठते हैं : एक तो यह कि क्या ऐसे लोग नहीं होते जो चाँटा भी मारें और उसका आनन्द भी लें ? दूसरा यह कि जिसे हम चाँटा मारते हैं उसे क्या दुःख नहीं होता ? मैं कहता हूँ कि मैं चाँटा उसी को मारता हूँ जो चाँटे को आकर्षित करता है। यह असम्भव है कि मैं उसको चाँटा मारूँ जो चाँटे को आकर्षित न करे। आकर्षित करने की वजह से वह दुःख उठाता है। आकर्षण उसका हिस्सा है। यानी कोई आदमी इस दुनिया में अकेले मालिक नहीं होता। गुलाम भी उसके साथ गुलाम होना चाहता है। नहीं तो यह सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। जो गुलाम बनना नहीं चाहता उसे असम्भव है गुलाम बनाना। इसलिए मैं कहता हूँ कि अन्याय असम्भव है। फिर भी हमें एक ऐसी दुनिया बनाने की कोशिश करनी चाहिए जिसमें न कोई चाँटे को आकर्षित करता हो और न कोई चाँटा मारने को उत्सुक हो। अन्याय का कुल मतलब इतना हो सकता है कि अभी दुनिया में ऐसे लोग वर्तमान हैं जो चाँटा मारने को उतना ही उत्सुक हैं जितना चाँटा खाने को। जब भी कोई घटना घटती है तब उसके दो पहलू होते हैं। किन्तु हमारी दृष्टि एक ही पहलू पर जाती है और हम उस एक पहलू को देखकर ही किसी को अपराधी और किसी को निरपराध कह देते हैं। दूसरा पहलू भी जिम्मेदार होता है। जैसे, हम कहते हैं कि अँगरेजों ने आकर हमें गुलाम बना लिया। यह तो हमारी गुलामी की घटना का आधा हिस्सा है। उसका दूसरा हिस्सा यह है कि हम गुलाम होने की तैयारी में थे। इसी प्रकार सती की प्रथा थी। अन्याय कुछ भी न था। जो स्त्रियाँ जलने को राजी थीं, वे ही जलती थीं। जो जलने को आज भी राजी हैं वे स्टोव से आग लगा लेती हैं, जहर खा लेती हैं, कुछ भी करती हैं। मेरा कहना यह है कि उन दिनों भी सभी स्त्रियाँ सती नहीं हो जाती थीं। वस्तुतः सती की व्यवस्था आग में जलने वाली औरतों के लिए एक सुविधा थी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सती-प्रथा रहनी चाहिए। दुनिया ऐसी होनी चाहिए जहाँ न कोई जलाना चाहे और

न जलना। अन्याय सिर्फ यह है कि जो हमारी जीवन-व्यवस्था है, वह हमें बहुत दुःख में डाल रही है। और दुखी हम ही बन रहे हैं, कोई बना नहीं रहा है। दुनिया में ऐसे भी लोग हैं जो चाँटा मारने में ही आनन्दित हों। ऐसा लगता है कि ऐसे लोगों को कर्म के फल भोगने नहीं पड़ते। लेकिन हमें खयाल नहीं कि जो आदमी चाँटा मारने में आनन्दित होता है वह आदमी नहीं रह गया। वह आदमी के तल से बहुत नीचे उतर जाता है। उसने चाँटा मारने में इतना खोया जितना कि चाँटा मारकर दुखी होनेवाला नहीं खोता। जो चाँटा मारकर दुखी होता है, वह उतना फल नहीं भोगता जितना वह व्यक्ति भोगता है जो चाँटा मारकर आनन्दित होता है। चाँटे से आनन्द लेनेवाला व्यक्ति जंगली हो जाता है—उसका विकास-तल नीचे चला जाता है। उसने गत बीस-पच्चीस हजार वर्षों में जो विकास किया था, वह विकास खो जाता है।

३

जहाँ तक मनुष्य के कर्म और विकास का सम्बन्ध है, मेरा कहना है कि विकास दो तलों पर चल रहा है। मेरा खयाल है कि डार्विन की खोज गहरी है सही, लेकिन एकदम अधूरी है। उसने शरीर के विकास पर सारा सिद्धान्त निर्धारित किया है। चूँकि विज्ञान आत्मा की फिक्र नहीं करता, इसलिए बात अधूरी है और आधे सत्य असत्य से भी ज्यादा खतरनाक होते हैं। इसका कारण यह है कि आधे सत्यों में पूर्ण सत्य के होने का भ्रम पैदा होता है। यह विकास का आधा हिस्सा है। इसके दूसरे हिस्से की खोज महावीर-जैसे लोगों की देन है। वे कहते हैं कि चेतना भी विकसित हो रही है। दूसरी बात—जहाँ चेतना है वहाँ विकास यांत्रिक नहीं हो सकता। पंखे का चलना यांत्रिक है; उसके पास न चेतना है और न इच्छा। यदि उसके पास चेतना होती तो पंखा भी कह सकता था कि आज बहुत सर्दी है, मैं नहीं चलता। मनुष्य के पास चेतना है, इसलिए उसका निन्यानबे प्रतिशत विकास स्वेच्छा पर निर्भर होता है। इसलिए मनुष्य कोई पचास हजार वर्षों से ठहर गया है। अब उसमें कोई विकस लक्षित नहीं होता। निम्नतम योनि में भी एक अंश स्वेच्छा का है जो उसे चेतन बनाता है। नहीं तो चेतन होने का कोई अर्थ नहीं। चेतन होने का अर्थ यही है कि विकास में हम भागीदार हैं और अपने पतन में स्वयं जिम्मेदार। चेतना का मतलब यही है कि हमारा दायित्व है, हमारी जिम्मेदारी है।

पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों की इच्छा भी उनके विकास में सक्रिय होकर काम कर रही है। पहचानना मुश्किल है। हम कैसे पहचानें कि पशु-पक्षी भी मानव-योनि में प्रवेश कर रहे हैं। कई रास्ते हो सकते हैं, लेकिन सरलतम रास्ता यह है कि मनुष्य को पिछले जन्मों में उतारा जाय। इससे उसे इस बात की प्रतीति हो जायगी

कि वह पिछले जन्मों में कई बार पशु हुआ था और उसने भी कभी पौधे की जिन्दगी बसर की थी। महावीर ने जातीय स्मरण के गहरे प्रयोग किए थे। जो व्यक्ति उनके निकट जाता, उसे वे पिछले जन्मों में उतारते और बतलाते कि वह उन जन्मों में क्या था, और यदि वह पशु था तो अपने किस कर्म के कारण मनुष्य हो सका। ऐसा ज्ञान ऊपर जाने के लिए आवश्यक सोपान हो सकता है। यदि मुझे उस कर्म का ज्ञान हो जाय जिसके कारण मैं पशु से मनुष्य बना था तो मैं पुनः ऐसे ही कर्म करना चाहूँगा जिनसे मैं ऊपर उठ सकूँ।

एक रात महावीर के साथ हजारों साधु-संन्यासी एक बड़े धर्मशाले में ठहरे। उनमें एक राजकुमार भी दीक्षित था। धर्मशाले में पुराने साधुओं को अच्छी जगह मिल गई परन्तु राजकुमार को गलियारे में सोना पड़ा। जब भी कोई गलियारे से निकलता, उसकी नींद टूट जाती और वह सोचता कि बेहतर है मैं लौट जाऊँ; मैं जो था, वही ठीक था। सुबह महावीर ने उसे बुलाया और कहा—तुझे पता है कि पिछले जन्म में तू कौन था? उसने जवाब दिया कि मुझे कुछ पता नहीं। तब महावीर ने उसके पिछले जन्म की कथा कह सुनाई और बताया कि वह पिछले जन्म में हाथी था। एक दिन जंगल में आग लगी। सारे पशु-पक्षी भाग चले। हाथी का एक पैर उठा ही था कि एक छोटा-सा खरगोश आ पहुँचा और उसने उसके पैर की शरण ली। खरगोश ने सोचा कि पैर छाया है, बचाव हो जायगा। हाथी भी हिम्मतवर था। उसने देखा कि उसके पैर के नीचे एक खरगोश बैठा है। उसने पैर फिर नीचे नहीं रखा। आग बढ़ती गई और हाथी जलकर राख हो गया। उसने मरते दम तक यही चेष्टा की कि खरगोश किसी तरह बच जाय। उस कृत्य की वजह से वह आदमी बना। अन्त में महावीर ने कहा—आज तू इतना कमजोर है कि गलियारे में सोने की वजह से भागने का विचार करने लगा? पिछले जन्म की कथा सुनते ही राजकुमार के लिए मानों सब-कुछ बदल गया! भयभीत होने और पलायन करने की बात खत्म हो गई! अब वह अपने दृढ़ संकल्प पर खड़ा हो गया। उसे एक नई भूमि मिल गई।

दूसरा रास्ता बहुत कठिन है। वह यह है कि हम बीस पशुओं के निकट रहें और उनसे अपना आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करें। हमें पता चलेगा कि उनमें भी कुछ अच्छे और कुछ बुरे हैं। यहाँ तक कि सड़कों पर दिखाई पड़ने वाले कुत्ते भी सब एक-जैसे नहीं होते। उनका अपना-अपना व्यक्तित्व होता है। और, स्मरण रहे, उनका भी विकास स्वेच्छा से हो रहा है। यही कारण हे कि सारे प्राणी विकसित नहीं हो पाते। जो श्रम करते हैं वे विकसित हो पाते हैं। जो श्रम नहीं करते वे उसी योनि में पुनरुक्ति करते रहते हैं। अनन्त पुनरुक्तियाँ भी हो सकती हैं। लेकिन कभी-न-कभी वह क्षण भी आ जाता है जब पुनरुक्ति उबा देती है और ऊपर उठने की आकांक्षा पैदा हो जाती है।

डार्विन शरीर के विकास को स्वचालित समझता था। किन्तु उसकी यह धारणा नितान्त गलत है। चेतना श्रम कर रही है विकास के लिए और वह जितनी विकसित होती जा रही है, शरीर भी उसी अनुपात में विकसित होता जाता है। जितना तीव्र विकास चेतना के तल पर होता है उतना ही तीव्र विकास शरीर के तल पर होना अनिवार्य-सा हो जाता है। लेकिन वह होता है पीछे, पहले नहीं। बन्दर का शरीर अगर कभी आदमी का शरीर बनता है तो तभी जब किसी बन्दर की आत्मा इसके पूर्व आदमी की आत्मा बनने के लिए कदम उठा चुकी होती है। उस आत्मा की जरूरत के लिए ही पीछे से शरीर भी विकसित होता है। मनुष्य आगे भी गति कर सकता है और ऐसी चेतना विकसित हो सकती है जो मनुष्य से श्रेष्ठतर शरीरों को जन्म दे सके। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन मनुष्य तक आ जाना हीं कोई साधारण घटना नहीं है। लेकिम मनुष्य को इसका ख्याल न रहा। वह अपनी जिन्दगी इस तरह गँवाता है मानों वह उसे मुफ्त मिल गई हो! लम्बी प्रक्रियाओं, लम्बी चेष्टाओं, लम्बे श्रम और लम्बी यात्रा से मनुष्य की चेतना-स्थिति उपलब्ध होती है। लेकिन उसने ऐसा मान लिया है कि यह उसे मुफ्त मिल गई है!

मेरी मान्यता है कि एक जन्म में हम जो कमाते हैं वही दूसरे जन्म में हमारी सहज उपलब्धि होती है। दूसरे जन्म में वह हमें सम्पत्ति की तरह मिलती है और पिछला जन्म हमें वैसे ही भूल जाता है जैसे बेटे को बाप का श्रम भूल जाता है। बाप कमाता है, बेटा गँवाता है, क्योंकि बेटे को अमीरी जन्म से उपलब्ध हुई होती है। उसे कभी ख्याल भी नहीं होता कि कितने श्रम से वह अमीरी खड़ी की गई है।

चूँकि विकास चेष्टा पर निर्भर है, संकल्प और साधना की चीज है, इसलिए इतने बड़े प्राणी-जगत् में मनुष्यों की संख्या कम है। बढ़ती भी है तो बहुत धीरे-धीरे।

मैं यह भी कहता हूँ कि जन्म एक ही नहीं है। जन्मों की एक लम्बी यात्रा होती है। हम आज के ही नहीं हैं। हम कल भी थे, परसों भी थे। एक अर्थ में हम सदा थे। कभी पक्षी थे, कभी पत्थर, कभी खनिज; कभी इस ग्रह पर, कभी उस ग्रह पर। हम सदा थे। होने के साथ हम एक हैं। अस्तित्व में हमारी प्रतिध्वनि सदा थी। यह जरूरी नहीं कि हम महावीर के पास थे, जरूरी नहीं कि महावीर के प्रदेश में थे, लेकिन सब थे। यह भी हो सकता है कि हममें से कोई महावीर के निकट भी रहा हो, उस गाँव में भी रहा हो जहाँ से महावीर गुजरे थे। जरूरी नहीं कि हम उनसे मिलने गए हों। लेकिन हम सदा थे और सदा रहेंगे। अगर मूर्च्छित रहे हों तो हमारा होना न होना बराबर था। जब से हम अमूर्च्छित होते हैं, जागते हैं, चेतन होते हैं, तभी से हमारे होने का कोई अर्थ होता है और हम जितना चेतन होते चले जाते हैं उतना ही हमारा होना प्रगाढ़ और समृद्ध होता जाता है। शायद इस

अर्थ में हमारा होना अभी भी नहीं हुआ। होने की लम्बी यात्रा में बहुत बार शरीर बदलने होते हैं। कारण शरीर क्षणभंगुर है, उसकी सीमा है, वह चूक जाता है। असल में पदार्थ से निर्मित कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं हो सकती। पदार्थ से जो भी निर्मित होगा, वह बिखरेगा, जो बनेगा वह मिटेगा। शरीर बनता है, मिटता है। लेकिन इसके पीछे जो जीवन है, वह न बनता है और न मिटता है। वह सदा नए-नए बनाव लेता है। पुराने बनाव नष्ट होते हैं, उनकी जगह नए बनाव आते हैं। यह नया बनाव उसके संस्कार का—उसने क्या दिया, क्या भोगा, क्या किया, क्या जाना, इन सबका—इकट्ठा सार है।

जो शरीर दिखाई पड़ता है, वह हमारा ऊपरी शरीर है। ऐसी ही आकृति का एक और शरीर है जो इस बाहरी शरीर में व्याप्त है। उसे सूक्ष्म शरीर कहें, कर्म शरीर कहें, मनोशरीर कहें, कुछ भी नाम दें––काम चलेगा। वह सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित शरीर है। जब यह बाहरी शरीर गिर जाता है तब भी वह शरीर कायम रहता है और आत्मा के साथ ही यात्रा करता है। उस शरीर की विशेषता यह है कि आत्मा की जैसी मनोकामना होती है वह वैसा ही आकार ले लेता है। हम जो कर्म करते और फल भोगते हैं, उनकी सूक्ष्म रेखाएँ उस सूक्ष्म शरीर पर बनती जाती हैं। इसलिए महावीर इस सूक्ष्म शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं। उनका खयाल था कि हम जो भी जीते और भोगते हैं, उसके कारण विशेष प्रकार के परमाणु हमारे शरीर से जुड़ जाते हैं। विज्ञान भी कहता है कि जब आप क्रोध में होते हैं तो आपके खून में एक विशेष प्रकार का जहर छूट जाता है और प्रेम में वह अमृत से भर उठता है। इस शरीर के छूट जाने पर हमारा सूक्ष्म शरीर ही सूखी रेखाओं की तरह हमारे भोगे हुए जीवन को लेकर नई यात्रा शुरू करता है और वह सूक्ष्म शरीर ही नए शरीर ग्रहण करता है। जिस दिन सूक्ष्म शरीर मर जाता है, उसी दिन व्यक्ति को मोक्ष मिलता है। स्थूल शरीर तो बार-बार मरता है, मगर सूक्ष्म शरीर हर बार नहीं मरता। वह तभी मरता है जब उस शरीर के रहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जब व्यक्ति न कुछ करता है, न भोगता है; न कर्ता बनता है, न किसी कर्म को ऊपर लेता है और न कोई प्रतिक्रिया करता है, जब वह साक्षी-मात्र रह जाता है, तब उसका सूक्ष्म शरीर पिघलने लगता है। साक्षी की प्रक्रिया में सूक्ष्म शरीर वैसे ही पिघलता है जैसे सूरज के निकलने से बर्फ पिघलती है। सूक्ष्म शरीर को गलाना ही तपश्चर्या है।

महावीर को हम महातपस्वी कहते हैं, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उन्होंने धूप में खड़ा होकर अपने शरीर को सताया था। यह ठीक है कि वे 'काया को मिटाने-वाले' थे, किन्तु उस काया का इस बाहरी काया से कोई मतलब नहीं है। उस काया का मतलब है भीतरी काया, जो असली काया है। महावीर भली भाँति जानते थे कि यह शरीर कई बार बदला जाता है, लेकिन एक और काया है जो कभी नहीं बदलती।

वह एक ही बार खत्म होती है, बदलती नहीं । तो उस भीतरी काया के पिघलाने में लगा हुआ श्रम ही तपश्चर्या है और उस काया को पिघलाने की प्रक्रिया का नाम ही साक्षीभाव, सामायिक या ध्यान है । ऐसा हो सकता है कि पुनर्जन्म न हो । हम विराट जीवन के साथ एक हो जायँ । एक होने में हम मिट नहीं जाते । यदि मिटते हैं तो बूंद की तरह ताकि सागर की तरह रह जायँ । इसलिए महावीर कहते हैं कि आत्मा ही परत्मात्मा हो जाती है । लोग इसका मतलब नहीं समझे । इसका मतलब यह है कि आत्मा की बूंद परमात्मा के महासागर में मिलकर एक हो जाती है । उस एकता में, उस परम अद्वैत में परम आनन्द है, परम शान्ति है, परम सौन्दर्य है ।



षष्ठ अध्याय

महावीर के व्यक्तित्व के नए आयाम

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुण ॥[1]

—उत्त० अ० १० गा० १८

१

क्या महावीर को ऐसा कोई व्यक्ति न मिला जिसके चरणों में वे आत्म-समर्पण कर सकें ? क्या कारण था कि उन्होंने किसी गुरु की शरण न ली ?—इन प्रश्नों के उत्तर बड़े सरल हैं। महावीर को पता था कि जो दूसरे से पाया जा सकता है, उसका कोई महत्त्व नहीं। सत्य के फूल कभी उधार नहीं मिलते। इसलिए जो भी सत्य की खोज में निकला हो, वह गुरु को खोजने नहीं निकलता। हाँ, असत्य की खोज करनी हो तो गुरु की खोज बहुत जरूरी है। सत्य की खोज में गुरु अनावश्यक है। सीखने की क्षमता बहुत आवश्यक है। असली सवाल सीखने की क्षमता का ही है। जिसके पास ऐसी क्षमता है वह गुरु नहीं बनाता, सीखता चला जाता है। गुरु बनाना एक तरह का बन्धन निर्मित करना है। मेरा मानना है कि सत्य कोई ऐसी चीज नहीं जो किसी एक व्यक्ति से प्रवाहित हो। वह पूरे जीवन पर छाया हुआ है। अगर हम सीखने को उत्सुक हों तो सत्य सब जगह से सीखा जा सकता है।

महावीर में सीखने की अद्भुत क्षमता थी, इसलिए उन्होंने कोई गुरु नहीं बनाया। गुरु खोजा भी नहीं। बस सीखने निकल पड़े। उधार भी कभी ज्ञान हो सकता है ? सब चीजें उधार हो सकती हैं, लेकिन ज्ञान उधार नहीं हो सकता। ज्ञान उसका ही होता है जो पाता है। वह दूसरे को देते ही व्यर्थ हो जाता है।

गुरुओं और शास्त्रों की कमी न थी, वे सब तरफ मौजूद थे। सिद्धान्तों की कमी न थी, सिद्धान्त भी मौजूद थे। लेकिन महावीर ने सबकी ओर पीठ कर दी, क्योंकि

---

१. विनीत शिष्य आचार्य की पंक्ति में न बैठे, उनसे आगे भी न बैठे, उनके पीठ पीछे भी न बैठे और वह इतना निकट भी न बैठे कि उनकी जाँघ से जाँघ मिल जाय। यदि गुरु ने किसी कार्य का आदेश दिया हो तो वह शय्या पर सोते-सोते अथवा बैठे-बैठे न सुने।

शास्त्र की ओर या सिद्धान्त की ओर या गुरु की ओर मुँह करना—बासी और उधार ज्ञान के लिए उत्सुक होना था। दूसरों को, ज्यादा-से-ज्यादा, शब्द मिल सकते थे, सिद्धान्त मिल सकते थे, लेकिन सत्य नहीं मिल सकता था। इसलिए महावीर ने किसी गुरु के प्रति आत्म-समर्पण नहीं किया। यह भी समझ लेने जैसी बात है कि समर्पण ही करना हो तो क्षुद्र और सीमित के प्रति क्यों किया जाय? समस्त के प्रति क्यों नहीं? एक के प्रति समर्पण में शर्त है। ऐसा समर्पण सौदा है। जिससे हमें मिलेगा, जिससे हम पा सकते हैं, ऐसी आकांक्षा को ध्यान में रखकर अगर समर्पण किया गया तो समर्पण कैसा हुआ? वह सौदा हुआ, लेन-देन हुआ। समर्पण का अर्थ है बिना किसी शर्त या आकांक्षा के स्वयं को छोड़ देना। इसलिए कोई किसी व्यक्ति के प्रति कभी समर्पित नहीं हो सकता। समर्पित हो सकता है सिर्फ परमात्मा के प्रति और परमात्मा का मतलब है समस्त। अगर परमात्मा भी एक व्यक्ति है तो उसके प्रति भी समर्पण नहीं हो सकता। समर्पण सदा बेशर्त होता है।

मैं मानता हूँ कि महावीर ने समर्पण किया, लेकिन किसी एक व्यक्ति के प्रति नहीं, समस्त के प्रति और समस्त के प्रति जिनका समर्पण है, उनका हमें पता नहीं चलता। जो समस्त के प्रति समर्पित है, उसका समर्पण हमारी पहचान में नहीं आता क्योंकि हमारा मापदंड सीमित सौदे का है। अगर मैं किसी व्यक्ति से प्रेम करूँ तो यह बात समझ में आ सकती है, लेकिन अगर मेरा प्रेम समस्त के प्रति हो तो इसे समझना मुश्किल हो जायगा। हम प्रेम को पहचान ही तब पाते हैं जब वह व्यक्ति से बँध जाय। इसलिए हम महावीर के प्रेम को ठीक-ठीक समझ नहीं पाते।

मेरा मानना है कि महावीर पूर्ण समर्पित व्यक्ति थे। लेकिन पूर्ण समर्पित व्यक्ति किसी एक के प्रति समर्पित नहीं होता। वह किसी एक के आगे सिर नहीं झुकाता, इसलिए नहीं कि उसमें अहंकार है, बल्कि इसलिए कि उसका सिर झुका ही हुआ है सब ओर। और ध्यान रहे कि जो व्यक्ति किसी एक के प्रति झुकता है, वह दूसरे के प्रति सदा अकड़ा रहता है और जो व्यक्ति किसी एक के चरण छूता है वह दूसरों से चरण छुलाने को आतुर है। आपने देखा होगा कि जो आदमी किसी की खुशामद करता है वह अपने पीछे वालों से खुशामद की माँग करता है। जो आदमी नम्रता दिखलाता है, वह दूसरों से नम्रता की माँग करता है।

महावीर किसी को न तो महात्मा मानते हैं और न हीनात्मा। वे इस विचार में ही नहीं पड़ते। उनके लिए कोई महात्मा नहीं, क्योंकि कोई हीनात्मा नहीं। एक को महात्मा बनाओ तो शेष अनगिनत लोगों को हीनात्मा बनाना जरूरी हो जाता है, नहीं तो काम नहीं चलता। एक महात्मा की रेखा खींचने के लिए करोड़ों हीनात्माओं का घेरा खड़ा करना पड़ता है। चूँकि महावीर ने किसी को गुरु नहीं बनाया, इसलिए जितने लोगों ने उन्हें गुरु बनाया है, उन सब ने महावीर के साथ अन्याय किया

है। वे समझ ही नहीं पाए महावीर को। जिस आदमी ने कभी किसी को अपना गुरु नही बनाया, वह कभी किसी को शिष्य बनाने की बात भी नहीं सोच सकता। दोनों संयुक्त बातें हैं। जब वह अपने लिए यह ठीक नहीं मानता कि किसी को गुरु की तरह स्थापित करे तो वह कैसे मान सकता है कि कोई उसे गुरु की तरह स्थापित करे ? जिस महावीर ने किसी शास्त्र को नहीं माना उस महावीर का शास्त्र बना लेना कहाँ का न्याय है ?

पूछा जा सकता है कि महावीर को किस चीज की खोज थी जिसके कारण उन्होंने गुरु की शरण न ली ? इसमें सन्देह नहीं कि वे जिस चीज की खोज कर रहे थे उसे किसी ने अपने गुरु से नहीं पाया। हाँ, कुछ चीजें हैं जो गुरु से मिल जाती हैं। जीवन का बाह्य ज्ञान—गणित, भूगोल आदि—गुरु से मिल जाता है, लेकिन सत्य का ज्ञान गुरु से नहीं मिल सकता। अगर मैं सत्य की खोज में हूँ तो मैं किसी को बीच में लेना नहीं चाहूँगा। अगर मैं सौन्दर्य की तलाश में हूँ तो मैं अपनी आँखों से सौन्दर्य देखना चाहूँगा। महावीर उस सत्य की खोज में थे जो स्वयं में ही छिपा रहता है, किसी के पास जाकर माँगने, हाथ जोड़ने और प्रार्थना करने से नहीं मिलता। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि महावीर बड़े अहंकारी व्यक्ति रहे होंगे। उनका-सा विनम्र व्यक्ति मिलना मुश्किल है। वे न तो आदर माँगते थे और न किसी व्यक्ति-विशेष को गुरु मानकर आदर देते थे। जो समस्त के सम्मुख झुक चुका हो, उसे आदर देने-लेने से क्या मतलब ? आदर देनेवाले आदर पाने को इच्छुक रहते हैं और नम्रता का मुखौटा पहनकर अपने अहंकार को छिपा रखते हैं। जो न गुरु बनाता या बनता है, जो न शास्त्र रचता या मानता है, उसे अहंकारी कैसे कहा जा सकता है ?

सत्य की खोज करनेवालों के लिए न तो कोई मित्र होता है और न संगी-साथी। सत्य की खोज तो 'अकेले की उड़ान है अकेले की तरफ।' इसलिए महावीर बहुत सचेत थे। उनको मानने और प्रेम करनेवाले भी अगर इतने ही सचेत होते तो दुनिया ज्यादा बेहतर होती। तब दुनिया में विशुद्ध धर्म होता—यहाँ न कोई जैन होता, न हिन्दू, न ईसाई और न मुसलमान। अगर गुरु की धारणा ही टूट जाय तो दुनिया में आदमियत होगी, धर्म होगा, लेकिन पंथ न होंगे। आज एक ईसाई के लिए महावीर अपने नहीं मालूम पड़ते क्योंकि दूसरे लोगों ने उन्हें अपना लिया है। अगर गुरुके आसपास पागलपन पैदा न हो, श्रद्धा और अन्धभक्ति पर आधारित गिरोह न बनें, तो सम्प्रदाय एक-एक कर विदा हो जायँ। तब क्राइस्ट भी हमारे हों और मुहम्मद भी हमारे। महावीर ने दरिद्र होना नहीं चाहा, इसलिए उन्होंने किसी एक को नहीं पकड़ा। वे पूर्ण समृद्ध हो गए, क्योंकि सब कुछ उनका था।

लोग पूछते हैं कि क्या कारण था कि भिक्षाटन के पूर्व महावीर कुछ शर्त लगा

लिया करते थे और, उदाहरणार्थ, कहते थे कि आज मैं ऐसे घर से भोजन लूँगा जिसके सामने दो गौवें लड़ रही हों, उनका रंग काला हो, घर के दरवाजे पर एक स्त्री खड़ी हो, उसका एक पैर बाहर हो और दूसरा भीतर, उसकी आँखों से आँसू बहते हों, पर होठों पर मुस्कान हो ? जैसा मैंने कहा, महावीर की खोज पहले ही जन्म में पूरी हो चुकी थी । इस जन्म में वे सिर्फ बाँटने आए थे । इसलिए उन्होंने यह प्रयोग किया कि अगर मैं बाँटने ही आया हूँ और मेरा स्वार्थ नहीं है, तो विश्वसत्ता मुझे भोजन देगी ही । यदि वह न दे तो मैं भोजन भी क्यों लूँ ? यदि वह जीवन देना चाहे तो ठीक, न देना चाहे तो मेरे जीवन का क्या मूल्य ? इसलिए महावीर कठिन शर्त लगाकर ही निकलते । उनमें जिजीविषा का लेश भी न था । इसलिए वे विश्व की समग्र सत्ता की इच्छा पर अपने को छोड़ देते । उनका कहना था कि अगर विश्व की समग्र सत्ता को मेरा जीना मंजूर है तो वह भोजन दे । मैं अपनी ओर से नहीं जीता और न अपने भोजन के लिए ही किसी का अनुग्रह मानूँगा ।

गहरी बात यह है कि जो व्यक्ति पूर्णता को उपलब्ध हुआ लौट आया है, उसके लिए कर्म-जैसी कोई चीज नहीं । कर्म होता है इच्छा से, उसका जन्म होता है आकांक्षा से । महावीर कहते हैं कि मैं यह भी इच्छा नहीं करता कि मुझे भोजन मिलना चाहिए । मैं इसे भी विश्व-सत्ता पर छोड़ देता हूँ ।

यह समस्त के प्रति समर्पण है । अगर पूरी हवाएँ, पहाड़, पत्थर, मानवीय चेतना पशु-पक्षी, देवी-देवता चाहते हैं कि महावीर एक दिन और जीएँ तो उन्हें उनके भोजन का इन्तजाम करना ही होगा । इसीलिए महावीर शर्त लगा देते हैं, ताकि वे जान सकें कि विश्व-सत्ता को उनका जीवित रहना मंजूर है और पूरे जगत् के अस्तित्व ने उन्हें भोजन दिया । बहुत अनूठा था उनका यह प्रयोग । जैन मुनि आज भी ऐसा करते हैं, लेकिन श्रावक उनको पहले ही बता जाते हैं या कुछ ऐसे प्रबन्ध कर रखते हैं ताकि उनकी शर्तें पूरी हो जायँ । दस-पाँच लोग अपने घरों के सामने केला लटका देते हैं; एक-दो स्त्रियाँ बच्चे लेकर खड़ी हो जाती हैं । लेकिन महावीर की शर्तें कठिन हुआ करती थीं और उनकी पूर्ति किसी व्यक्ति विशेष या श्रावकों के सामूहिक यत्न से होना असम्भव था । जब तक विश्वसत्ता राजी न होती तब तक वे शर्तें कभी पूरी न होतीं । इस तरह महावीर का जीना परमात्मा की मर्जी पर था । वे प्रत्येक पल उसकी मर्जी से ही जीना चाहते थे, अपने लिए नहीं । उनका पूरा जीवन इस बात का प्रमाण है कि विश्वसत्ता को जिस व्यक्ति की जरूरत होती है, उसके जीवन के लिए वह स्वयं आयोजन करती है ।

बुद्ध के गृह-त्याग की कथा प्रचलित है । कहते हैं कि जिस घोड़े पर सवार होकर वे घर से निकले थे, उसके पैरों की टाप बारह कोस तक सुनी जा सकती थी । किन्तु उस रात जब बुद्ध उस पर सवार हो निकले, तो उसकी टाप के नीचे देवता फूल रखते

चले गए। टाप फूलों पर पड़ी ताकि गाँव जाग न जाय। बहुत कल्पों के बाद ही प्रव्रज्या के लिए किसी का ऐसा अभिनिष्क्रमण होता है। इसलिए देवता राजमहल के दरवाजे भी खोल देते हैं जैसे वे कभी बन्द ही न रहे हों। द्वार की जो कीलें पागल हाथी के धक्के से भी न खुलतीं वे खुल जाती हैं और जिन दरवाजों से खुलते समय इतनी आवाज होती है कि उसे सारा नगर सुन लेता है, वे चुपचाप खुल जाती है। ऐसी सारी कहानियाँ कपोलकल्पित हैं, लेकिन साथ ही ये इस बात की सूचना देती हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए सारा जगत्, सारा अस्तित्व सुविधा देने लगता है, क्योंकि समस्त अस्तित्व को ऐसे व्यक्ति की जरूरत होती है। मगर हम सबके लिए अस्तित्व की ही आवश्यकता रहती है। हमारी साँस चले, इसलिए हवा की जरूरत होती है, प्यास बुझे, इसलिए पानी की आवश्यकता होती है, गर्मी मिले इसलिए सूर्य की जरूरत होती है—सारे अस्तित्व की जरूरत होती अपने है लिए। लेकिन अस्तित्व को ही जरूरत थी महावीर की। इसलिए वे कहते थे कि अगर जिन्दा रखना हो तो मेरी शर्तें पूरी करो, नहीं तो हम वापस लौट जायँगे। न कोई शिकायत है पीछे लौटने से, न कोई नाराजगी है।

लोग पूछते हैं कि महावीर के गृहत्याग के पीछे कौन-सा असंतोष था और क्या उनका गृहत्याग जीवन और इसके नाना दायित्वों से पलायन नहीं है? पहली बात यह है कि महावीर को न तो कोई पारिवारिक असन्तोष था और न कोई सामाजिक असन्तोष। इस जन्म में तो कोई व्यक्तिगत असन्तोष भी न था। पारिवारिक असन्तोष से घिरा व्यक्ति कभी धार्मिक नहीं हो सकता। धार्मिक होता है वह व्यक्ति जिसके असन्तोष का न तो समाज से कोई सम्बन्ध होता है और न परिवार, सम्पत्ति या शरीर से। धार्मिक व्यक्ति का उदय तब होता है जब उसके भीतर असंतोष की आग भभक उठती है और उसे चिन्ता इस बात की होती है कि क्या ऐसा होना ही काफी है? अगर हिंसक हूँ तो हिंसक होना ही काफी है? अगर दुखी और अशान्त हूँ तो क्या दुखी और अशान्त होना ही पर्याप्त है? इस जीवन में महावीर को यह असन्तोष भी न था, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति का जन्म पहले ही हो चुका था। पिछले जन्मों में भी उनका असन्तोष नितान्त आध्यात्मिक था, सामाजिक या पारिवारिक नहीं। आध्यात्मिक असन्तोष बहुत कीमती चीज है और वह जिसमें नहीं है वह व्यक्ति कभी उस यात्रा पर नहीं जा सकता जिसका अन्त आध्यात्मिक सन्तोष की उपलब्धि में होता है। जिस असन्तोष से हम गुजरते हैं उसी तल का सन्तोष हमें उपलब्ध हो सकता है। अगर धन का असन्तोष है तो ज्यादा-से-ज्यादा धन मिलने का सन्तोष उपलब्ध हो सकता है। लेकिन बड़े मजे की बात है कि जिस तल पर हमारा असन्तोष होगा उसी तल पर हमारा जीवन भी।

महावीर को इस जीवन में किसी बात का असंतोष न था, लेकिन पिछले सारे

जन्मों में उनके असंतोष की यात्रा बहुत लम्बी थी। वह असंतोष यह न जानने के कारण था कि मेरा अस्तित्व, मेरा सत्य, मेरी वह स्थिति जहाँ मैं परम मुक्त हो जाऊँ, जहाँ न कोई सीमा रहे ओर न कोई बंधन, कहाँ है? महावीर उसी की खोज में थे और यह निर्विवाद है कि ऐसी खोजवाला व्यक्ति दूसरों के पारिवारिक और सामाजिक असंतोष को मिटाने के लिए ही अधिक उत्सुक रहता है, न कि स्वयं की चिन्ता करता है। अगर हम खोजने जायँ तो ऐसा आदमी मुश्किल से मिलेगा जिसे न मकान से अतृप्ति है, न कपड़ों से, न पत्नी से, न अपने प्रियजनों से। जब आदमी अपने प्रति ही असंतुष्ट हो जाता है तब उसके जीवन में धर्म की यात्रा शुरू होती है। महावीर पिछले जन्मों में जरूर असंतुष्ट रहे। वही यात्रा उन्हें वहाँ तक लाई जहाँ तृप्ति और संतोष उपलब्ध होता है। जिस दिन व्यक्ति अपने को रूपान्तरित करके उसे पा लेता है जो वह वस्तुतः है, उस दिन उसके लिए परम तृप्ति का क्षण आ जाता है। अगर वह फिर एक क्षण भी जीता है तो दूसरों के लिए ही, ताकि वह उन्हें तृप्ति के मार्ग की दिशा बना सके।

पूछा जाता है कि क्या महावीर का गृहत्याग दायित्व से पलायन नहीं है? मेरा कहना है कि **महावीर ने कभी गृहत्याग किया ही नहीं**। गृहत्याग वे लोग करते हैं जिन्हें गृह के प्रति आसक्ति होती है। महावीर ने तो उसे ही छोड़ा जो घर न था। मिट्टी, पत्थर के घरों को ही हम कर समझ लेते हैं, जो सर्वथा गलत है। वस्तुतः यह शब्द--'गृहत्याग'--ही भ्रान्त है। असल में महावीर घर की खोज में निकले थे। जो घर नहीं था उसे ही छोड़ा था और जो घर था उसकी तलाश की थी। जो घर नहीं है, हमने उसे ही पकड़ रखा है। जो घर है, उससे हम दूर जा पड़े हैं। इसलिए शब्द के सच्चे अर्थ में पलायनवादी हम हैं, महावीर नहीं। पलायन का मतलब क्या है? एक आदमी कंकड़ों और पत्थरों को पकड़कर कहता है, ये ही हमारे हीरे हैं, और वह असली हीरों को छोड़ देता है। दूसरा असली हीरे की खोज में निकल पड़ता है। इन दोनों में पलायनवादी कौन है? क्या आनन्द की खोज पलायन है? क्या ज्ञान की खोज पलायन है? महावीर-जैसा आदमी दूकान पर बैठकर व्यवसाय चलाए, लेन-देन करे, क्या यही दायितत्व होगा उसका जगत् के प्रति, जीवन के प्रति? महावीर-जैसा व्यक्ति घर में बैठकर बाल-बच्चों को बड़ा करता रहे, क्या यही दायित्व होगा उसका? जब बड़े दायित्व पुकारते हैं तब छोटे दायित्वों को छोड़ देना पड़ता है। महावीर-जैसा व्यक्ति जब एक घर को छोड़ता है तब उसे करोड़ों घर मिल जाते हैं, वे उसके हो जाते हैं। पत्नी, बेटे और प्रियजनों को छोड़ता है तो सारा जगत् उसका प्रियजन और मित्र हो जाता है।

अपने दुख के भार को दूसरों पर लादना ही हमारा दायित्व है। अज्ञान की यात्रा में औरों को गति देना ही हम दायित्व समझते हैं। पलायन वह करता है जो

दुखी हो। भागता वह है जो डरता हो, भयभीय हो, जिसे शक हो कि मैं जीत न सकूँगा। महावीर उस घर से निकलते हैं जिसमें आग लगी है। जब घर में आग लगती है और उसमें रहनेवाले लोग उसे छोड़कर बाहर निकल आते हैं तब उनका पलायन पलायन नहीं कहलाता, विवेक की संज्ञा पाता है। जिस घर में आग लगी हो उसमें रहना ही अपनी विवेकहीनता का परिचय देना है। हम बीमार आदमी को कभी यह नहीं कहते कि तुम पलायनवादी हो, बीमारी से भाग रहे हो, डाक्टरों के यहाँ जाते हो। एक अँधेरे में पड़ा व्यक्ति जब सूरज की ओर जाता है तब हम यह नहीं कहते कि तुम पलायनवादी हो, सूरज की ओर भागते हो। वस्तुतः हम वहाँ खड़े हैं जहाँ जिन्दगी है ही नहीं। दूसरों को पलायनवादी कहकर हम यही सिद्ध करना चाहते हैं कि हम जहाँ खड़े हैं, वहाँ से हटने की हमें जरूरत नहीं। हम बहादुर लोग हैं महावीर और बुद्ध की तरह भगोड़े नहीं। परन्तु स्मरण रहे कि जिन लोगों ने महावीर को 'महावीर' नाम दिया था, उनकी दृष्टि में महावीर पलायनवादी न थे। इसका कारण शायद यह था कि हम अपनी कमजोरी की वजह से जहाँ से हट नहीं सकते, वहाँ से महावीर अपने अदम्य पौरुष की वजह से हट गए थे। वह उस व्यक्ति के समान हैं जिसे हीरों की खदान दिखाई पड़ गई है और वह उसी की ओर भाग रहा है। ऐसे व्यक्ति का भागना पलायन नहीं है। ऐसा भागना उस व्यक्ति के भागने-जैसा नहीं है जिसके पीछे बन्दूक लगी हो। लेकिन यह भी सत्य है कि सौ संन्यासियों में निन्यानबे संन्यासी पलायनवादी ही होते हैं। उन निन्यानवे संन्यासियों के कारण सौवें संन्यासी को ठीक-ठीक समझना मुश्किल हो जाता है :

२

महावीर ने न तो नियन्ता को स्वीकार किया है, न समर्पण को, न गुरु को और न शास्त्र को। क्या यह महावीर का घोर अहंकार नहीं था ? क्या वे अहंवादी नहीं थे ?

ऐसे प्रश्न स्वाभाविक हैं। जो नियन्ता, गुरु, शास्त्र, परम्परा आदि के प्रति झुकता है, वह साधारणतः हमें विनीत और निरहंकार प्रतीत होता है। इस संदर्भ में मेरी पहली बात यह है कि परमात्मा के प्रति झुकनेवाला भी अहंकारी हो सकता है और यह अहंकार की चरम घोषणा हो सकती है कि मैं परमात्मा से एक हो गया हूँ। 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा अहंकार की चरम घोषणा है। दूसरी बात यह है कि समर्पण में अहंकार सदा मौजूद रहता है, समर्पण करनेवाला मौजूद है। समर्पण का कृत्य ही अहंकार का कृत्य है। जब कोई कहता है कि मैंने परमात्मा के प्रति स्वयं को समर्पित कर दिया है तब हमें लगता है कि परमात्मा ऊपर है और समर्पण करने-वाला व्यक्ति नीचे। यह हमारी भूल है। समर्पण करनेवाला व्यक्ति कभी नीचा

नहीं हो सकता; कल चाहे तो वह अपना समर्पण वापस लौटा सकता है--कल वह कह सकता है कि अब मैं समर्पण नहीं करता।

महावीर में इतना भी अहंकार नहीं कि वे कहें—मैं समर्पण करता हूँ। समर्पण के लिए 'मैं' तो चाहिए ही। उनमें 'मैं' का—कर्ता होने का—भाव बिलकुल नहीं। और, जैसा मैंने कहा, जो व्यक्ति समर्पण करता है, वह समर्पण की माँग करता है। यह माँग एक ही सिक्के का दूसरा हिस्सा है। लेकिन महावीर ने न तो समर्पण किया और न माँगा। मेरी दृष्टि में यह परम निरहंकारिता है। आखिर मैं ही समर्पित होऊँगा, नियन्ता को मैं ही स्वीकृत करूँगा। महावीर के अस्वीकार में ऐसा नहीं है कि नियन्ता नहीं है। अस्वीकार का कुल मतलब इतना ही है कि वह स्वीकार नहीं है। 'अस्वीकार' पर जोर नहीं है। महावीर यह सिद्ध करते नहीं घूमते कि परमात्मा है। उनका अस्वीकार फलित है, घोषणा नहीं। स्वीकृति और समर्पण के लिए भी अहंकार चाहिए। अगर कोई व्यक्ति नितान्त अहंकारशून्य हो जाय तो समर्पण कैसा ? कौन करेगा समर्पण ? समर्पण कृत्य है, कृत्य के लिए कर्ता चाहिए। अगर कर्ता नहीं है तो समर्पण-जैसा कृत्य भी असम्भव है। जब कोई कहता है कि मैंने समर्पण किया तो समर्पण से भी वह अपने 'मैं' को ही भरता है—उसका समर्पण भी उसके 'मैं' का ही पोषक है। वह समझता है कि मैं कोई साधारण नहीं हूँ, मैं ईश्वर के प्रति समर्पित हूँ।

महावीर के पास एक सम्राट् गया। उसने महावीर से कहा—सब है आपकी कृपा से। राज्य है, सम्पदा है, सैनिक हैं, शक्ति है, सब है, लेकिन सुना है कि मोक्ष-जैसी भी कोई चीज होती है, वह मेरे पास नहीं। मैं चाहता हूँ कि उसको भी विजय कर लूँ। क्या उपाय है ? कितना खर्च पड़ेगा ? हँसे होंगे महावीर उसके पागलपन पर। उन्होंने कहा कि खरीदने को ही निकले हो तो अपने गाँव को लौट जाओ। वहीं एक श्रावक है, उससे पूछ लेना कि एक सामायिक कितने में बेचेगा। वह नासमझ सम्राट् उस आदमी के घर पहुँचा और हैरान हुआ देखकर कि वह श्रावक बहुत दरिद्र आदमी है। उसने सोचा कि इसे तो पूरा ही खरीद लेंगे। उसने श्रावक से वह बात कही जिसे महावीर ने कहा था और पूछा कि वह एक ध्यान का मूल्य क्या लेगा ? श्रावक हँसने लगा। उसने कहा कि चाहो तो मुझे खरीद लो, लेकिन सामायिक खरीदने का कोई उपाय नहीं। सामायिक पाई जा सकती है, उसे खरीदा नहीं जा सकता। लेकिन अहंकार उसको भी खरीदना चाहता है, भगवान और धर्म को भी खरीदना चाहता है। हमारे मन में दो चीजें हैं; अहंकार और नम्रता। नम्रता अहंकार का ही रूप है, यह बात हमारे खयाल में नहीं आती। महावीर नियन्ता के प्रति, गुरु और परम्परा के प्रति न तो नम्र हैं और न अनम्र। दोनों बातें असंगत हैं महावीर के लिए। मैं एक वृक्ष के पास से निकलूँ और नमस्कार न करूँ तो आप मुझे अनम्र न कहेंगे। लेकिन एक महात्मा के पास से निकलूँ और नमस्कार

न करूँ तो आप मुझे अनम्र कहेंगे। लेकिन यह भी हो सकता है कि मेरे लिए महात्मा और वृक्ष, दोनों बराबर हों। हो सकता है कि मेरे लिए दोनों असंगत हों और इस बात से ही मेरा कुछ लेना-देना न हो। महावीर अनम्र हैं या विनम्र, यह तय करना मुश्किल है, क्योंकि ऐसा कोई प्रसंग ही नहीं जिसमें उन्होंने कोई भी घोषणा की हो। तब उनके सम्बन्ध में निर्णय करना हमारे ऊपर ही निर्णय हो जाता है और हमारा निर्णय वही होता है जो हमारी तोल है, हमारा मापदंड है। महावीर उस तोल के बाहर हैं।

इसलिए मैं कहता हूँ कि महावीर से ज्यादा निरहंकार शायद ही कोई हुआ हो। हाँ, उनसे ज्यादा नम्र कई लोग हुए हैं। उनसे ज्यादा अहंकारी लोग भी हुए हैं, लेकिन उनसे ज्यादा निरहंकार लोग शायद ही हुए हों। महावीर झुकेंगे नहीं, क्योंकि कौन झुके ? किसके लिए झुके ? झुकने वाले अहंकार की पूजा में, किसी के अहंकार के पोषण में झुकते हैं। महावीर कहते हैं कि मेरा अहंकार तो बुरा है ही, किसी का भी अहंकार बुरा है। मैं झुकूँ और आपकी बीमारी बढ़ाऊँ ? मैं झुकूँ आपके चरणों में और आपका दिमाग फिराऊँ ? मैं झुकूँगा तो आपको बड़ा रस मिलेगा और आप कहेंगे कि यह आदमी बड़ा नम्र है। लेकिन रस इसलिए मिलेगा कि आपके अहंकार को तृप्ति मिलेगी। महावीर से कोई पूछे तो वे यही कहेंगे कि देवताओं का दिमाग भी आदमियों ने ही खराब किया है। अगर कहीं भगवान भी है तो वह अब तक पागल हो गया होगा।

३

मैं कहता हूँ कि प्रेम सदा बेशर्त है, क्योंकि जहाँ शर्त है वहाँ सौदा है। महावीर की शर्तों की बात प्रेम के सम्बन्ध में नहीं है। महावीर ऐसा नहीं कहते कि जगत् ऐसा करे तो मैं प्रेम करूँगा, जगत् मुझे भोजन दे तो मैं उससे प्रेम करूँगा। प्रेम का मामला ही नहीं है। महावीर कहते हैं कि अगर जगत् को मुझ से प्रेम हो, अस्तित्व को मेरे प्रति प्रेम हो तो मुझे इसका पता होना चाहिए। मैं कैसे जानूँगा कि सारा अस्तित्व मुझे बचाना चाह रहा है। इसलिए मैं कुछ शर्तें लगा देता हूँ जिनकी पूर्ति मुझे खबर दे देगी कि अस्तित्व को मेरा जीना पसन्द है। शर्त प्रेम पाने के लिए नहीं लगाई जा रही है, सिर्फ इस बात की जानकारी पाने के लिए लगाई जा रही है कि अस्तित्व को मेरा जीना पसन्द है अथवा नहीं। जिसका 'मैं' ही मिट गया हो, उसे जीने की लालसा ही क्या हो सकती है ? अब तो यही हो सकता है कि अगर अस्तित्व को मेरी जरूरत हो तो मैं जिऊँगा, अन्यथा नहीं। यदि मेरी जरूरत न हो तो मैं नहीं कहूँगा कि एक क्षण भी मुझे ठहरने दो। यदि यह खबर आ जाय कि मेरी जरूरत नहीं तो मैं अभी लौट जाऊँगा।

हमारे सब सवाल उलटे होते हैं, क्योंकि हमारे प्रश्न वहाँ से उठते हैं जहाँ चीजें बिलकुल उलटी हैं। महावीर के प्रेम में कोई शर्त नहीं है। शायद उतना बेशर्त प्रेम कभी हुआ ही नहीं। उनकी सभी शर्तें अपने अस्तित्व के लिए हैं, तुम्हारे प्रेम के लिए नहीं। वह इसलिए कि कहीं ऐसा न हो जाय कि तुम्हारा प्रेम विदा हो चुका हो और अस्तित्व को मेरी जरूरत न हो और मैं जिए चला जाऊँ! तब बेमानी हो जायगी बात। महावीर किसी परमात्मा को मानते नहीं जो कि खबर कर दे और कह दे, बस लौट जाओ। इसलिए अस्तित्व से ही यह खबर लेनी है। उसे ही बताना है कि उसे मेरी जरूरत है या नहीं। इसलिए शर्तें लगा लेता हूँ ताकि मुझे पता चलता जाय कि अब आगे जीना है या लौट जाना ही श्रेयस्कर है।

जगत् को इस बात की जरूरत है कि महावीर दुबारा आएँ। जब कोई व्यक्ति आनन्द को उपलब्ध हो जाता है तो सारे जगत् के प्राणियों की पुकार घूम-घूमकर उसके पास पहुँचने लगती है कि जगत् कष्ट में है, दुखी है, इसलिए अपना आनन्द बाँटो। यह बाँटना ही लौटाता है। लोगों की पुकार ही उसे पुनः बुला लेती है। लेकिन यह दिखाई नहीं पड़ता। लोग पूछते हैं कि आप किसलिए बोलते हैं? यह ध्यान में आना कठिन है कि कोई सुनने को आतुर हो गया है, इसलिए मैं बोलता हूँ। कोई सुनने वाला पुकारेगा, तभी मैं बोलूँगा। संसार में घटनाएँ उलटी घटती हैं। मैं बोलूँगा तब सुनने वाला आयगा, लेकिन अन्तर्जगत् में घटनाएँ ऐसे नहीं घटतीं। अन्तस्तल में सुनने वाला पहले मौजूद हो जाता है, तब बोलने वाला आता है। यदि महावीर तुम्हारे गाँव में आ जायँ तो तुम कहोगे कि क्यों आए हैं आप यहाँ? मजे की बात तो यह है कि तुम्हीं ने बुलाया था उन्हें। महावीर को यह पीड़ा भी झेलनी पड़ेगी कि तुम्हीं ने बुलाया था उन्हें और तुम्हीं पूछोगे कि कैसे आप आए हैं यहाँ?

यह सच है कि महावीर ने किसी की शारीरिक सहायता नहीं की। इसके कारण को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। परम अहिंसा की स्थिति में व्यक्ति किसी को दुख ही पहुँचाना नहीं चाहता, सुख भी पहुँचाना नहीं चाहता। बहुत गहरे में सुख और दुख एक ही चीज के दो रूप हैं। जिसे हम सुख कहते हैं उसकी मात्रा अगर थोड़ी बढ़ा दी जाय तो वह दुख में बदल जाता है। भोजन करना सुखद होता है, लेकिन आप ज्यादा भोजन कर लें तो सुख दुख में बदल जाता है। आप प्रेम से आकर मिले तो मैंने आपको गले से लगा लिया। बड़ा सुखद है क्षण, दो क्षण का ऐसा मिलन। लेकिन जब मैं आपको पकड़ रखूँगा और आप छूटने के लिए तड़पने लगेंगे तब आपकी क्या दशा होगी? आप सुखी हो सकेंगे? आधा घंटा हुआ कि आप चाहेंगे, चिल्लाएँगे कि कोई पुलिसवाला आए और आपको बचाए। सुख कब दुख में बदल जाता है, यह कहना मुश्किल है। सब सुख दुख में बदल सकता है, और ऐसा कोई दुख नहीं

जो सुख में न बदल सके। किसी माँ को ही लीजिए। वह बच्चे को गर्भ में ढोती है, नौ महीने पेट में रखती है, दुख उठाती है, प्रसव की पीड़ा सहती है। बच्चे का जन्भ होता है, वह उसका लालन-पालन करती है, बच्चे का बोझ सुख की तरह स्वीकारती है। बच्चे को बड़ा करना लम्बे दुख की प्रक्रिया है। लेकिन माँ का मन उसे सुख बना लेता है। अगर आशा, सम्भावना, आकांक्षा, कामना तीव्र हों तो दुख सुख बन जाता है।

सुख और दुख में कोई मौलिक भेद नहीं है, हमारी दृष्टि का भेद है। आशा हो तो दुख को सुख बनाया जा सकता है। आशा क्षीण हो जाय तो सुख दुख में परिणत हो जाता है। महावीर कहते हैं कि न तो तुम किसी को सुख पहुँचाओ और न दुख। जिस दिन कोई व्यक्ति उस स्थिति में पहुँच जाता है जिसमें वह न किसी को सुख पहुँचाना चाहता है, न दुख, उस दिन वह सबको आनन्द पहुँचाने का कारण बन जाता है। इसे समझ लेना जरूरी है। आनन्द पहुँचाने का कारण ही तभी कोई व्यक्ति बनता है जब वह सुख और दुख के चक्कर से मुक्त हो जाता है और उस दृष्टि को उपलब्ध होता है जिसमें सुख-दुख का कोई मूल्य नहीं। सुख-दुख पहुँचाने वाले को हम अच्छा-बुरा तो कहते हैं, लेकिन चूँकि हमें आनन्द को पहचानने नहीं आता इसलिए आनन्द देनेवाला व्यक्ति हमसे बिलकुल अपरिचित रह जाता है। आनन्द चेतना से सहज ही विकीर्ण होने लगता है जो सुख-दुख के द्वन्द्व के पार चली जाती है। निश्चित ही जिनके पास आँखें होती हैं वे उस आनन्द को देख पाते हैं।

महावीर की गहरी समझ यह है कि कभी-कभी किसी को सुख पहुँचाने से भी उसको दुख पहुँच जाता है--अर्थात् कभी-कभी आक्रामक रूप से किसी को सुर पहुँचाने की चेष्टा भी उसको दुख पहुँचा सकती है। यह जरूरी नहीं कि आप सुख पहुँचाना चाहते हों तो इससे दूसरे को सुख पहुँच जाय। सच तो यह है कि अगर कोई किसी को सुख पहुँचाने की कोशिश करे तो उसको दुख पहुँचाता ही है। अगर बाप अपने बेटे को सुख पहुँचाने की कोशिश में लग जायँ, उसके सुधार की व्यवस्था करने लगे और सोचें कि इससे उसे सुख पहुँचेगा तो सम्भावना इस बात की है बेटा को दुःख पहुँचेगा और बेटा अपने पिता के ठीक विपरीत जायगा। इसलिए अच्छे बाप अच्छे बेटों को पैदा नहीं कर पाते। अच्छे बाप के घर अच्छा बेटा पैदा होना अपवाद है। अच्छा बाप बेटे को अनिवार्यतः बिगाड़ने का कारण बनता है। सुख इतनी सूक्ष्म चित्त-दशा है कि कोई पहुँचाना चाहे तो नहीं पहुँचा सकता। मैं लेना चाहूँ तभी ले सकता हूँ। इसलिए महावीर ने सुख पहुँचाने पर जोर ही नहीं दिया, बात हीं छोड़ दी, और कहा कि अगर कोई तुमसे सुख लेना चाहे तो दे देना, वह भी सिर्फ इसलिए कि अगर तुम न दोगे तो उसे दुख होगा। लेकिन तुम सुख पहुँचाने मत चले जाना।

यही कारण है कि महावीर ने गिरे हुए को नहीं उठाया, भूखे को रोटी नहीं दी, बीमार के पाँव नहीं दाबे। वे चुपचाप चलते गए। लेकिन उनके चुपचाप चले जाने में इतनी किरणें झर सकती हैं, इतनी तरंगें पैदा हो सकती हैं जितनी हाथ के प्रयोग से नहीं होतीं। महावीर की दृष्टि में जो शरीर नहीं है उसे शरीर से कोई सहायता नहीं पहुँचाई जा सकती। वह जो लँगड़ा पड़ा है वह पैर से लँगड़ा है। लेकिन हमें इस बात का खयाल नहीं कि दुख पैर के लँगड़े होने से नहीं पहुँचता। मैं पैर से लंगड़ा हूँ, इस भाव से, इस चित्त-दशा से दुख पहुँचता है और जरूरी नहीं कि आप उसके पाँव ठीक कर दें तो उसे कोई लाभ हो ही जाय। क्या जरूरी है, क्या नहीं, यह महावीर को अच्छी तरह मालूम था। इसलिए जितनी करुणा वे उस व्यक्ति पर फेंक सकते थे, फेंककर चले जाते हैं। असल में जो परम स्थिति को उपलब्ध हो जाते हैं, उनका होना-मात्र करुणा है। उनकी मौजूदगी-मात्र काफी है। जो भी होता है उनकी छाया से होता है। जिनके पास ऐसी छाया नहीं है उन्हें ही कुछ करना पड़ता है, कोढ़ियों की मालिश करनी पड़ती है, अस्पताल खोलने पड़ते हैं। ये बिलकुल कौड़ियों की बातें हैं। बहुत गहरे में इनका कुछ भी मूल्य नहीं।

महावीर की अहिंसा उस तल पर है जिस तल पर सुख-दुख पहुँचाने का भाव विदा हो जाता है, जहाँ सिर्फ महावीर जीते हैं। विज्ञान में उस तत्त्व को कैटलिटिक (उत्प्रेरक) एजेण्ट कहते हैं जिसकी मौजूदगी से ही कुछ हो जाता है। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन और ऑक्सीजन को लें। यदि आप इन दोनों को आस-पास ले आएँ तो ये अलग-अलग ही रहेंगे, लेकिन यदि बीच से बिजली चमक जाय तो दोनों मिल जायँगे और इनके इस मिलन से पानी तैयार हो जायगा। बिजली की चमक कोई योगदान नहीं करती, सिर्फ उसकी मौजूदगी से ही ये मिल जाते हैं। जिस भाँति भौतिक तल पर कैटलिटिक एजेण्ट हैं, उसी भाँति आध्यात्मिक तल पर महावीर-जैसे लोग होते हैं जिनकी सिर्फ मौजूदगी काम करती है। उनकी मौजूदगी ही हजारों, लाखों चेतनाओं को जगा देती है, स्वस्थ कर देती है।

महावीर ने कभी किसी की सेवा नहीं की, यह इलजाम रहेगा। इसे मिटाया नहीं जा सकता। यह अभियोग तब तक रहेगा जब तक हम केवल ताँबे के सिक्के पहचानते रहेंगे। जिस दिन हम सौ-सौ रुपए के नोट पहचानना शुरू कर देंगे उस दिन महावीर एक नई अर्थवत्ता लेकर प्रकट होंगे और उनपर अभियोग लगानेवाले लोग दो कौड़ी के हो जायँगे।

४

लोग पूछते हैं कि यद्यपि पृथ्वी बहुत विशाल है, फिर भी क्या कारण है कि दो-तीन प्रदेशों में ही चौबीसों तीर्थंकर हुए ? इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त

होगा कि प्रत्येक की मौजूदगी दूसरे के होने के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करती है। इस प्रकार एक श्रृंखला-सी निर्मित हो जाती है। जिस क्षेत्र में किसी तीर्थंकर का अवतरण होता है उस क्षेत्र की चेतना ऊँची उठ जाती है जिससे दूसरा तीर्थंकर पैदा होता है, और उस दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा। इस तरह तीर्थंकरों की श्रृंखला बन जाती है। यह भी जानकर आप हैरान होंगे कि जब दुनिया में महापुरुष पैदा होते हैं तो करीब-करीब एक श्रृंखला की तरह सारी पृथ्वी को घेर लेते हैं। महावीर, बुद्ध, गोशाल, अजित, संजय आदि सब-के-सब बिहार में ही हुए और वह भी पाँच सौ वर्षों के अन्दर। इन्हीं पाँच सौ वर्षों में एथेन्स में सुकरात, अरस्तू, प्लेटो आदि तथा चीन में कन्फ्यूसियस और लाओत्से हुए। पाँच सौ वर्षों में सारी पृथ्वी पर प्रतिभा का मानों श्रृंखलाबद्ध विस्फोट हुआ। जब महावीर की कीमत का कोई इन्सान पैदा होता है तो वह अपने-जैसे सैकड़ों लोगों के पैदा होने की सम्भावना भी पैदा करता है। ऊपर से दीखता है कि महावीर और बुद्ध परस्पर विरोधी हैं। लेकिन महावीर के विस्फोट का फल है बुद्ध—फल इस अर्थ में कि अगर महावीर न होते तो बुद्ध का होना मुश्किल था। ऊपर से लगता है कि अजित, पूर्ण काश्यप, गोशाल सब विरोधी हैं। लेकिन किसी को खयाल नहीं कि वे सब एक ही श्रृंखला के हिस्से हैं। एक का विस्फोट हुआ है तो हवा बन गई है। उसकी उपस्थिति ने सारी चेतनाओं को इकट्ठा कर दिया है और आग पकड़ गई है। प्रतिभा के विस्फोट के लिए उपयुक्त हवा चाहिए।

यह भी स्मरणीय है कि तीर्थंकरों का संख्या से कोई सम्बन्ध नहीं। पच्चीसवाँ तीर्थंकर भी हो सकता था, लेकिन जैनों ने उसे स्वीकार नहीं किया। वही नई श्रृंखला का पहला पैगम्बर बना। यदि जैन पच्चीसवाँ तीर्थंकर मान लेते तो बुद्ध को एक अलग श्रृंखला में रखने की जरूरत न पड़ती। वे पच्चीसवें तीर्थंकर हो जाते। कठिनाई यह है कि जब भी कोई परम्परा अपने अन्तिम पुरुष को पा लेती है तो फिर वह उसके बाद दूसरों के लिए द्वार बन्द कर देती है। चूँकि नई प्रतिभा नए-नए उपद्रव लाती है, इसलिए उसे पुरानी श्रृंखला में स्थान पाना मुश्किल हो जाता है। इसलिए पच्चीसवें को नई श्रृंखला की पहली कड़ी होना पड़ता है। बुद्ध पच्चीसवें हो गए होते, कोई बाधा न थी, अगर जैनों ने द्वार खोल रखे होते। एक और कारण हो गया कि बुद्ध उसी वक्त मौजूद थे, इसलिए द्वार बन्द कर देना एकदम जरूरी था। अगर वे पुरानी श्रृंखला में आते तो सब अस्त-व्यस्त हो जाता, महावीर की बातें भी अस्त-व्यस्त हो जातीं, नई व्यवस्था बनानी पड़ती और वह नई व्यवस्था मुश्किल में डाल देती। इस वजह से दरवाजा बन्द कर दिया गया और कहा गया कि चौबीस से ज्यादा तीर्थंकर हो ही नहीं सकते और यह कि चौबीसवाँ तीर्थंकर हो चुका।

यह सारी व्यवस्था अनुयायियों की है। उन्हें डर होता है कि यदि नई प्रतिभा

स्वीकृत हुई तो उनकी पुरानी व्यवस्था, पुरानी शृंखला अस्त-व्यस्त हो जायगी। इसलिए वे दरवाजे बन्द कर रखते हैं जिनसे उनकी शृंखला में नई प्रतिभाओं का प्रवेश न हो। उनकी पुरानी शृंखला में जो लोग सम्मिलित हो पाते हैं उनमें भी अस्त-व्यस्त करने की प्रवृत्ति थी, लेकिन अनुयायी उनकी बातों को शृंखलाबद्ध कर लेते हैं, उनमें संगति बिठा लेते हैं। मुहम्मद के बाद मुसलमानों ने दरवाजा बन्द कर लिया, जीजस के बाद ईसाइयों ने और बुद्ध के बाद बौद्धों ने। कहा जाता है कि बुद्ध मैत्रेय के रूप में एक और अवतार लेंगे, लेकिन वह अवतार भी बुद्ध ही लेंगे, कोई दूसरी आत्मा नहीं।

इन दो-तीन सौ वर्षों में रमण और कृष्णमूर्ति सबसे ज्यादा प्रतिभाशाली आदमी हुए, लेकिन न तो रमण के पीछे कोई शृंखला बन सकी और न कृष्णमूर्ति के पीछे। कृष्णमूर्ति ऐसी शृंखला बनाने के विरोध में हैं और रमण के पीछे कोई शृंखला बन न पाई। इस कीमत का कोई आदमी न मिला जो रमण के सन्देश को आगे बढ़ा सके। रामकृष्ण को विवेकानन्द मिले। विवेकानन्द शक्तिशाली पुरुष थे, अनुभवी नहीं। शक्तिशाली होने की वजह से उन्होंने चक्र तो चला दिया, लेकिन चक्र में ज्यादा जान नहीं है। वह चलनेवाला नहीं है। रामकृष्ण बहुत अनुभवी थे, लेकिन तीर्थंकर होने की कोई स्थिति नहीं थी उनकी। इसलिए उन्होंने विवेकानन्द के कंधे पर हाथ रखकर शिक्षक का कार्य विवेकानन्द से ही लिया। लेकिन चूँकि विवेकानन्द अनुभवी न थे, इसलिए शृंखला बन न पाई। रामकृष्ण की मृत्यु हो गई। फिर विवेकानन्द रह गए और उन्होंने ही रामकृष्ण के अनुभवों को व्यवस्था दी। यह व्यवस्था विवेकानन्द की है। यदि विवेकानन्द के पास रामकृष्ण के अनुभव होते तो एक शृंखला शुरू हो जाती।

——

सप्तम अध्याय

अस्तित्व और अहिंसा

एगो हं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवं अदीण-मणसो, अप्पाणमणु सासइ ।।[1]

१

महावीर उन थोड़े-से चिन्तकों में हैं जिन्होंने जीवन के प्रारम्भ की बात को स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि में अस्तित्व का कोई प्रारम्भ नहीं हो सकता। अस्तित्व सदा से है और सदा रहेगा। प्रारम्भ की धारणा हमारी नासमझी से पैदा होती है। हमारा भी कोई प्रारम्भ नहीं, कोई अन्त नहीं। जब कोई चीज बनती और मिटती है तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जो भी बनता है वह मिटता है। लेकिन बनना और मिटना प्रारम्भ और अन्त का पर्याय नहीं है, क्योंकि जो चीज बनती है, वह बनने के पहले किसी दूसरे रूप में मौजूद होती है। इसी तरह जो चीज मिटती है वह मिटने के बाद किसी दूसरे रूप में मौजूद हो जाती है। **महावीर कहते हैं कि जीवन में सिर्फ रूपान्तरण होता है।** प्रारम्भ असम्भव है, क्योंकि अगर हम यह मानें कि कभी प्रारम्भ हुआ तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसके पहले कुछ भी न था। फिर प्रारम्भ कैसे होगा ? अगर उसके पहले कुछ भी न हो तो प्रारम्भ होने का उपाय भी नहीं। अगर हम यह मान लें कि कुछ भी न था—न तो समय था और न स्थान ही--तो प्रारम्भ कैसे हुआ ? प्रारम्भ होने के लिए कम से कम समय तो पहले चाहिए ही ताकि प्रारम्भ हो सके। और अगर समय पहले है, स्थान पहले है तो सब पहले हो गया।

इस जगत् में मौलिक रूप से दो ही तत्त्व हैं--समय और स्थान। महावीर की दृष्टि में प्रारम्भ की बात हमारी नासमझी से उठी है। अस्तित्व का कभी कोई प्रारम्भ नहीं हुआ और, याद रहे, जिसका कभी कोई प्रारम्भ नहीं हुआ उसका कभी अन्त भी नहीं हो सकता, क्योंकि अन्त होने का मतलब होगा कि एक दिन कुछ भी न बचे। यह कैसे होगा ?

---

१. 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं किसी दूसरे का नहीं हूँ,'—इस प्रकार अदीन मन से विचारता हुआ आत्मा को समझाये (समझाना चाहिए)।

अस्तित्व अनादि है, अनन्त है, सनातन है। लेकिन रूपान्तरण रोज होता है। कल जो रेत थी वही आज पहाड़ है, आज जो पहाड़ है, कौन जाने वही कल रेत में परिवर्तित हो जाय ! लेकिन होना नहीं मिटेगा। रेत में भी वही था, पहाड़ में भी वही होगा। अस्तित्व का अनस्तित्व होना उतना ही असम्भव है जितना अनस्तित्व का अस्तित्व होना। इसलिए महावीर ने स्रष्टा की धारणा ही नहीं मानी। उन्होंने कहा कि जब सृष्टि की शुरुआत ही नहीं होती तो शुरुआत करनेवाले की धारणा को बीच में लाना ठीक नहीं। जब शुरुआत ही नहीं होती तो स्रष्टा की क्या जरूरत ? यह बड़े साहस की बात थी उन दिनों। उन्होंने कहा--सृष्टि है, पर स्रष्टा नहीं, क्योंकि अगर स्रष्टा है तो प्रारम्भ की बात माननी पड़ेगी। यदि स्रष्टा है तो भी शून्य से उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता। और फिर मजे की बात यह है कि अगर स्रष्टा था तो फिर शून्य कहना व्यर्थ है।

आस्तिकों का कहना है कि यदि कोई चीजों को बनाने वाला है तो परमात्मा भी होना चाहिए। लेकिन नास्तिकों ने एक गहरा सवाल किया--अगर चीजों को बनानेवाला कोई है तो फिर परमात्मा को बनानेवाला भी होना चाहिए। और फिर उस बनानेवाले का बनानेवाला, फिर उसका, फिर उसका। इस प्रकार एक अन्तहीन विवाद लड़ा हो जायगा। इसलिए, महावीर कहते हैं कि आस्तिक भूल में है और अपनी भूल के कारण ही वह नास्तिकों के प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता।

स्वयं महावीर परम आस्तिक हैं। लेकिन वे कहते हैं कि बनानेवाले को बीच में लाने की जरूरत नहीं है। अस्तित्व पर्याप्त है। कोई बनानेवाला नहीं है। हो सकता है कि इसका पता चल जाय कि पृथ्वी का प्रारम्भ कब हुआ और इसका अन्त कब होगा, लेकिन पृथ्वी जीवन नहीं है, जीवन का एक रूप है। इसी प्रकार मैं भी जीवन नहीं हूँ, जीवन का सिर्फ एक रूप हूँ। अन्ततः जो है गहराई में, वह सदा से है। उसके ऊपर की लहरें आई हैं, गई हैं, बदली हैं। आएँगी, जाएँगी, बदलेंगी। परन्तु जो गहराई में है, जो केन्द्र में है, वह सदा से है और सदा रहेगा। ऐसा ही समझ लें कि अस्तित्व एक सागर है, उस पर लहरें उठती हैं, आती हैं, जाती हैं, लेकिन पूरे अस्तित्व का कभी प्रारम्भ हुआ हो, न ऐसा है और न हो सकता है। इसी बात को हम चाहें तो इस प्रकार समझ सकते हैं। हम यहाँ लकड़ी के तख्तों पर बैठे हुए हैं। कोई हमसे पूछ सकता है कि आपको किसने सँभाल रखा है ? हम कहेंगे--लकड़ी के तख्ते। फिर वह पूछ सकता है कि लकड़ी के तख्तों को कौन सँभाले हुए है ? हम कहेंगे--जमीन। वह पूछ सकता है, जमीन को कौन संभाले हुए है ? हम उत्तर देंगे—ग्रहों-उपग्रहों का गुरुत्वाकर्षण। फिर वह पूछ सकता है कि ग्रहों-उपग्रहों को कौन सँभाले हुए है तो शायद हम और खोजते चले जायँ। अन्ततः यदि कोई पूछे कि इस समग्र को, इस पूरे को जिसमें सभी ग्रह-उपग्रह आ गए हैं, कौन सँभाले हुए है तो

कहना पड़ेगा कि अब बात जरा ज्यादा हो गई। यह प्रश्न असंगत है कि इस समग्र को किसने सँभाल रखा है, क्योंकि 'समग्र' और 'किसने' की धारणा ही परस्पर विरोधी है। समग्र के बाहर यदि कुछ है तो समग्र की समग्रता पूरी कहाँ हुई? अगर सँभालनेवाले को हम बाहर रखते हैं तो समग्र अभी पूरा नहीं हुआ और अगर सब-कुछ उसके भीतर है तो बाहर कोई बचता नहीं जो उसे संभाले। सबको कोई भी सँभाले हुए नहीं है--सब स्वयं सँभला हुआ है। इसलिए महावीर कहते हैं कि जीवन स्वयंभू है--न इसको बनानेवाला है और न मिटानेवाला। यह स्वयं है।

मेरी अपनी समझ है कि जो लोग अस्तित्व की गहराइयों में जाएँगे वे स्रष्टा की धारणा को कभी स्वीकार नहीं कर सकते। चूँकि हम लहरों का हिसाब रखते हैं इसलिए हम परम सत्य के सम्बन्ध में भी पूछना चाहते हैं कि वह कब शुरू हुआ, उसका कब अन्त होगा। सूरज बनेगा, सूरज मिटेगा। वह भी एक लहर है। पृथ्वी दो अरब वर्ष चलेगी। वह भी मिटेगी, बनेगी। वह भी एक लहर है। हजारों पृथ्वियाँ बनी हैं और मिटी हैं। हजारों सूरज बने हैं और मिटे हैं। प्रतिदिन कहीं-न-कहीं कोई सूरज ठंडा हो रहा है और किसी-न-किसी कोने में कोई नया सूरज जन्म ले रहा है। इस वक्त भी अभी जब यहाँ बैठे हैं, कोई सूरज बूढ़ा हो रहा है। आकार बनेंगे और बिगड़ेंगे, आकृति उठेगी और गिरेगी। सपने पैदा होंगे और खोएँगे। लेकिन जो सत्य है, वह सदा है। वस्तुतः यह कहना भी गलत है कि सत्य है, क्योंकि जो है वही सत्य है। सत्य के साथ 'है' को भी जोड़ना बेमानी है, क्योंकि 'है' उसके साथ जोड़ा जा सकता है, जो 'नहीं है' हो सकता है। हम कह सकते हैं कि 'यह मकान है', क्योंकि 'मकान नहीं है' यह भी हो सकता है। लेकिन 'सत्य है'--ऐसा कहने में कठिनाई है, क्योंकि 'सत्य नहीं है'--यह कभी नहीं हो सकता। इसलिए 'सत्य' और 'है' पर्यायवाची हैं। इनका एक साथ दोहरा उपयोग करना पुनरुक्ति है।

इस तथ्य का थोड़ा-सा खयाल आ जाय तो सब बदल जाता है। तब पूजा और प्रार्थना नहीं उठती, तब मस्जिद और मन्दिर खड़े नहीं होते--तब आदमी ही मन्दिर बन जाता है। आदमी का उठना-बैठना, चलना-फिरना सब पूजा और प्रार्थना हो जाती है। इस बात का बोध हो जाता है कि मेरे भीतर जो सदा है, वही सार्थक है और वह सबके भीतर है, वह एक ही है। इस बोध के बाद व्यक्ति खो जाता है, अहंकार मिट जाता है। और तब जिसका जन्म होता है उसी का नाम है 'बदला हुआ चित्त'।

२

मेरी दृष्टि में जड़ और चेतन दो पृथक् चीजें नहीं हैं। वे केवल पृथक् दिखाई पड़ती हैं। जड़ का मतलब है इतना कम चेतना कि हम उसे अभी चेतन नहीं कह

पाते; चेतन का अर्थ है इतना कम जड़ कि हम उसे अभी जड़ नहीं कह पाते। वे एक ही चीज के दो छोर हैं। जड़ता चेतन होती चली जा रही है। उसमें भीतर कहीं चेतन छिपा है। फर्क सिर्फ प्रकट और अप्रकट का है। जिसे हम जड़ कहते हैं, वह अप्रकट चेतन है—यानी जिसकी अभी चेतना प्रकट नहीं हुई। जड़ में हमें चेतन दिखाई नहीं पड़ता, कारण कि हमारी देखने की क्षमता बहुत सीमित है। पदार्थ चेतन की अप्रकट स्थिति है और चेतन पदार्थ की प्रकट स्थिति। इसलिए मेरी दृष्टि में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का झगड़ा अर्थ नहीं रखता। वह आधे गिलास का झगड़ा है। कोई कह सकता है कि गिलास आधा खाली है और बल गिलास के खाली होने पर दे सकता है। वहीं दूसरा व्यक्ति इस बात पर जोर दे सकता है कि गिलास आधा भरा है। दोनों ही ठीक कहते हैं, सिर्फ उनका जोर भिन्न है। एक खाली पर जोर देकर चला है, दूसरा भरे पर। इसलिए अध्यात्मवाद और पदार्थवाद में बुनियादी भेद नहीं है। भेद सिर्फ इस बात का है कि पदार्थवाद आदमी को रोक सकता है विकास से। अध्यात्मवाद विकासशील बना सकता है आदमी को। जहाँ पदार्थवाद मनुष्य को एकदम उदास कर सकता है, वहाँ अध्यात्मवाद गति देता है, विकास के द्वार खोलता है।

दूसरी बात—मैं कहता हूँ कि अन्त नहीं हो सकता, अन्त असम्भव है। अन्त इसलिए असम्भव है कि किसी चीज का अन्त सदा दूसरे का प्रारम्भ होता है। और प्रारम्भ की अवधारणा असम्भव है, क्योंकि प्रारम्भ के लिए भी पहले कुछ सदा से होना चाहिए, नहीं तो प्रारम्भ हो ही नहीं सकता। यानी प्रारम्भ के सम्भव के लिए भी प्रारम्भ के पहले अस्तित्व चाहिए। और जब पहले अस्तित्व चाहिए तो वह प्रारम्भ नहीं रह गया। जहाँ कुछ अन्त होता है, वहीं प्रारम्भ होता है, यानी प्रत्येक अन्त प्रारम्भ को जन्म देता है और प्रत्येक प्रारम्भ अन्त को जन्म देता है। अगर किसी दिन हमने पता भी लगा लिया कि इस दिन पृथ्वी का प्रारम्भ हुआ तो हम पाएँगे कि उसके पहले कुछ था जिससे प्रारम्भ हुआ। फिर जब उसका पता लगा लिया तो पता चलेगा कि उसके भी पहले कुछ था जिससे प्रारम्भ हुआ। यानी प्रारम्भ शून्य से नहीं हो सकता, और अगर शून्य से प्रारम्भ हो सकता है तो शून्य को शून्य कहना गलत होगा। उसका मतलब होगा कि शून्य में बीज की तरह कुछ छिपा है जो प्रकट होगा। फिर वह शून्य न रहा। ज्ञान कितना भी बढ़ जाय, प्रारम्भ की धारणा असम्भव है। प्रारम्भ कभी है ही नहीं।

३

हम सबके मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि जीवन की भिन्न-भिन्न अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में महावीर-जैसे व्यक्ति की चित्तदशा क्या होगी ? उनके सम्बन्ध

में आज जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें उसका कोई उल्लेख नहीं है। उल्लेख न होने का कारण बहुत गहरा और बुनियादी है। महावीर-जैसी चेतना की अभिव्यक्ति में परिस्थितियों से कोई भेद नहीं पड़ता। इसलिए 'भिन्न-भिन्न परिस्थिति' कहने का कोई अर्थ नहीं। भिन्न-भिन्न अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्त सदा समान है। प्रत्येक स्थिति में साधारण आदमी का चित्त रूपान्तरित होता रहता है। जैसी स्थिति होती है वैसा चित्त हो जाता है। इसी को महावीर बन्धन की अवस्था कहते हैं। स्थिति दुख की होती है तो उसे दुखी होना पड़ता है, सुख की होती है तो वह सुखी हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि चित्त की अपनी कोई दशा नहीं है। सिर्फ बाहर की स्थिति जैसा मौका देती है चित्त वैसा ही हो जाता है। इसका मतलब यह भी हुआ कि चेतना अभी उपलब्ध ही नहीं हुई।

असल में महावीर होने का मतलब ही यही है कि भीतर अब कुछ भी नहीं होता। जो होता है वह सब बाहर होता है। यही महावीर, क्राइस्ट, बुद्ध या कृष्ण होने का अर्थ है। भीतर बिलकुल अछूता छूट जाता है। वे दर्पण-मात्र रह जाते हैं।

दो तरह के चित्त हैं जगत् में——फोटो-प्लेट की तरह या दर्पण की तरह। फोटो-प्लेट की तरह जो काम कर रहे हैं उन्हीं को राग-द्वेष-ग्रस्त कहते हैं। असल में फोटो-प्लेट बड़ा राग-द्वेष रखती है। वह जकड़ती है जल्दी, फिर छोड़ती नहीं। राग भी पकड़ता है, द्वेय भी पकड़ता है। समाधिस्थ व्यक्ति दर्पण की तरह जीता है। वह न सम्मान को पकड़ता है और न गाली को। इसलिए महावीर के चित्त की अलग-अलग स्थितियाँ नहीं हैं जिनका वर्णन किया जाय। इसलिए वर्णन नहीं किया गया। कोई स्थिति ही नहीं है। एक समता आ गई है चित्त की। गाली देनेवाले या कान में कीलें ठोंकनेवाले भी उस चित्त को विचलित नहीं कर पाते। ऐसा कहना गलत है कि महावीर ने ऐसे लोगों को क्षमा कर दिया और आगे बढ़ गए। क्षमा तभी की जा सकती है जब मन में क्रोध आ गया हो। क्षमा अकेली बेमानी है। तो मैं आपसे कहता हूँ कि महावीर क्षमावान् नहीं थे क्योंकि महावीर क्रोधी नहीं थे। वे शून्य भवन की तरह थे। भवन में आवाज गूँजती थी, निकल जाती थी और फिर भवन शून्य हो जाता था। हम फर्नीचर से भरे लोग हैं, फ़ोटो-प्लेट ने भीतर बहुत इकट्ठा कर लिया है, इसलिए आवाज गूँजती ही नहीं।

अक्सर ऐसा होता है कि परम स्थिति को उपलब्ध व्यक्ति ठीक जड़-जैसा मालूम पड़े, क्योंकि हम जड़ को ही पहचानते हैं। परम ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति भी बच्चे-जैसा मालूम होने लगे। उतना ही सरल, उतना ही निर्दोष! शायद बच्चे-जैसा व्यवहार भी करने लगे और तब हमारे लिए यह तय करना मुश्किल हो जाय कि यह आदमी मन्दबुद्धि है या परम ज्ञानी! लेकिन दोनों में बुनियादी फर्क है। सन्त की सरलता ज्ञान की है। उसकी सरलता पूर्ण उपलब्धि की सरलता है। वह उन

अनुभवों से गुजर चुका है जिनसे बच्चे को गुजरना पड़ेगा। बच्चे की सरलता अज्ञान की है। वह अभी निर्दोष दीखता है, लेकिन उसकी निर्दोषता जाती रहेगी। वह जटिल होता चला जायगा। किन्तु सन्त की सरलता लौट आई है, वह फिर निर्दोष हो गया है। अब इस निर्दोषता के खो जाने का सवाल नहीं है।

अब एक अन्य प्रश्न पर विचार करें। पूछा जाता है कि क्या महावीर की अहिंसा पूर्ण विकसित है ? क्या महावीर के बाद अहिंसा का उत्तरोत्तर विकास नहीं हुआ ? पहली बात यह है कि कुछ ऐसी चीजें हैं जो कभी विकसित नहीं होतीं—विकसित हो ही नहीं सकतीं। बुद्ध को ज्ञान उपलब्ध हुए पच्चीस सौ साल हो गए। यह पूछना व्यर्थ है कि अब जिन्हें ज्ञान उपलब्ध हुआ है वह बुद्ध के ज्ञान से विकसित है या नहीं ? ध्यान-ज्ञान के विकसित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ध्यान है स्वयं में उतर जाना। स्वयं में चाहे लाख साल पहले उतरा हो और चाहे अब उतरे--फर्क नहीं पड़ता। स्वयं में उतरने का अनुभव एक है, स्वयं में उतरने की स्थिति एक है। महावीर की अहिंसा उनकी स्वानुभूति का ही बाह्य परिणाम है। भीतर उन्होंने जाना जीवन की एकता को और बाहर उनके व्यवहार में जीवन की एकता अहिंसा के रूप में प्रतिफलित हुई। **अहिंसा का मतलब है जीवन की एकता** का सिद्धांत। इस बात का सिद्धान्त कि जो जीवन मेरे भीतर है, वही तुम्हारे भीतर है। तो मैं अपने को ही चोट कैसे पहुँचा सकता हूँ ? मैं ही हूँ तुममें भी फैला हुआ। जिसे यह अनुभव हुआ कि मैं ही सबमें फैला हुआ हूँ, या सब मुझसे ही जुड़े हुए जीवन हैं--उसके व्यवहार में अहिंसा फलित होती है। अहिंसा कम और ज्यादा नहीं हुआ करती। वह वृत्त के समान होती है या प्रेम के समान। जो वृत्त कम है वह वृत्त ही नहीं है। प्रेम या तो होता है या नहीं होता--उसके टुकड़े नहीं होते, प्रेम विकसित तभी हो सकता है जब वह थोड़ा-थोड़ा हो। अक्सर हमारी पसन्द विकसित होती है, इसलिए हम सोचते हैं कि प्रेम विकसित हो रहा है। पसन्द और प्रेम में बहुत फर्क है। पसन्द कम और ज्यादा हो सकती है, लेकिन प्रेम न कम होता है, न ज्यादा। चाहे तो वह होता है या नहीं होता। दुनिया में अहिंसा, प्रेम-जैसी चीज़ें जब उपलब्ध होती हैं तो पूर्ण ही, अन्यथा बिलकुल उपलब्ध नहीं होतीं।

अज्ञान की डिग्रियाँ होती हैं, ज्ञान की नहीं। कोई कम अज्ञानी हो सकता है और कोई ज्यादा अज्ञानी। लेकिन एक आदमी कम ज्ञानी हो और दूसरा ज्यादा ज्ञानी--यह बिलकुल ही असंगत, निरर्थक बात है। दो अज्ञानियों में भी ज्ञान का फर्क नहीं होता, सिर्फ सूचना का फर्क होता है। चूँकि हम अज्ञानी हैं, इसलिए छोटे-बड़े भाषा में जीते हैं और ज्ञानियों के भी छोटे-बड़े होने का हिसाब लगाते रहते है। इसलिए ही तो पूछते हैं कि कबीर बड़े कि नानक, बुद्ध बड़े कि महावीर, राम बड़े कि कृष्ण, क्राइस्ट बड़े कि मुहम्मद ? ज्ञानियों में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। एक

सीमा है मनुष्य की। उस सीमा के बाहर मनुष्य छलाँग भर लगा जाय तो फिर परमात्मा की कशिश उसे खींच लेती है। उसे कुछ करना नहीं पड़ता। उस सीमा के बाद कोई छोटा-बड़ा नहीं रह जाता। फिर सब पर बराबर कशिश काम करती है। उसी सीमा को मैं कहता हूँ विचार। जिस दिन आदमी विचार से निर्विचार में कूद जाता है उस दिन के बाद उसके लिए कोई छोटा-बड़ा नहीं रह जाता। हमारे सब भेद-भाव कूदने के पहले के भेदभाव हैं।

महावीर ने जो छलाँग लगाई है वही कृष्ण की छलाँग है, वही क्राइस्ट की। इसलिए अहिंसा का कोई विकास नहीं होता। महावीर ने इसका कोई विकास किया हो, इस भूल में भी नहीं पड़ना चाहिए। अनुभव की अभिव्यक्ति में भेद है, अहिंसा का अनुभव समान है। ऐसा कुछ नहीं है कि महावीर ने पहली बार अहिंसा का अनुभव किया हो। लाखों लोगों ने पहले भी किया था और लाखों लोग पीछे करेंगे। यह अनुभव किसी की बपौती नहीं है। परिवर्तनशील जगत् में विकास होता है। शाश्वत, सनातन अन्तरात्मा के जगत् में विकास नहीं होता। महावीर-जैसे व्यक्ति चाक की कील के निकट पहुँच गए हैं--जहाँ कोई लहर नहीं, कोई तरंग नहीं, जहाँ कभी विकास नहीं होता, गति नहीं होती। याद रहे—कील नहीं चलती, इसलिए चाक चल पाता है। जो कील का सहारा पकड़ लेता है, वह कभी चूर नहीं होता। अस्तित्व के विकासचक्र की कील का ही नाम परमात्मा, धर्म या आत्मा है।

४

आप कहते हैं कि अहिंसक व्यक्ति का भी विरोधी पैदा होना अहिंसा के विषय में संदेह पैदा करता है। ऐसी धारणा रही है कि जो अहिंसक है उसका कोई विरोधी नहीं होता। जिसके मन में द्वेष, विरोध, घृणा, हिंसा न हो, उसके प्रति घृणा, हिंसा और द्वेष कैसे हो सकता है ? ऊपर से यह बात बहुत सीधी और साफ मालूम पड़ती है। लेकिन जीवन ज्यादा जटिल है; सिद्धान्त जितने सरल होते हैं जीवन उतना सरल नहीं है। सच तो यह है कि पूर्ण अहिंसक व्यक्ति के विरोधी पैदा होने की सम्भावना अधिक है। उसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि चूँकि हम सब हिंसक हैं, इसलिए हिंसकों से हमारा ताल-मेल बैठ जाता है; चूँकि अहिंसक व्यक्ति हमारे बीच अजनबी है, इसलिए उसे बरदाश्त करना भी मुश्किल है। अहिंसक व्यक्ति की मौजूदगी में हम इतने ज्यादा निन्दित प्रतीत होने लगते हैं कि इसका बदला लिये बिना नहीं रह सकते। पूर्ण अहिंसक व्यक्ति हिंसक व्यक्ति के मन में, अनजाने ही, तीव्र बदले का भावना पैदा करता है।

महावीर के लाखों विरोधी रहे होंगे। यह स्वाभाविक है। लेकिन इससे उनकी अहिंसा पर सन्देह नहीं होता। इससे खबर मिलती है कि आदमी पूर्ण अजनबी था,

ऐसे अजनवी को स्वीकार कर सकना कठिन था। जिसके लिए स्वीकार करना सरल था उसके लिए वे भगवान् थे। भगवान् बनाना भी अस्वीकार करने की ही एक तरकीब है। यह दूसरी और आखिरी तरकीब है जिससे हमने उन्हें मनुष्य-जाति से बाहर निकाल दिया है। अगर बहरे तक मेरी आवाज न पहुँचे तो यह नहीं कहा जा सकता कि मैं गूँगा था। मेरे बोलने पर इसलिए शक नहीं किया जा सकता कि बहरों तक मेरी आवाज नहीं पहुँची। महावीर के अहिंसक होने में इसलिए शक नहीं हो सकता कि हिंसक चित्तों तक उनकी आवाज नहीं पहुँची। बहुत गहरे में हम बहरे हैं।

इसी सम्बन्ध में यह भी पूछा जाता है कि महावीर के प्रेम में क्या कुछ कमी थी जो वे मंखली गोशालक को समझा न पाए? निश्चित ही, पूर्ण प्रेम समझाने की पूरी व्यवस्था करता है। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पूर्ण प्रेमी समझा ही पाए। क्योंकि दूसरी तरफ पूर्ण घृणा भी हो सकती है जो समझने को राजी न हो, पूर्ण बहरापन भी हो सकता है जो सुनने को तैयार न हो। महावीर की अहिंसा की जाँच करनी हो तो दूसरे की तरफ से जाँच करना गलत है। सीधे महावीर को ही देखना उचित है। सूरज को जानना हो तो किसी अंधे आदमी को माध्यम बनाकर जानने की कोशिश करना अनुचित है। लेकिन कई बार ऐसा होता है कि हमारी खुद की आँखें इतनी कमजोर होती हैं कि सीधा देखना मुश्किल हो जाता है। इसलिए हम बीच के गुरुओं को खोजते हैं, आचार्यों से सम्पर्क कायम करते हैं, टीकाकारों की सहायता लेते हैं। गीता को सीधा नहीं देखते, टीकाकारों के माध्यम से देखते हैं।

यह भी याद रहे कि महावीर ने 'सिद्धान्तों' की चर्चा नहीं की और न अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अचौर्य आदि सिद्धान्त ही हैं। इसलिए इनके सीधे प्रयोग की बात ही गलत है। इनका सीधा प्रयोग हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए उस आदमी को लें जो भूसा इकट्ठा करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति को गेहूँ बोना पड़ता है, भूसा नहीं। अगर वह भूसा पैदा करने के लिए भूसा ही बो दे तो जो पास का भूसा है वह भी खेत में सड़ जायगा, कुछ भी पैदा न होगा। अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, अस्तेय—ये सिद्धान्त नहीं हैं, उप-उत्पत्तियाँ हैं, भूसे की तरह। जहाँ समाधि पैदा होती है वहाँ ये सब भूसे की तरह आप ही पैदा हो जाते हैं। अहिंसा, सत्य आदि छाया की तरह आते हैं, समाधि के अनुभव में। ध्यान आया कि उसके पीछे छाया की तरह ये सब आ जाते हैं। महावीर ने अहिंसा नहीं साधी, क्योंकि अहिंसा साधनेवाले सिर्फ हिंसा को दबाते हैं। और दबी हुई हिंसा से कोई अहिंसक नहीं होता। अगर किसी व्यक्ति ने काम को रोका और ब्रह्मचर्य साधा तो उसके ब्रह्मचर्य के भीतर अब्रह्मचर्य और व्यभिचार ही मिलेंगे। महावीर के भीतर है समाधि और बाहर है

ब्रह्मचर्य। अगर उन्होंने ब्रह्मचर्य की साधना की होती तो ब्रह्मचर्य होता बाहर और भीतर होता व्यभिचार। महावीर जैसे व्यक्ति को समझना हो तो बाहर से भीतर की ओर देखने की कोशिश न करना। भीतर से बाहर की ओर देखना।

महावीर की जो उपलब्धि है, वह है समाधि। उपलब्धि की जो उप-उत्पत्तियाँ हैं वे हैं सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि। न तो ये सिद्धान्त हैं और न इनके सीधे प्रयोग की ही कोई जरूरत है। हाँ, करने की कोशिश की है बहुत लोगों ने और वे कोशिश में विफल हुए हैं, विकृत हुए हैं। प्रयोग तो करना है ध्यान का। सत्य, ब्रह्मचर्य आदि आएँगे छाया की तरह। अहिंसा नहीं साधनी है, साधना है ध्यान। अहिंसा फलित होती है। जैसे ही समाधि फलित होती है वैसे ही कुछ चीजें विदा हो जाती हैं। हिंसा विदा हो जाती है, क्योंकि समाधिस्थ चित्त के साथ हिंसा का सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

अक्सर हमें लगता है कि महावीर साधु बने और दूसरों को भी साधु बनाने के लिए कहते रहे। यह हमें इसलिए लगता है कि हम असाधु हैं और हमारी धारणा है कि अगर हमें साधु होना हो तो साधु बनना पड़ेगा। सच्चाई यह है कि साधुता आती है, साधु बनना नहीं पड़ता। जो साधु बनता है उसकी साधुता थोथी, झूठ, आडम्बर-मात्र होती है। साधु बनना अभिनय की बात है। 'महावीर साधु बने'—यह उनके लिए गलत शब्दों का प्रयोग है। बनना होता है चेष्टा से; महावीर साधु हुए आत्म-परिवर्तन से। महावीर ने किसी को भी साधु बनने के लिए नहीं कहा। उन्होंने कहा कि जागो असाधुता के प्रति और तुम पाओगे कि साधुता आनी शुरू हो गई है। प्रयास करके हम चाहे कुछ भी बन जायँ, पर साधु नहीं बन सकते। साधुता तो आत्मपरिवर्तन है, पूरा-का-पूरा आत्मपरिवर्तन। शायद महावीर को पता भी न चला होगा कि वे साधु हो गए हैं। होने की जो प्रक्रिया है वह अत्यन्त धीमी, शान्त और मौन है। बनने की जो प्रक्रिया है वह अत्यन्त घोषणापूर्ण है, बैंड-बाजे के साथ चलती है।

आप ध्यान का छोटा-सा प्रयोग करें। यह आत्म-स्मरण का प्रयोग हो। आधा घंटा रोज बैठकर स्वयं रह जाएँ, सब भूल जाएँ। मन में जुआ न खेलें, उतनी देर मन में शराब न पीएँ, मांस न खाएँ—बस इतना बहुत है। छह महीने के प्रयोग के बाद आप कहेंगे—जो आनन्द मैंने उस आधे घंटे में पाया वह सारे जीवन में न मिला। तब आप मांस नहीं खा सकते, शराब नहीं पी सकते। महावीर का ध्यान ऐसा ही था। जो उस ध्यान से गुजरेगा वह मांसाहार नहीं कर सकता। महावीर किसी को नहीं कहते कि मांसाहार न करो। वह ध्यान ही ऐसा है कि उससे गुजरनेवाला व्यक्ति मांसाहार कर ही नहीं सकता। वह ध्यान इतने जागरण और आनन्द में ले जाता है कि शराब का क्षणिक आनन्द उसके सामने ठहर नहीं पाता।

५

लोग कहते हैं कि यद्यपि महावीर समानता के समर्थक थे, फिर भी उनके संघ में साध्वी-संघ उपेक्षित रहा था। इस सम्बन्ध में कुछ बुनियादी बातें ध्यान में रखनी होंगी। पहली बात तो यह है कि महावीर के मन में स्त्री-पुरुष के बीच असमानता का कोई भाव न था। समानता की पकड़ इतनी गहरी थी कि मनुष्य और पशु में भी, मनुष्य और पौधे में भी वे असमानता का भाव नहीं रखते थे। फिर भी स्त्री-पुरुष के बीच साधु-संघ में उन्होंने कुछ भेद किया था, जिसके कुछ सूक्ष्म कारण हैं। महावीर स्त्री के विरोध में नहीं हैं, स्त्री-चित्त के विरोधी हैं। वे पुरुष के पक्ष में नहीं हैं, लेकिन पुरुष होने का एक गुण है, उसके पक्ष में हैं। पुरुषत्व का अर्थ है सक्रियता। महावीर का मार्ग इसी सक्रियता का मार्ग है। उनकी पूरी साधना—जैसा मैंने पहले भी कहा है—संकल्प और श्रम की साधना है। तो महावीर कहते हैं कि स्त्री को भी अगर सत्य पाना है तो पुरुष होना पड़ेगा। इसी बात को लोगों ने गलत समझ लिया। ऐसा समझ लिया कि स्त्री योनि से मोक्ष असम्भव है। बात बिलकुल दूसरी है। पुरुष योनि से ही मोक्ष हो सकता है महावीर के मार्ग पर, लेकिन पुरुष योनि का मतलब शरीर से पुरुष हो जाना नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है निष्क्रियता का त्याग। जिस प्रकार लता को वृक्ष का सहारा चाहिए, उसी प्रकार स्त्री भी पुरुष का सहारा माँगती है। महावीर सहारे के एकदम खिलाफ हैं। तुमने सहारा माँगा कि तुम पंगु हुए।

जैनों के एक तीर्थंकर हैं—मल्लीबाई। मल्लीबाई स्त्री थीं, लेकिन दिगम्बरों ने उन्हें मल्लीनाथ कहा है। उन्हें स्त्री कहना वास्तव में बेमानी है। उन्होंने कोई सहारा नहीं माँगा। इसलिए स्त्री कैसी? मल्लीबाई कहा ही नहीं दिगम्बरों ने। उन्होंने कहा—मल्लीनाथ। पीछे झगड़ा खड़ा हो गया कि मल्लीबाई स्त्री थीं या पुरुष? दिगम्बरों ने कहा—पुरुष; श्वेताम्बरों ने कहा—स्त्री। दोनों ठीक हैं। मल्लीबाई स्त्री थीं, लेकिन उनके चित्त की दशा स्त्रियों जैसी न थी।

रवीन्द्रनाथ पुरुष थे, मगर उनके पास स्त्रियों का-सा चित्त था। वे रवीन्द्रबाई कहे जा सकते हैं। शायद सभी कवियों के पास ऐसा ही स्त्रीचित्त होता है। असल में शायद काव्य का जन्म ही नहीं हो सकता पुरुष-चित्त से। स्त्री का पूरा चित्त काव्य, स्वप्न और कल्पना का है। असल में कवि का मतलब ही है निष्क्रिय चित्त।

महावीर की दृष्टि में न पुरुष ऊँचा है और न स्त्री नीची है। लेकिन वे यह भी कहते हैं कि स्त्री-चित्त को मोक्ष नहीं है। स्त्री भी मोक्ष की अधिकारिणी है, लेकिन चित्त पुरुष का होना चाहिए। हाँ, यदि मीरा के मार्ग से जाना हो तो स्त्री-चित्त ही चाहिए। उस मार्ग से पुरुष के लिए कोई मुक्ति नहीं है। महावीर का मार्ग पुरुष का मार्ग है, इसलिए उस मार्ग पर स्त्री के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। यह भी सत्य है

कि अधिक लोग बीच का रास्ता पकड़ते हैं जिसमें वे ध्यान भी करते हैं और पूजा-पाठ भी। ध्यान पुरुषमार्ग का हिस्सा है और पूजा स्त्री-मार्ग का हिस्सा। दोनों के घोल-मेल से मुक्त होना मुश्किल है। महावीर के मार्ग पर स्त्रियाँ उपेक्षित हैं, ऐसा नहीं है; बल्कि स्त्री-चित्त उपेक्षित है जैसा कि मीरा के मार्ग पर पुरुष-चित्त उपेक्षित है।

एक साध्वी ने कहा है कि महावीर के मार्ग पर यह बड़ी बेबूझ बात है कि एक दिन के दीक्षित साधु को भी सत्तर वर्ष की दीक्षित साध्वी प्रणाम करेगी। यह पुरुष के लिए बहुत सम्मान की बात जान पड़ती है और लगता है कि इससे स्त्री को बहुत अपमानित कर दिया गया। बात उलटी है। महावीर ने यहाँ अद्‌भुत मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय दिया है। फ्रॉयड के पहले किसी आदमी ने ऐसी सूझ नहीं दिखलाई। लेकिन सूझ इतनी गहरी है कि दिखलाई नहीं पड़ती। चूँकि आक्रामक पुरुष-चित्त ही पाप में ले जा सकता है, स्त्री कभी नहीं, इसलिए महावीर ने बड़ा सुगम उपाय किया है कि स्त्री पुरुष को आदर दे। स्त्री जिस पुरुष को आदर देती है, उस पुरुष के अहंकार को कठिनाई हो जाती है उस स्त्री को पाप की ओर ले जाने में। इसलिए महावीर ने कहा कि स्त्री कितनी ही वृद्धा हो, पुरुष को आदर दे, उसके पैर छू ले, ताकि उसके अहंकार को कठिनाई हो जाय और वह स्त्री को पाप में ले जाने की कल्पना भी न कर सके। अगर ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि झुकती तो स्त्री है, किन्तु सम्मान उसे ही मिलता है, पुरुष का अनादर होता है। लेकिन यह देखना जरा मुश्किल मामला है। यह भी ध्यान रखें कि महावीर के तेरह हजार साधु थे और चालीस हजार साध्वियाँ। यह अनुपात हमेशा ऐसा ही रहा है। साध्वियाँ जितनी साध्वियाँ होती हैं, साधु उतने साधु नहीं होते। चूँकि वे किसी भी काम में पहल नहीं करतीं, इसलिए जहाँ भी होती हैं वे वहीं रुक जाती हैं। अगर स्त्री को काम-वासना में दीक्षित न किया जाय तो वह आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन कर सकती है। स्त्री को काम-वासना में भी दीक्षित करना पड़ता है, धर्म-साधना में भी दीक्षित करना पड़ता है—वह पहल लेती ही नहीं। इसलिए निर्दोष लड़कियाँ मिल जाती हैं, निर्दोष लड़के बहुत मुश्किल से होते हैं। चूँकि लड़कियाँ कभी कोई पहल नहीं दे सकतीं, इसलिए महावीर ने व्यवस्था की कि हर स्थिति में साध्वी साधु को आदर दे। इससे पुरुष के अहंकार की भी बड़ी तृप्ति हुई। साधुओं ने समझा होगा कि हमारा बड़ा सम्मान हुआ। वे आज भी यही समझ रहे हैं। लेकिन इस व्यवस्था का कारण बिलकुल मनोवैज्ञानिक था। अगर एक स्त्री आपके पैर छू ले तो आप उस स्त्री को काम की दिशा में ले जाने में एकदम असमर्थ हो जायँगे, आपके अहंकार को बड़ी बाधा होगी। आप उस सम्मान की रक्षा करना चाहेंगे। यदि इस विधान के विपरीत पुरुष ही स्त्री के पैर छूता तो बात

उलटी होती। याद रहे कि स्त्री की कामुकता उसके पूरे शरीर में व्याप्त होती है। चूँकि पुरुष की कामुकता सिर्फ काम-केन्द्र के पास होती है, इसलिए उसे सिर्फ सम्भोग से आनन्द आता है। अगर पुरुष स्त्री के पैर भी छू ले तो स्त्री में काम की सम्भावना जाग्रत हो सकती है।

महावीर की इस मनोवैज्ञानिक व्यवस्था की ऐसी व्याख्या किसी और ने नहीं की। अब तक के व्याख्याकार यही कहते रहे हैं कि महावीर की इस व्यवस्था का कारण यह है कि पुरुष की योनि ऊँची है और स्त्री की नीची, इसलिए स्त्री ही पुरुष योनि को नमस्कार करे।

महावीर ने मनुष्य के चार वर्गीकरण किए हैं—श्रावक, श्राविका; साधु, साध्वी। उनकी साधना-पद्धति श्रावक से शुरू होती है या श्राविका से। कोई सीधे ही एकदम साधु नहीं हो सकता। पहले उसे श्रावक बनना होगा। साधना, ध्यान और सामायिक श्रावकों के लिए हैं। जब वे इनसे गुजर जाएँ तब वे साधु-जीवन में प्रवेश कर सकते हैं। महावीर किसी को पहले ही साधु की दीक्षा नहीं देते। यह भी आवश्यक नहीं कि कोई साधु बने ही। श्रावक रहकर भी मोक्ष पाया जा सकता है। **सिर्फ महावीर ने ही यह कहने की हिम्मत की है। साधु होना अनिवार्य नहीं है।** मान लीजिए कि आप गहरे ध्यान में गए और आपको वस्त्र पहनना ठीक मालूम पड़ता है, तो आप वस्त्र पहनना जारी रखें। यदि वस्त्र अनावश्यक प्रतीत हों तो छोड़ दें, अन्यथा नहीं। अर्थात्—महावीर की आस्था है कि घर में रहकर ही यदि कोई ध्यानस्थ हो जाता है तो वह घर न छोड़े। अगर उसे लगता है कि घर व्यर्थ है तो वह उसे छोड़ दे।

'परम्परा से प्रामाणिक एवं निर्णीत' महावीर के जीवन का यह बौद्धिक एवं तथ्यपूर्ण विश्लेषण समाज को स्वीकृत हो, यह आवश्यक नहीं। समाज को मेरी बातें स्वीकृत हों, इसका मुझे ध्यान नहीं। समाज को स्वीकृत होने से ही यह विश्लेषण ठीक हो सकता है, ऐसी भी कोई बात नहीं। प्राथमिक रूप से जो मैं कह रहा हूँ समाज से उसकी अस्वीकृति की ही अधिक सम्भावना है, लेकिन अगर जो मैं कह रहा हूँ वह बुद्धिमत्ता पूर्ण, वैज्ञानिक एवं तथ्यगत है तो अस्वीकृति को टूटना पड़ेगा—अस्वीकृति जीत नहीं सकती। और अगर यह तथ्यपूर्ण नहीं है, अवैज्ञानिक है तो अस्वीकृति जीत जायगी। मैं इस पर ध्यान नहीं देता कि मेरी बातों को कौन स्वीकार करता है, कौन अस्वीकार। मुझे जो सत्य मालूम पड़ता है, वह मैं कह देता हूँ। अगर वह सत्य होगा तो आज नहीं, कल स्वीकार कर लिया जायगा। असत्य करोड़ों वर्षों तक चले तो भी वह असत्य ही है। सत्य बिलकुल न चल पाए तो भी वह सत्य है। असत्य स्वीकृति में जीता है, किन्तु सत्य स्वीकृति की परवा नहीं करता। वह अस्वीकृति में जी लेता है, क्योंकि उसके पास अपने पैर हैं, अपनी साँस

है, अपने प्राण हैं और वह अनन्त काल तक प्रतीक्षा कर सकता है। मुझे चिन्ता नहीं कि लोग मेरी बातों को मानें ही। जिस व्यक्ति को ऐसी चिन्ता होती है वह कभी सत्य बोल ही नहीं सकता। जैसा हमारा समाज है, उसके जीने के लिए असत्य अनिवार्य-सा हो गया है। यदि दुःख, पीड़ा, शोषण, अहंकार, द्वेष आदि से भरे हुए इस समाज को जिलाना हो तो वह असत्य पर ही जी सकता है। अगर ऐसे समाज को बदल कर प्रेम से भरे हुए एक नए समाज की स्थापना करनी हो जिसमें ईर्ष्या-द्वेष, घृणा-महत्त्वाकांक्षा आदि न हों तो फिर इसकी नींव सत्य पर कायम करनी होगी।

सभी चाहते हैं कि आनन्द मिले, लेकिन वे स्वयं को बदलना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि प्रकाश मिले, लेकिन उन्हें आँख न खोलनी पड़े। याद रहे कि महत्त्वाकांक्षी चित्त कभी भी आनन्दित नहीं हो सकता। उसे जो भी मिल जायगा उससे उसकी तृप्ति न होगी और जो नहीं मिलेगा उसके लिए वह पीड़ित रहेगा। महत्त्वाकांक्षा और आनन्द में विरोध है। प्रेम देना कोई भी नहीं चाहता, प्रेम माँगना चाहता है। यह भी ध्यान रहे कि जो आदमी प्रेम देने की कला सीख जाता है, वह कभी माँगता ही नहीं। माँगता सिर्फ वही है जो दे नहीं पाता। हमारी यही कठिनाई है कि हम हमेशा से यही चाहते रहे हैं कि आनन्द हो, शान्ति हो, प्रेम हो, लेकिन जो हम करते हैं वह इनका एकदम उलटा होता है। उससे न शान्ति हो सकती है, न प्रेम और न आनन्द। प्रत्येक व्यक्ति द्वेष में जी रहा है, ईर्ष्या में जी रहा है और चाहता है कि उसे आनन्द मिले। मगर ईर्ष्यालु चित्त कभी आनन्द नहीं पा सकता। ईर्ष्या और आनन्द परस्पर विरोधी अनुभूतियाँ हैं। उनके विरोध के प्रति सजग हो जाना ही साधना की शुरुआत है। जैसे ही कोई इस बोध को उपलब्ध हो जाता है कि ईर्ष्या से भरे हुए चित्त में आनन्द का वास नहीं हो सकता, वैसे ही क्रान्ति शुरू हो जाती है, क्योंकि विरोध दिख जाए तो फिर उसमें जीना मुश्किल है।

अन्त में एक और प्रश्न पर विचार करें। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार आसक्ति अथवा राग कर्म-बन्ध का कारण है उसी प्रकार द्वेष और घृणा भी। तब महावीर ने संसार, शरीर आदि के प्रति घृणा का भाव पैदा करके संसार त्याग का उपदेश क्यों दिया?

राग-द्वेष दोनों एक ही तरह के उपद्रव के कारण हैं। राग का ही उलटा द्वेष है—राग शीर्षासन करता हुआ द्वेष है। दोनों फाँसते हैं, दोनों बाँध लेते हैं। मित्र भी बाँधता है, शत्रु भी बाँधता है। न तो हम मित्र को भूल पाते हैं और न शत्रु को। कभी-कभी तो शत्रु के मरने से हमारा बल ही खो जाता है, क्योंकि बल उसके विरोध में बनकर आता है। लेकिन जिसे बंधन ही दुःख हो गया, वह न मित्र

बनाता है और न शत्रु। वह अपनी ही जिन्दगी को दूर खड़ा होकर देखने लगता है, खुद द्रष्टा हो जाता है, राग-द्वेष के बाहर हो जाता है। कर्ता हमेशा राग-द्वेष से घिरा होता है, अकर्ता साक्षी बन जाता है।

महावीर संसार या शरीर के प्रति द्वेष नहीं सिखाते। लेकिन जिन्होंने महावीर को नहीं समझा, वे जरूर ऐसी ही शिक्षा देते हैं। शरीर से ऐसा प्रेम करनेवाला आदमी मुश्किल से पैदा हुआ होगा। संसार के प्रति न तो द्वेष सिखाते हैं और न राग करने की सलाह देते हैं, क्योंकि वे तो कहते ही यह हैं कि द्वेष बाँध लेता है, प्रेम बाँध लेता है। वे द्वेष सिखा ही नहीं सकते। वे सिखाते हैं कि अपने द्वेष, अपने राग, अपनी घृणा अपने प्रेम—इन सबके प्रति जाग जाओ। इन्हें जागकर देख लो। जिस दिन इन्हें पूरी तरह देख लोगे उस दिन पाओगे कि राग-विराग, मित्रता-शत्रुता एक ही चीज के दो छोर हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। महावीर बाँएँ जाना नहीं सिखा सकते क्योंकि वे जानते हैं कि जो बाएँ जायगा, उसे दाएँ जाना पड़ेगा। वे एक ही बात सिखा सकते हैं कि न तुम बाएँ जाओ, न दाएँ—ठहर जाओ, ब्रीच में खड़े हो जाओ। न द्वेष रहे और न घृणा, न राग और न विराग। ध्यातव्य है कि महावीर विरागी नहीं हैं। वस्तुतः जो विरागी उनके पीछे पड़े हुए हैं, वे गलती में पड़े हुए हैं। महावीर को उन विरागियों से कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि विरागी हुए कि उन्होंने राग अर्जित करना शुरू कर दिया। महावीर कहते हैं कि 'प्रेम, द्वेष दोनों को देख लो। दोनों को पहचान लो। फिर तुम अपने में आ जाओगे। तीन दिशाएँ हैं।' एक प्रेम की ओर ले जाती है, दूसरी घृणा की ओर। जो इनके द्वन्द्वों से बच जाता है वह त्रिकोण के तीसरे बिन्दु पर आ जाता है जहाँ जाना-आना नहीं है, सिर्फ ठहर जाना है। वहाँ प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। वहाँ ठहर कर हम देख पाते हैं। अगर राग और द्वेष को देखना है तो किसी की ओर न जाएँ। ठहरकर देख लें कि राग क्या है, द्वेष क्या है, क्रोध क्या है।

यह केवल ध्यान की भूमिका है। जैसे ही कोई स्वयं में ठहर जाता है वैसे ही वह उस द्वार पर पहुँच जाता है जहाँ से ज्ञान की शुरुआत होती है। लेकिन स्वयं में खड़ा होना पहला बिन्दु है। फिर वहीं से यात्रा भीतर की ओर हो सकती है। राग-द्वेष में होने का अर्थ है स्वयं के बाहर होना, कहीं और होना। जो आदमी धन इकट्ठा करने में लगा है उसका ध्यान धन पर होगा और जो धन के त्याग में लगा है उसका भी ध्यान धन पर। धन पर ही दृष्टि होगी उन दोनों की।

———

अष्टम अध्याय

निगोद और अन्तर्यात्रा

सिद्धाणं बुद्धाणं पार-गयाणं परंपर-गयाणं ।
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्व-सिद्धाणं ।।[१]

——'सिद्धाणं बुद्धाणं'——सूत्र (सिद्धाणं-थुई)

१

निगोद की धारणा महावीर की मौलिक धारणा है। इसका अर्थ है–बन्धन में प्रसुप्त आत्माओं का लोक। निगोद प्रथम है, मोक्ष अन्त में और संसार मध्य में। निगोद से उठकर आत्मा संसार में आती है, संसार से उठकर मोक्ष में। मोक्ष है मुक्ति; निगोद है पूर्ण अमुक्ति जहाँ बिलकुल अन्धकार है, जहाँ गहरी निद्रा है—यानी जहाँ इसका भी होश नहीं है कि बन्धन है। निगोद मूर्छित आत्माओं का वह लोक है जहाँ से आत्माएँ धीरे-धीरे उठती हैं और इस मध्यम लोक में आती हैं। संसार है स्वप्न, निगोद है निद्रा और मोक्ष है जागृति। अब प्रश्न उठता है कि आत्माएँ कहाँ से आती हैं? महावीर यह नहीं मानते कि आत्माओं का सृजन होता है। आत्माएँ सदा से हैं। परन्तु वे आती कहाँ से हैं? महावीर कहते हैं कि इस जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है जो अनन्त न हो। कोई भी चीज संख्या में हो नहीं सकती, क्योंकि अगर चीजें संख्या में हों तो फिर जगत् असीम नहीं हो सकेगा—और जगत् सीमित नहीं है। निगोद का अर्थ है—अनन्त आत्माएँ जहाँ प्रसुप्त हैं और वह भी अनन्त काल से। आत्माएँ एक-एककर उठती हैं और संसार में प्रवेश करती हैं, फिर संसार से मुक्त होती चली जाती हैं और दूसरे लोक में पहुँचती हैं जहाँ वे परम चैतन्य को उपलब्ध हो जाती हैं। प्रश्न है कि क्या कभी ऐसा भी होगा कि सभी आत्माएँ हो, जायँगी? नहीं ऐसा कभी होने को नहीं, कारण कि आत्माएँ अनन्त हैं। 'अनन्त' शब्द हमारे खयाल में नहीं आता, क्योंकि हमारा मस्तिष्क अनन्त की धारणा को नहीं पकड़ पाता। अनन्त का मतलब है जहाँ संख्या होती ही नहीं। लेकिन असंख्य का मतलब अनन्त नहीं होता।

---

१. सिद्धिपद को प्राप्त किए हुए, सर्वज्ञ, संसार का पार प्राप्त किए हुए, परम्परा से सिद्ध बने हुए, और लोक के अग्रभाग पर गए हुए, ऐसे सर्वसिद्ध भगवन्तों के लिए सदा नमस्कार हो।

तो निगोद का अर्थ है मूर्छित आत्माओं का लोक। संसार है अर्ध मूर्छित आत्माओं का लोक; मोक्ष है परम अमूर्छित आत्माओं का लोक। चूँकि हमारा मन संख्याओं में ही सोचता है, इसलिए निरन्तर यह सवाल उठता है कि अमूर्छित आत्माएँ कितनी हैं और कितनी मुक्त हो गई हैं ? यह न भूलें कि आत्माएँ अनन्त काल से मुक्त हो रही हैं और अनन्त आत्माएँ मुक्त हो चुकी हैं। मजे की बात तो यह है कि अनन्त से कितना ही निकालो, पीछे अनन्त ही शेष रह जाता है। गणित की बड़ी पहेलियों में से यह एक है कि अनन्त से हम कुछ भी निकालें, अनन्त ही शेष रहता है। इसलिए निगोद आज भी उतने का उतना ही बना रहेगा। आत्माएँ मुक्त होती चली जायँगी, लेकिन मोक्ष में भीड़ नहीं बढ़ेगी। सामान्य गणित इस रहस्य को सुलझा नहीं सकता। किन्तु गणित की कई बातें आज गलत सिद्ध हो चुकी हैं। उदाहरण के लिए नयी ज्योमेट्री की इस धारणा को लें कि सीधी रेखा होती ही नहीं। चूँकि जमीन गोल है, इसलिए कितनी सीधी रेखा क्यों न हो, यदि तुम उसको दोनों तरफ बढ़ाते चले जाओ तो अन्त में वह वृत्त बन जायगी। सभी सीधी दीखनेवाली रेखाएँ वृत्त का हिस्सा हैं और वृत्त का हिस्सा सीधा नहीं हो सकता। इसलिए जगत् में कोई रेखा सीधी नहीं है। यह भी हमारे खयाल में आना मुश्किल है। साधारण गणित कहता है कि बिन्दु वह है जिसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं है, मगर ज्योमेट्री कहती है कि जिसमें लम्बाई-चौड़ाई न हो वह तो हो ही नहीं सकता, इसलिए कोई बिन्दु नहीं है--सभी रेखाओं के खंड हैं, छोटे खंड। रेखा है बड़े वृत्त का खंड और बिन्दु है रेखा का खंड। सभी बिन्दुओं में लम्बाई-चौड़ाई होती है। संख्या बिलकुल ही झूठी बात है, आदमी की ईजाद है। यहाँ कोई भी ऐसी चीज नहीं जिसकी संख्या हो। प्रत्येक चीज असंख्य है और अगर हम असंख्य का खयाल करें तो गणित बेकार हो जाता है। वह बना है काम-चलाऊ हिसाब से संख्या से। इस काम-चलाऊ गणित से अगर हम जगत् के सत्य को जानने जायँगे तो हम मुश्किल में पड़ जायँगे। महावीर की बात गणित से उलटी है। वस्तुतः जो भी सत्य के खोजी हैं उनकी बातें गणित से उलटी होंगी। इसलिए उपनिषद् भी कहती है[१] कि वह पूर्ण ऐसा है कि उससे अगर तुम पूर्ण को भी बाहर निकाल लो तो पूर्ण ही शेष रह जाता है। उसमें जरा भी कमी नहीं पड़ती। हम जब भी कुछ निकालते हैं तब पीछे कमी पड़ जाती है, क्योंकि हमने सीमित से ही कुछ निकाला है सदा। अगर हमने असीमित से भी कुछ निकाला होता तो हमें पता चलता। असीमित का हमें कुछ भी अनुभव नहीं।

---

१. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
—ईशावास्योपनिषद्, १.

इसलिए निगोद अनन्त है, उसमें कभी कमी नहीं पड़ती। मोक्ष अनन्त है, वहाँ कभी भीड़ नहीं होती। दोनों के बीच का संसार भी अनन्त है, क्योंकि **दो अनन्तों को जोड़नेवाली चीज अनन्त ही हो सकती है।** दो अनन्तों का जो सेतु बनता है, वह सीमित कैसे हो सकता है? अनन्तों को अनन्त ही जोड़ सकता है।

और यह भी स्मरण रहे कि **निगोद से आत्मा सीधे मोक्ष तक नहीं पहुँच सकती।** मूर्छित आत्मा को अमूर्छा के रास्तों से गुजरना ही पड़ता है। जब आप निद्रा से जागते हैं तो बिलकुल जाग नहीं जाते; बीच में तन्द्रा का एक काल है, जिससे आप गुजरते हैं। सोने और जागने के बीच तन्द्रा का एक अल्पाधिक काल होगा ही, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, जब आप न तो जाग गए होते हैं और न सोए हुए। सोने की ओर भी झुकाव होता है और जागने की ओर भी। निगोद से सीधे कोई मोक्ष में नहीं जा सकता। संसार से गुजरना ही पड़ता है।

यह भी संभव नहीं कि मुक्त आत्माएँ पुनः संसार को लौट आएँ। निगोद से संसार और संसार से मोक्ष की यात्रा जल की यात्रा की तरह नहीं है। जल भाप बनता है और फिर बादल। बादल बरस कर समुद्र में पुनः आ मिलता है। यह न भूलें कि पानी, भाप और समुद्र तीन चीजें नहीं हैं। जल का चक्र एक ही चीज का यांत्रिक चक्र है। पानी के बीच से कोई बूँद मुक्त होकर पानी के बाहर नहीं हो पाती। चक्र घूमता रहता है। जहाँ तक मोक्ष का सम्बन्ध है, वहाँ से लौटना मुश्किल है। हाँ, संसार में कोई चक्कर लगा सकता है। एक मनुष्य हजार बार मनुष्य होकर चक्कर लगा सकता है, क्योंकि वह सोया हुआ है। अगर वह जाग जाय तो चक्कर लगाना बंद कर दे, वह बाहर हो जाय चक्कर के। चूँकि मोक्ष समस्त चक्कर के बाहर हो जाने का नाम है, इसलिए उससे लौटना असम्भव है। पदार्थ का जगत् निगोद में है। हम कह सकते हैं कि पानी गरम करेंगे तो भाप बनेगा ही। ऐसा जल नहीं देखा गया जो कहे कि मैं भाप नहीं बनूँगा। उसके पास कोई चेतना नहीं है। हम पानी के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि वह भाप बनेगा ही। लेकिन मनुष्य के सम्बन्ध में ऐसे निष्कर्ष निकाले नहीं जा सकते और न कुछ पूर्व सूचनाएँ ही दी जा सकती हैं। यह जरूरी नहीं कि जिसे हम प्रेम दें वह हमें भी प्रेम दे। मनुष्यों के सम्बन्ध में, उनकी प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, कारण कि उनमें चेतना है। पदार्थ की सारी व्यवस्था यांत्रिक है, मनुष्यों की नहीं। पदार्थों के नियम हैं—यथा, पानी को गर्म करते जाओ तो एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी कि पानी भाप बन जायगा। यह तिब्बत में करो या अफ्रीका में। वह भाप बनेगा ही। लेकिन जैसे-जैसे हम ऊपर जाते हैं, वैसे-वैसे हमारी यांत्रिकता टूटती चली जाती है और आदमी में आकर यह बहुत शिथिल हो जाती है। आदमी के सम्बन्ध में पक्का नहीं कहा जा सकता कि वह क्या करेगा? तरह-तरह के लोग हैं और उनकी तरह-तरह की चेतना है।

मोक्ष में तो 'प्रेडिक्शन' (भविष्यवाणी) बिलकुल ही नहीं हो सकती। वहाँ तो आत्माएँ पूर्ण मुक्त हैं।

मनुष्य का पूर्ण विज्ञान बनाना मुश्किल है। किसी को हम गाली दें तो साधारणतः वह क्रोध करेगा, लेकिन कोई महावीर भी मिल सकता है जो गाली सुनकर भी चुप चाप खड़ा रहे और क्रोध न करे। आदमी जितना ही चेतन होता जायगा वह उतना ही 'प्रेडिक्शन' के बाहर होगा। जितना नीचे उतरेंगे, चक्कर उतना ही सुनिश्चित है। जितना ऊपर उठेंगे, चक्कर उतना ही शिथिल है। पूर्णतया ऊपर उठ जाने पर चक्कर नहीं रह जाता—सिर्फ आप रह जाते हैं, कोई दबाव और दमन नहीं होता। यही मुक्ति और स्वतंत्रता का अर्थ है। बंधन से मोक्ष की ओर जो यात्रा है, वह अचेतन से चेतन की ओर यात्रा है।

२

मैंने कहा है कि महावीर की आत्मा मुक्त होकर भी वापस आ गई थी। क्या मुक्तात्माएँ घूम-फिरकर फिर निगोद में नहीं पहुँच जातीं ?

महायान में कहा गया है कि बुद्ध का निर्वाण हुआ और वे मोक्ष के द्वार पर पहुँच गए। जब द्वारपाल ने उनका स्वागत किया और भीतर चलने को कहा तब बुद्ध ने जवाब दिया : 'जब तक पृथ्वी पर एक व्यक्ति भी अमुक्त है तब तक मैं भीतर कैसे जाऊँ ? अशोभन है यह ! अभी पृथ्वी पर बहुत लोग बँधे हैं, दुखी हैं।' इतना कह-कर बुद्ध आनन्द में प्रवेश कर गए।

यह कहानी महायान बौद्धों में प्रचलित है। इसका अर्थ यह है कि मुक्त हो जाना ही मोक्ष में प्रवेश करना नहीं है। मुक्त होना मोक्ष का प्रवेश-द्वार है। मुक्त होकर ही कोई व्यक्ति मोक्ष में प्रवेश पा सकता है, अन्यथा नहीं। लेकिन मुक्त हो जाना ही प्रवेश करना नहीं है। द्वार पर पहुँचकर भी कोई वापस लौट सकता है। मैंने कहा था कि एक बार वापस लौटने का उपाय भी है। जो उपलब्ध हुआ है वह अगर अभिव्यक्त नहीं हो पाया और जो मिला है वह अगर बाँटा न जा सका तो जीवन में एक बार फिर वापस लौटने की सम्भावना रह जाती है। पैड्ल के रुक जाने पर भी साइकिल थोड़ी दूर चलती जाती है। ठीक वैसे ही अगर वासना से मुक्ति हो जाय तो थोड़ी देर जीवन चल जाता है। पैड्ल चलाना बंद हो गया है तो व्यक्ति उतर सकता है, लेकिन न उतरना चाहे तो थोड़ी देर चल सकता है—बहुत देर नहीं। मुक्त व्यक्ति चाहे तो एक जीवन के लिए वह लौट आ सकता है। ऐसे जो व्यक्ति लौटते हैं उन्हें ही मैं तीर्थंकर, अवतार, पैगम्बर, ईश्वरपुत्र आदि कहता हूँ। वे मुक्त होकर भी सिर्फ खबर देने या जो फलित हुआ है उसे बाँटने और बताने के लिए लौट आते हैं। हम भोगने आते हैं और वे बाँटने।

सभी मुक्त व्यक्ति रुकते हों, ऐसा भी नहीं है। लेकिन जो व्यक्ति रुक जाते हैं वे हमें ईश्वरीय दूत जैसे लगते हैं, क्योंकि वे हमारे बीच से नहीं आते। वे उस दशा से लौटते हैं जहाँ से साधारणतः कोई भी नहीं लौटता। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में अलग-अलग धर्मों में अलग-अलग धारणाएँ प्रचलित हैं। हिन्दू उन्हें अवतार कहते हैं और मानते हैं कि उनके रूप में ईश्वर स्वयं उतर रहा है—वहाँ से उतर रहा है जहाँ हम जाना चाहते हैं। स्वभावतः अवतरण की धारणा बनाने-वालों को इसका खयाल न रहा कि वह व्यक्ति भी यात्रा करके ऊपर गया होगा, तभी तो वह वापस लौटा है। इस आधे हिस्से पर उनकी दृष्टि नहीं गई। जैन धर्मा-नुयायियों ने अवतरण की बात ही नहीं की; उन्होंने तीर्थंकर कहा जिसका अर्थ है वह व्यक्ति जिसके मार्ग पर चलकर कोई पार जा सकता है। लेकिन पार उतरने का इशारा वही दे सकता है जो पार तक गया होगा। तीर्थंकर से उस व्यक्ति का बोध होता है जो उस पार को छूकर लौट आता है। मैं मानता हूँ और यही उचित भी भी है कि पार गया हुआ व्यक्ति कम-से-कम एक बार लौटकर खबर दे और बताये कि उसने क्या देखा और पायाउस पार। जैनों ने अवतर की बात नहीं की, क्योंकि ईश्वर की धारणा उन्होंने स्वीकार नहीं की। इसी प्रकार ईसाइयों ने न तो तीर्थंकर की धारणा की और न अवतार की। उन मुक्तात्माओं के लिए जो लौट आए हैं वे 'ईश्वरपुत्र' का प्रयोग करते हैं। उनका खयाल है कि ईश्वर के सम्बन्ध में जो खबर देता है वह ईश्वर के उतना ही निकट होगा जितना बाप के निकट बेटा होता है। बेटा बाप के प्राणों का हिस्सा होता है। ईश्वर पुत्र ईश्वर की खबर तभी दे सकता है जब वह सचमुच ईश्वर का बेटा हो, जब ईश्वर का ही खून बहता हो उसकी धमनियों में। जगत् में इस तरह की अन्य धाराएँ भी प्रचलित हैं।

तो, मैं कह रहा था कि मुक्त व्यक्ति एक बार लौट सकता है। महावीर के अब लौटने का सवाल नहीं है। महावीर लौट चुके हैं। लेकिन बुद्ध के लौटने का सवाल अभी बाकी है। मैत्रेय के नाम से भविष्य में उनका एक अवतरण होगा। बुद्ध को सत्य की जो उपलब्धि हुई थी वह इसी जीवन में हुई थी, इसके पहले जीवन में नहीं। उन्होंने जो पाया था वह इसी जीवन में पाया था। इसलिए उनके आने की उम्मीद है। जीजस भी आएँगे। थियोसॉफिस्टों ने मैत्रेय को लाने के लिए भारी प्रयास किया था। वह प्रयास अपने किस्म का अनूठा था। कुछ लोगों ने प्राणों को संकट में डालकर आमंत्रण भेजा और कृष्णमूर्ति को तैयार किया कि मैत्रेय की आत्मा उनमें प्रविष्ट हो जाय। कृष्णमूर्ति को तैयारी में बीस-पच्चीस वर्ष लग गए। उनकी जैसी तैयारी हुई, दुनिया में वैसी किसी आदमी की शायद ही हुई हो। अत्यन्त गूढ़ साधनाओं से कृष्णमूर्ति को गुजारा गया। ठीक वक्त पर तैयारियाँ पूरी हुईं। सारी दुनिया से कोई छह हजार लोग उस स्थान पर

एकत्र हुए जहाँ कृष्णमूर्ति में मैत्रेय की आत्मा के प्रविष्ट होने की घटना घटनेवाली थी। लेकिन शायद भूल-चूक हो गई और वह घटना न घटी। कृष्णमूर्ति ने गुरु होने से इनकार कर दिया, क्योंकि वे अत्यन्त ईमानदार आदमी हैं। ऐसा अनुभव किया गया है कि मैत्रेय के उतरने में बड़ी बाधा है। कोई शरीर इस योग्य नहीं मिल रहा है कि मैत्रेय उतर जायँ और कोई गर्भ ऐसा निर्मित नहीं हो रहा है कि मैत्रेय के लिए वह अवसर बन जाय। हो सकता है कि दो-चार हजार वर्षों तक लगातार प्रतीक्षा करनी पड़े। हो सकता है कि प्रतीक्षा समाप्त हो जाय और बस चेतना विदा हो जाय। कृष्णमूर्ति के लिए किया गया प्रयोग असफल हो गया और अब ऐसा कोई प्रयोग पृथ्वी पर नहीं किया जा रहा है।

उपलब्धि के बाद अभिव्यक्ति का मौका अत्यन्त जरूरी है, इसलिए मैंने कहा कि महावीर की उपलब्धि पिछले जन्म की उपलब्धि है। इस जीवन में उन्होंने उसे बाँटा है, इसलिए अब उनकी चेतना के लौटने का सवाल नहीं है। फिर हमें यह अजीब सा लगता है कि यद्यपि बुद्ध को मरे पच्चीस सौ वर्ष बीत चुके, फिर भी उनका अवतरण न हुआ। जीजस भी नहीं आए। समय की हमारी जो धारणा है उसकी वजह से हमको ऐसी कठिनाई होती है। सपनों में सैकड़ों वर्ष बीत जाते हैं, परन्तु जब नींद टूटती है तब आप पाते हैं कि घड़ी में अभी मुश्किल से एक मिनट हुआ है। जागने के समय की धारणा अलग है, सोने के समय की गति अलग है। मुक्त व्यक्ति के लिए समय की गति का कोई अर्थ नहीं रह जाता—वहाँ समय की गति है ही नहीं, केवल हमारे तल पर समय की गति है। केन्द्र पर परिधि से खींची गई सभी रेखाएँ मिल जाती हैं और जैसे-जैसे पास आती जाती हैं वैसे-वैसे मिलती जाती हैं। जितना हम जीवन-केन्द्र से दूर हैं, उतना ही समय बड़ा है और जितना हम जीवन-केन्द्र के करीब आते हैं, उतना ही समय छोटा होता जाता है। इसलिए शायद आपने कभी खयाल नहीं किया होगा कि दुख में समय बहुत लम्बा होता है और सुख में बहुत छोटा। सुख भीतर के कुछ निकट है, दुख कुछ दूर। जाग्रतावस्था में हम समय की परिधि पर खड़े होते हैं, सोने में हम अपने भीतर आ जाते हैं। स्वप्न भीतर की ओर है, जाग्रति बाहर की ओर। स्वप्न में हम अपने केन्द्र के ज्यादा निकट होते हैं, जागने में ज्यादा दूर। व्यक्ति के केन्द्र पर पहुँचने की दशा का ही नाम समाधि है। समाधि में समय एकदम मिट जाता है—समय होता ही नहीं। सब फर्क परिधि पर है, केन्द्र पर नहीं। वहाँ परिधि से खींच गई सभी रेखाएँ संयुक्त हो जाती हैं।

दूसरी बात आपने पूछी है कि जब प्रकृति में सभी चीजें चक्रीय गति से चलती हैं तब मुक्तात्माएँ इस नियम का अपवाद कैसे हो सकती हैं? वे भी निगोद से मोक्ष तक जाती होंगी और मोक्ष से लौटकर निगोद में जा पहुँचती होंगी। जहाँ सभी कुछ

चक्रवत् घूमता हो, वहाँ सिर्फ आत्मा की गति को चक्रीय न माना जाय, यह नियम का खंडन मालूम पड़ता है। बीज वृक्ष बनता है, फिर वृक्ष से बीज आ जाते हैं। फिर बीज वृक्ष बनता है, फिर वृक्ष में बीज आ जाते हैं। किसी वैज्ञानिक से पूछा गया था कि मुर्गी और अंडे में कौन पहले है। वैज्ञानिक ने उत्तर दिया कि पहले-पीछे का तो सवाल ही नहीं है, कारण कि मुर्गी और अंडा दो चीजें नहीं हैं। तब प्रश्न उठता है कि मुर्गी है क्या? उत्तर है कि मुर्गी है अंडे का रास्ता या यों कहें कि अंडा है मुर्गी का रास्ता, मुर्गी पैदा करने के लिए। घड़ी के काँटे की तरह सभी चीजें घूम रही हैं। इसलिए आत्मा इस नियम का अपवाद कैसे हो सकती है? अपवाद हो सकती है। वस्तुतः मुक्त आत्मा एक अनूठी घटना है, सामान्य घटना नहीं। इसलिए सामान्य नियम लागू नहीं हो सकते। असल में जो आत्माएँ चक्र के बाहर कूद जाती हैं वे ही मुक्तात्मा कहलाती हैं। नहीं तो उन्हें मुक्त कहने का कोई मतलब नहीं। संसार का मतलब है—जो घूम रहा है, घूमता ही रहता है। मुक्त का अर्थ है जो इस घूमने के बाहर छलांग लगा गया है। मुक्त को अगर हम फिर चक्रीय गति में रख लेते हैं तो मुक्ति व्यर्थ हो गई। अगर आत्मा मोक्ष से निगोद को वापस लौट आती है तो वे सब-के-सब पागल हैं जो मुक्त होने की कोशिश करते हैं। अगर सबको घूमते ही रहना है तो मोक्ष और मुक्ति की बात व्यर्थ हो जाती है। हाँ, जैसा मैंने कहा, एक बार मुक्तात्मा भी अपनी इच्छा से उस चक्र में लौट आ सकती है। परन्तु चक्र पर बैठी हुई ऐसी आत्मा चक्र के साथ घूमती नहीं। अब उसके लिए घूमने का कोई मतलब नहीं। वह हमारे बाजार में खड़ी होगी भी तो उसे बाजार का हिस्सा होना नहीं पड़ता। मुक्त व्यक्ति हमारे बीच भी खड़ा होगा, लेकिन ठीक हमारे बीच नहीं होगा। वह होगा हमारे बीच और हम से बिलकुल अलग। कहीं उससे हमारा मेल होगा और कहीं नहीं। वह कुछ और ही तरह का आदमी होगा।

आवागमन से छूटने की जो कामना है वह उन लोगों को उठी है जिन्हें इसे घूमते हुए चक्र की व्यर्थता दिखाई पड़ गई। उन्होंने देखा कि जन्मों-जन्मों से एक-सा घूमना हो रहा है; हम घूमते चले जा रहे हैं और इससे छलाँग लगाने का खयाल नहीं आता। छलाँग लग सकती है। अगर चाँद पर जाना है तो जमीन की कशिश से छूटना ही होगा। यदि जीवन के बाहर जाना है तो किसी-न-किसी रूप में वासना के बाहर निकलना होगा। वासना भी एक प्रकार की कशिश ही है जो हमें ऊपर उठने नहीं देती। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर जो तृष्णा और वासना है वह हमें अस्थिर रखती है और कहती है—वह लाओ, वह पाओ, वह बन जाओ। वह चक्र के भीतर इशारे करती है और कहती है—धन कमाओ, यश कमाओ, ज्यादा उम्र बनाओ। जो व्यक्ति एक क्षण भी वासना के बाहर हो गया वह अन्तरिक्ष में यात्रा कर गया, उस अन्तरिक्ष में जो हमारे भीतर है। वह जीवन के चक्र के बाहर छलाँग लगा

गया, क्योंकि उसने कहा कि न मुझे यश चाहिए और न धन, न उम्र, न संतान। मैं कुछ होना नहीं चाहता। वासना के चक्र से बाहर होते ही आप यह देखकर हैरान हो जायँगे कि जिसे आपने अनन्त जन्मों से पाने की आकांक्षा की थी वह आपके पास ही था, वह मिला ही हुआ था। अपनी ओर देखने भर की जरूरत थी। लेकिन जैसे अन्तरिक्ष-यात्रा तब तक नहीं हो सकती जब तक कि हम जमीन की कशिश से छूट न जायँ, वैसे ही अन्तर्यात्रा भी तब तक नहीं हो सकती जब तक हम वासना की कशिश से मुक्त न हो जायँ। और वासना की कशिश धरती की कशिश से ज्यादा मजबूत है, क्योंकि जमीन की जो कशिश है वह खींचने की एक जड़ शक्ति है और वासना की जो कशिश है वह एक सजग चेतन-शक्ति है। इस चक्र के बाहर जिसे भी छलाँग लगानी हो, उसे वासना के बाहर होना पड़ता है। साक्षी का भाव वासना के बाहर ले जाता है। जैसे ही कोई व्यक्ति साक्षी हुआ कि वह वासना के बाहर चला गया।

लेकिन यह न भूलें कि जीवन में साक्षी होना बहुत कठिन है। हम नाटक, फिल्म तक में साक्षी नहीं होते। कई बार तो ऐसा हो जाता है कि बाहर की जिन्दगी हमें उतना ज्यादा नहीं पकड़ती जितनी चित्र की कहानी पकड़ लेती है। अगर हमें स्मरण आ सके कि हम भी एक लम्बा नाटक खेल रहे हैं तो शायद हम भी साक्षी हो सकें। बहुत गहरे में जीवन और फिल्म में ज्यादा फर्क नहीं है। हमारा शरीर उसी तरह विद्युत्-कणों से बना है जिस तरह फिल्म के परदे पर दिखाई पड़ने वाला शरीर विद्युत्-कणों से बना है। मैं यह नहीं कहता कि आप नाटक न निभाएँ। सचमुच जो इस नाटक को जितना अच्छी तरह निभा लेता है वह उतनी ही कर्त्तव्यनिष्ठ समझा जाता है। वस्तुतः नाटक निभाने के लिए ही है और मजेदार भी होता है। बस, एक बात न भूलें, चाहे और सब क्यों न भूल जायँ। वह यह है कि यह जीवन सिर्फ नाटक है। स्वामी रामतीर्थ-जैसे लोगों को इस रहस्य का पता था। तभी तो रामतीर्थ हमेशा अन्य पुरुष ('थर्ड पर्सन') में ही बोलते थे। जब उन्हें गाली पड़ती तो वे हँसते और कहते—देखो! राम को कैसी पड़ी? राम कैसी मुश्किल में फँसे? आ गया न मजा?

यह खयाल कि मैं कहीं और हूँ, अलग हूँ, सारे खेल से कहीं दूर हूँ, साक्षी बना देता है और वासना की दौड़ टूट जाती है। खेल फिर भी चलता है, क्योंकि आप अकेले खिलाड़ी नहीं। जहाँ बुद्धिमत्ता आती है वहाँ जगत् माया से—नाटक से—अलग नहीं हो जाता। वहाँ नाटक और जगत् एक ही हो जाते हैं। जिस दिन साक्षी जीवन से अलग खड़ा हो जाता है उसी दिन वह दौड़ के बाहर हो जाता है।

महावीर की साधना मौलिक रूप से साक्षी की साधना है। सभी साधनाएँ मौलिक रूप से साक्षी की ही साधनाएँ हैं कि हम किस भाँति देखनेवाले हो जायँ, न तो भोगने वाले रह जायँ और न करने वाले। सिर्फ साक्षी रह जायँ।

एपिक्टेटस एक अद्भुत व्यक्ति हुआ है। बीमारी, दुख और चिन्ता में भी लोग उसे वैसा ही पाते जैसा वह सुखी और शान्त होने पर रहता। लोगों ने उसमें कोई फर्क नहीं देखा कभी भी। जब वह बूढ़ा हुआ तो लोगों ने कहा—एपिक्टेटस, अब तो मौत करीब आ रही है और तुम बूढ़े हो गए हो। उसने उत्तर दिया—मौत आती है तो आए, हम उसे भी देखेंगे। जब सभी चीजों को देखने की ताकत आ गई तब मौत को भी देखने की ताकत आ गई : जो जिन्दगी को नहीं देख पाते वे ही मौत को देख सकने में असमर्थ होते हैं। जो जिन्दगी को देख लेता है, वह मौत को भी देख लेता है। कहा जाता है कि मृत्यु के पहले एपिक्टेटस ने अपने शिष्यों को कह रखा था कि जब मैं मरूँ तब कोई मुझे रोकर बिदा न करे, क्योंकि रोकर हम उसको बिदा करते हैं जो जानता नहीं था। मुझे तुम हँसकर बिदा करना, क्योंकि मैं जानता हूँ मौत क्या है और यह भी कि मैं मर नहीं रहा हूँ। मैंने देखना सीख लिया है। वस्तुतः जिस स्थिति को मैंने देखना सीखा, उस स्थिति से मैं तत्काल बाहर हो गया। यह मेरे जीवन भर का अनुभव है कि देखो और बाहर हो जाओ।

मगर हम देख नहीं पाते। भारत में जिसे हम 'दर्शन' कहते हैं, वह पश्चिम का दर्शन नहीं है। भारत का दर्शन है देखने की कला—देख लो और बाहर हो जाओ। सोचने का सवाल ही नहीं है यहाँ। धर्म का विज्ञान दर्शन बन जाने का ही विज्ञान है और सारे शास्त्रों का सार है। और इस सार का सम्बन्ध इस बात से है कि खड़े हो जाओ, दौड़ो मत—देखो, डूबो मत। कितनी ही भयंकर आग क्यों न लगे, अगर मैं खड़ा ही रहूँ और देखता ही रहूँ तो आग सदा बाहर रहेगी, क्योंकि देखनेवाला तो मैं पीछे ही छूट जाऊँगा। आग करीब आ सकती है, शरीर में लग सकती है, लेकिन अगर मैं देखता ही गया तो मैं छूट जाऊँगा बाहर। एक बार कोई खड़ा हो गया तो वहाँ से लौटने का सवाल ही नहीं है। मगर चूँकि हम दौड़ रहे है, इसलिए हम लौटेंगे ही। बहुत बार लौट चुके हैं, लौटते रहेंगे। खड़ा हो जाना सूत्र है, छाया में ठहर जाना सूत्र है। हम सब धूप में दौड़ रहे हैं। वासना और तृष्णा की गहरी धूप है। चूंकि हम दौड़ रहे हैं, इसलिए चक्र के बाहर नहीं हो सकते।

३

कहा जाता है कि भगवान महावीर ने इन्द्र को स्पष्ट कहा कि मुझे स्वयं कर्मों से युद्ध करना है, फिर भी इन्द्र ने एक देवता को उनकी देख-रेख के लिए नियुक्त कर दिया। प्रश्न है कि क्या इस घटना में कोई औचित्य है?

इसमें दो बातें समझने योग्य हैं। एक तो कर्मों से युद्ध और दूसरा अज्ञान से युद्ध। महावीर इस बात के लिए तैयार न थे कि कोई उनके संघर्ष में सहयोगी बने। उन्हें देवताओं के सहयोग की भी जरूरत न थी। उनकी दृष्टि यह थी कि खोज में

कोई संगी-साथी नहीं हो सकता। खोज वही कर सकता है जिसमें नितान्त अकेले होने का साहस है। आत्मिक खोज की दिशा में अकेले होने की शक्ति सबसे कीमती बात है। अकेले के आग्रह में बड़ी गहरी बातें हैं। पहली बात यह है कि जब हम दूसरों का साथ माँगते हैं तभी हम कमजोर हो जाते हैं। असल में साथ माँगना ही कमजोरी है। वह हमारा कमजोर चित्त ही है जो कहता है कि साथ चाहिए। कमजोर चित्त से सत्य की खोज नहीं हो सकती। पूरी तरह जो अकेला हो जाता है, सारा जगत् उसे साथ देने को उत्सुक हो जाता है। कहानी का दूसरा मतलब है कि खुद देवता भी उस व्यक्ति को सहारा देने के लिए उत्सुक हो जाते हैं जो अकेला खड़ा हो जाता है। इसके विपरीत जो साथ माँगता है उसे साथ मिलता नहीं—नाम मात्रके साथी मिल जाते हैं। जो मिले हुए साथ को भी इनकार कर देता है, उसके लिए सारे जगत् की शुभ शक्तियाँ साथ देने को आतुर हो जाती हैं। महावीर का पूर्णतया अकेले खड़ा हो जाना और मन के किसी भी परत पर किसी तरह के साथ की कोई आकांक्षा न रखना कोई साधारण घटना न थी। ऐसा व्यक्ति ही सचमुच मुक्त होता है, क्योंकि साथ की इच्छा ही हमें बाँधती है, वही गहरे में हमारा बंधन है। समाज को छोड़कर भागना बहुत आसान है, लेकिन समाज की इच्छा से मुक्त हो जाना बहुत कठिन है। आदमी अकेला नहीं होना चाहता। अकेले में वह बहुत भयभीत होता है, यद्यपि सच्चाई यह है कि जब सब हैं तब भी हम अकेले ही होते हैं। कौन साथ है किसके? लोग आस-पास हो सकते हैं, निकट हो सकते हैं, लेकिन कोई साथ कैसे हो सकता है?

हमारी यात्राएँ अकेली हैं। पति-पत्नी, मित्र-मित्र, गुरु-शिष्य साथ का एक भ्रम पैदा कर लेते हैं। आदमी इसी भ्रम में है कि कोई मेरे साथ है—मैं अकेला नहीं हूँ। लेकिन कौन साथ है किसके? मैं मरूँगा तो बस, मैं मरूँगा; मैं जिऊँगा तो बस, मैं जिऊँगा और आज भी अपने मन की गहराइयों में अकेला ही हूँ। जब तक मैं साथ माँगता रहूँगा तब तक मैं इन गहराइयों में उतर भी नहीं सकता। साथ हो सकता है परिधि पर, केन्द्र पर नहीं। जो व्यक्ति साथ के लिए आतुर है, वह परिधि पर जीने का आतुर है। वह कभी केन्द्र की ओर सरक नहीं सकता। यदि वह साथ को पूरी तरह इनकार कर दे तो अपने भीतर जा सकता है, क्योंकि तब परिधि पर होने का कोई रस नहीं रह जायगा उसके लिए। महावीर की जो अन्तर्यात्रा है, उसमें चूंकि कोई संगी-साथी नहीं हो सकता, इसलिए वे सभी सहारों को अस्वीकार-कर देते हैं। लेकिन जैसे ही कोई सभी सहारों को अस्वीकार करता है, वैसे ही जीवन की सारी शक्तियाँ उसका साथ देना चाहती हैं। जो अकेला है, असहाय और असुरक्षित है, जीवन उसके लिए सुरक्षा और सहायता बन जाता है। जीवन का एक आन्तरिक नियम यह है कि अगर कोई पूर्णतया असहाय है, तो समस्त जीवन

उसका सहायक हो जाता हैं, सारे जगत् की सहायता उसकी ओर चुम्बक की ओर खिंचने लगती है। क्यों खिंचने लगती है यह सवाल नहीं, नियम है। नियम यही है कि असहाय होते ही कोई व्यक्ति बेसहारा नहीं रह जाता—सब सहारे उसके हो जाते हैं। असुरक्षित चित्त को ही परमात्मा की सुरक्षा उपलब्ध होती है। जो खुद ही अपनी सुरक्षा कर लेता है, उसे परमात्मा की कोई सुरक्षा उपलब्ध नहीं होती।

एक दिन एक घटना घटी। कृष्ण ने दो-चार कौर लेकर थाली हटा दी और वे भाग खड़े हुए। रुक्मिणी ने साश्चर्य पूछा—आपको क्या हो गया है, कहाँ जा रहे हैं ? कृष्ण ने रुक्मिणी की बात न सुनी। वे दरवाजे की ओर इस प्रकार दौड़े मानों कहीं आग लग गई हो। फिर ठिठक गए और वापस लौटकर भोजन करने लगे। रुक्मिणी के विस्मय का पारावार न था। कृष्ण ने कहा कि मेरा एक भक्त रास्ते से गुजर रहा था और लोग उसे पत्थरों से मार रहे थे। वह मंजीर बजाए चला जा रहा था, मेरा ही गीत गा रहा था। तनिक भी क्रोध न था उसके मन में। वह तो सिर्फ देख रहा था उन्हें कि वे पत्थर फेंक रहे हैं। खून की धारा बह रही थी। इसलिए मेरे जाने की जरूरत पड़ गई। रुक्मिणी ने पूछा कि फिर आप लौट क्यों आए ? कृष्ण ने कहा कि जब तक मैं दरवाजे पर पहुँचा तब तक मेरे भक्त ने मंजीर फेंक डाला और उसने एक ईंट उठा ली—उसने अपना इन्तजाम खुद कर लिया। अब मेरी कोई जरूरत न रह गई। जब व्यक्ति अपना इन्तजाम स्वयं कर लेता है तब जीवन की शक्तियों के लिए कोई उपाय नहीं रह जाता। संन्यासी का मतलब सिर्फ इतना है कि कोई अपने लिए इन्तजाम नहीं करता, सब-कुछ छोड़कर असुरक्षा में खड़ा हो जाता है। मलूक ने कहा है कि पंछी काम नहीं करते, अजगर चाकरी नहीं करता, सब के देने वाले हैं राम। यह आलस्य की शिक्षा नहीं है, बहुत गहरे में असुरक्षा के स्वीकार की शिक्षा है।

ऐसी ही असुरक्षा में महावीर असंग हो गए हैं। न कोई संगी है न कोई साथी। जीवन की गहराइयों में कहीं कोई शाश्वत नियमों की व्यवस्था भी है। उनमें एक नियम यह भी है कि आप जिसके पीछे भागेंगे, वह आप से भागता चला जायगा और जिसका मोह त्यागेंगे वह आपके पीछे आता रहेगा। जो धन छोड़ता है, उस पर धन की वर्षा होती है, जो मान त्यागता है, उस पर मान की वर्षा होती है। जो सुरक्षा छोड़ता है, उसे सुरक्षा उपलब्ध होती है। जो सब-कुछ त्याग देता है, उसे सब-कुछ उपलब्ध हो जाता है। वह एक घर छोड़ता है, लेकिन सब घर उसके हो जाते हैं। जब वह एक प्रेमी की फिक्र छोड़ता है तब शायद सबका प्रेम उसका हो जाता है।

इन्द्र और महावीर की परस्पर वार्त्ता की बात कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है। यह एक कहानी है। इसका उल्लेख इसलिए होता है कि हम कहानियाँ ही समझ पाते हैं और वह भी जब उन्हें ऐतिहासिक कहा जाता है। जो भी अद्‌भुत व्यक्ति

पैदा होता है वह इतना अद्‌भुत होता है कि उसके आस-पास काव्य बन जाता है, कथाएँ बन जाती हैं। कथाएँ सच हों, ऐसी बात नहीं। जब काव्य को जोर से पकड़ लिया जाता है और उसे जीवन का सत्य बना लिया जाता है तब कविता मर जाती है। इतना अनूठा है महावीर का जीवन कि उसे शायद तथ्यों में कहा ही नहीं जा सकता। इसलिए उसके साथ हमें काव्य जोड़ना ही पड़ता है। और जब हम काव्य जोड़ते हैं तभी कठिनाई शुरू हो जाती है। जड़ लोग काव्य को जीवन का तथ्य मानने लगते हैं। यह जरूरी नहीं कि कोई चीज तथ्य न हो तो सत्य भी न हो। यदि तथ्य ही काव्य हो तो काव्य खत्म हो जाय, फिर काव्य का कोई सत्य ही न रह जाय। यदि कोई प्रेमी कहे कि मेरी प्रेयसी का चेहरा चाँद है तो इसे काव्य समझिए। विज्ञान तो कहता है कि चाँद पर बड़े खाई-खड्डे हैं, फिर किसी का चेहरा चाँद-सा कैसे हो सकता है? असल में प्रेमी कुछ और ही कह रहा है। वह कह रहा है कि चाँद को देखकर जैसे मन में छाया छू जाती है, चाँदी की धार छूट जाती है, वैसे ही किसी के चेहरे से प्रेम-सुधा बरसती है, चित्त रस-सिक्त हो उठता है। इस कविता को अगर कभी गणित और विज्ञान की कसौटी पर कसने लगें तो आप गलती में पड़ जायँगे। इसलिए मैं इन सारी बातों को काव्य और रूपक कहता हूँ, बोध-कथा मानता हूँ। इनके माध्यम से कुछ बातें कही गई हैं जो कि शायद किसी अन्य माध्यम से कही नहीं जा सकती थीं। कहानियाँ सत्य को कहने का एक ढंग हैं जिससे सत्य रूखा भी न रहे और मृत भी न हो। नासमझ आदमी ही कहानियों को सत्य बना लेता है और सत्य बना कर सारे व्यक्तित्व को झूठा कर देता है।

४

महावीर ने दूसरों का सहारा नहीं लिया, यह सही है। लेकिन साथ ही प्रश्न उठता है कि यदि सहारा न लेना महत्त्वपूर्ण है तो क्या सहारा न देना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण नहीं? यदि है, तो महावीर की अभिव्यक्ति, उनके श्रावक और श्रमण दूसरों को सहारा क्यों देते रहे? जब मैं सहारा नहीं लेता तब सहारा देनेवाला भी कौन होता हूँ?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। साधारणतः ऐसा ही दिखाई पड़ता है कि अगर कोई व्यक्ति सहारा नहीं लेता तो वह भी किसी को सहारा न दे। यह तर्क एकदम भ्रान्त है। जब हम कहते हैं कि सहारा नहीं लेना है तब इसका कुल मतलब इतना है कि भीतर जाने में हमें किसी के साथ की जरूरत नहीं—भीतर हमें अकेले ही जाना होगा। इसलिए मैं सभी सहारों को इनकार करता हूँ। लेकिन अगर यह बात मैं किसी को कहने जाऊँ कि सहारा लोगे तो भटक जाओगे तो एक अर्थ में मैं उसको सहारा दे रहा हूँ और दूसरे अर्थ में उसे सहारे से बचा रहा हूँ। इसमें दोनों बातें हैं। महावीर जो सहारा दे रहे हैं वह इसी तरह का सहारा है। वे लोगों को

कहते हैं कि मैं अकेला भीतर गया। यदि तुम सहारा पकड़ रहे हो तो भीतर नहीं जा सकोगे। बेसहारे हो जाओ। यह मुझे हक है कि मैं किसी को इतनी बात कह दूँ कि विधि से कभी कोई नहीं पहुँचा है, इसलिए तुम विधि मत पकड़ना और मेरी बात भी मत पकड़ना। इसकी भी तुम खोज-बीन करना, क्योंकि इसको भी अगर तुमने पकड़ा तो यह तुम्हारी विधि हो जायगी।

यूनान के सोफिस्टों का कहना था कि कोई चीज सिद्ध ही नहीं है। जिन्दगी इतनी जटिल है कि उसमें सब पहलू मौजूद हैं और तर्क देनेवाला सिर्फ उस पहलू को जोर से ऊपर उठा लेता है जो पहलू वह सिद्ध करना चाहता है और शेष पहलुओं को पीछे हटा देता है।

यह बात सच है कि किसी का सहारा कभी मत लेना, क्योंकि सहारा भटकाने वाला होगा। परन्तु यह कहकर भी तो मैं आपको सहारा ही दे रहा हूँ न? अब आप क्या करेंगे? सोफिस्टों ने एक उदाहरण दिया है और कहा है कि सिसली से एक आदमी एथेन्स पहुँचा। यहाँ आकर उसने कहा कि सिसली में सब लोग झूठ बोलनेवाले हैं। एक व्यक्ति ने उससे पूछा कि तुम कहाँ के रहने वाले हो? उसने उत्तर दिया—मैं सिसली का रहने वाला हूँ। यह सुनकर लोग मुश्किल में पड़ गए। अब वे क्या करें? यदि उस व्यक्ति की बात मान लें तो सभी सिसली वासी झूठे ठहरते हैं और चूँकि वह भी सिसली का रहने वाला था, इसलिए वह भी झूठा ठहरता है। और चूँकि वह भी झूठा है, इसलिए उसकी बात सच नहीं मानी जा सकती। यदि उसकी बात सच मान ली जाय तो वह झूठा साबित हो जाता है और चूँकि वह झूठा है, इसलिए उसकी बात सच्ची नहीं हो सकती। यदि यह मान लिया जाय कि सिसली में कम-से-कम एक व्यक्ति सच्चा है तो यह बात गलत होगी कि वहाँ सब झूठ बोलने वाले लोग हैं। जिन्दगी इतनी जटिल है कि दोनों बातें सही हो सकती हैं। सिसली में सब झूठ बोलने वाले लोग भी हो सकते हैं और इस आदमी का वक्तव्य भी सही हो सकता है, क्योंकि सब लोग सब समय झूठ नहीं बोलते।

महावीर कहते हैं कि जीवन के एक पहलू को पकड़कर कोई दावा करे तो यह है एकान्त। एकान्तवादी वह है जिसने जीवन का एक ही कोना देखा है। अगर वह सब कोने देख लेगा तो अपना आग्रह छोड़ देगा। वस्तुतः महावीर बड़े अद्‌भुत व्यक्ति हैं। वे कहते हैं कि सत्य का आग्रह भी गलत है, क्योंकि वह भी एकान्त है। सत्य के अनेक पहलू हैं और सत्य इतनी बड़ी बात है कि ठीक एक सत्य से विपरीत सत्य भी सही हो सकता है। इसलिए महावीर कहते हैं कि मैं अनेकान्तवादी हूँ—यानी, सब एकान्तों को स्वीकार करता हूँ। अनुभव के अनन्त कोण हैं और प्रत्येक कोण पर खड़ा हुआ आदमी सही है। बस, भूल वहाँ हो जाती है जहाँ वह अपने कोण को सर्वग्राही बनाना चाहता है और कहता है कि मैंने जो जाना, वही ठीक है।

आपने यह कहानी सुनी होगी कि एक हाथी के पास पाँच अंधे खड़े हो गए। जिसने हाथी के पैर छुए उसने कहा कि हाथी खम्भे की तरह है, केले के वृक्ष की तरह है; जिसने कान छुए उसने कहा कि हाथी गेहूँ साफ करनेवाले सूप की तरह है। इस प्रकार पाँचों अंधों ने अपने-अपने दावे किए। महावीर कहते हैं कि उनकी दृष्टि परस्पर-विरोधी नहीं है। सच पूछिए तो जिन्हें हम विरोधी दृष्टियाँ कहते हैं वे सब एक-दूसरे के परिपूरक हैं और सब एक ही सत्य के भिन्न-भिन्न कोने हैं। सिर्फ हमारी सीमित दृष्टि के कारण ही यह सब विरोधी दिखाई पड़ रहा है। महावीर कहते हैं कि अगर हम सब दृष्टियों को जोड़ लें तो भी सत्य पूरा नहीं हो जाता, क्योंकि और दृष्टियाँ भी हो सकती हैं जो हमारे खयाल में न हों। इसलिए महावीर अनेक की सम्भावना रखते हैं, एक का आग्रह नहीं करते। उस युग पर उनका प्रभाव बहुत कम पड़ा, इसका यही कारण है। बुद्ध की दृष्टि एक और पक्की है, वे उस पर सख्ती से खड़े रहते हैं और इंच-मात्र भी यहाँ-वहाँ नहीं हिलते। यह बड़े मजे की बात है कि हम जिसे साफ दृष्टिवाला कहते हैं वह एकान्तवादी होता है। महावीर साफ नहीं मालूम पड़ते। वे हर बात में 'हाँ' कहते हैं, हर बात में 'न' भी। इसका मतलब है कि चाहे तो उन्हें पता नहीं या पता है तो साफ-साफ पता नहीं। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों में बुद्ध या कनफ्युसियस का नाम लिया जाता है, महावीर का नहीं। करोड़ों लोग मिल जायँगे पृथ्वी पर जिन्होंने महावीर के नाम को कभी नहीं सुना। महावीर वादी नहीं हैं और जो वादी नहीं है, उसकी बात हमारी समझ में मुश्किल से आती है। जो सुसंगत है, उसने कभी विचार नहीं किया क्योंकि जिन्दगी विरोधों से भरी है। विचार करनेवाला व्यक्ति ऐसा सत्य नहीं कह सकता जो एकांगी, पूर्ण और दावेदार हो। उसके द्वारा की गई सत्य की प्रत्येक घोषणा में झिझक होगी। लेकिन झिझक उसके अज्ञान की सूचक बन जायगी, जब कि झिझक उसके ज्ञान की सूचक है। अज्ञानी जितनी तीव्रता से दावा करता है, उतनी तीव्रता से ज्ञानी नहीं कर सकता। असल में अज्ञानी ही दावा कर सकता है क्योंकि उसकी समझ इतनी कम है, उसने देखा इतना कम है, जाना इतना कम है कि उस कम में वह व्यवस्था बना सकता है। महावीर के अनेकान्त का यही अर्थ है कि कोई दृष्टि पूरी नहीं है, कोई दृष्टि विरोधी नहीं है। सब दृष्टियाँ सहयोगी हैं और सब दृष्टियाँ किसी बड़े सत्य में समाहित हो जाती हैं। जो विराट सत्य को जानता है, वह किसी के न तो पक्ष में होगा और न विपक्ष में। इसलिए मैं कहता हूँ कि जैनी अनेकान्त दृष्टिवाले लोग नहीं हैं क्योंकि वे पक्षपाती हैं, पक्षधर हैं—वे कहते हैं कि हम महावीर के पक्ष में हैं। लेकिन महावीर का कोई पक्ष नहीं है। इससे महावीर को दोहरा नुकसान पहुँचा। पहला नुकसान तो यह कि बहुजन तक उनकी बात नहीं पहुँच सकी और दूसरा यह कि जिन लोगों तक उनकी बात पहुँची, वे पक्षधर हो गए—मित्र न

बन पाए और जो मित्र बने वे शत्रु सिद्ध हुए। मजे की बात तो यह है कि अनेकान्त को भी महावीर के अनुयायियों ने 'अनेकान्तवाद' बना दिया है। 'अनेकान्त' का मतलब है 'वाद' का विरोध और वाद का मतलब ही होता है दावा। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि महावीर शायद हजार-दो हजार वर्ष बाद पुनः प्रभावी हो सकें। जैसे-जैसे दुनिया आगे बढ़ रही है, 'वादी' चित्त नष्ट होता जा रहा है। जितनी बुद्धिमत्ता बढ़ रही है आदमी उतना ही निष्पक्ष होता चला जा रहा है। आज नहीं तो कल, सम्प्रदाय और वाद जाएँगे ही।

५

महावीर जिसे संन्यासी कहते हैं वह एक ऐसा अवादी व्यक्ति है जो असुरक्षा में जीता है, जो अगृही है। लेकिन आज का संन्यासी महावीर के संन्यासी का उलटा आदमी है। वह आज के गृहस्थों से ज्यादा सुरक्षित है। गृहस्थ के ऊपर हजारों चिन्ताएँ और झंझटें हैं, संन्यासी मस्त है। उसे न कोई दिक्कत है और न कोई कठिनाई। खाने-पीने का प्रबन्ध है, मन्दिर हैं, आश्रम हैं। संन्यासी इस समय सबसे ज्यादा सुरक्षित हैं जब कि संन्यासी का मतलब वह व्यक्ति है जिसने सुरक्षा का मोह छोड़ दिया और जो असुरक्षा में ही जीने लगा। संन्यासी वह है जो कल की बात नहीं करता, भविष्य का विचार नहीं करता, योजना नहीं बनाता, बस प्रति-पल, क्षण-क्षण जिए चला जाता है। मौत आए तो वह राजी है, जीवन हो तो राजी है! ऐसी ही चित्त-दशा का नाम संन्यास है और ऐसा ही व्यक्ति अगृही है। सुरक्षा ही गृह है और असुरक्षा अगृह। सुरक्षा में जीनेवाला व्यक्ति गृहस्थ है और सुरक्षा में न जीनेवाला अथवा असुरक्षा की स्वीकृति में जीनेवाला व्यक्ति संन्यासी है, अगृही है।

इस सम्बन्ध में लोग पूछते हैं कि महावीर ने संन्यासियों से यह क्यों कहा कि तुम गृहस्थों को विनय मत देना, उनको तुम नमस्कार मत करना? महावीर के पीछे आनेवाले साधुओं ने महावीर के इस कथन का दूसरा ही मतलब निकाला है। उन्होंने इसे 'अहंकार की प्रतिष्ठा' बना ली है––यानी वे सम्मानित हैं, पूज्य हैं, दूसरे उनकी पूजा करें। लेकिन महावीर ने यह कहीं नहीं कहा कि साधु गृहस्थ से पूजा ले, संन्यासी गृहस्थ से विनय माँगे। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि गृहस्थ को अगृही विनय न दे। गृहस्थ का मतलब ही वह आदमी है जो अज्ञान से घिरा है। उसके अज्ञान की तृप्ति को जगह-जगह से गिराना जरूरी है। उसके अज्ञान को बढ़ाना अनुचित है। अहंकार न बढ़ जाय गृही का, इसलिए महावीर कहते हैं कि साधु उसे विनय न दे। लेकिन महावीर को पता न था कि उनका साधु ही इस कथन को अपने अहंकार के पोषण के लिए प्रमाण बना लेगा और इस अहंकार में जीने लगेगा कि उसे पूजा मिलनी चाहिए।

महावीर कल्पना भी नहीं कर सकते कि साधु अविनीत हो सकता है, इसलिए वे कहते हैं कि साधुता का मतलब ही है पूर्ण विनम्रता में चौबीस घंटे जीना। इसका मतलब है सरलता जो कभी अविनम्र नहीं होगी। हाँ, गृहस्थ अविनम्र हो सकता है क्योंकि वह अहंकार में जीता है, वही उसका घर है। महावीर को इसका कोई खयाल नहीं कि साधु भी बदला हुआ गृहस्थ हो सकता है। सिर्फ कपड़े बदलकर साधु हो सकता है और उसकी चित्त-वृत्तियों की सारी माँग वही हो सकती है जो गृहस्थ की है। सच तो यह है कि जिसे हम आज गृहस्थ कह रहे हैं, वह तो गृहस्थ है लेकिन जिसे हम साधु कह रहे हैं, वह साधु नहीं है। साधु के नाम पर बैठे हुए लोग आम तौर से बदले हुए गृहस्थ हैं जिन्होंने कपड़े बदल लिये हैं, मगर गृहस्थी का ही काम कर रहे हैं। वे मुँह-पट्टी बाँधते हैं, गेरुआ वस्त्र पहनते हैं क्योंकि ये सब उनकी सुरक्षा के साधन हैं। जिस प्रकार गृहस्थ इन्तजाम करता है उसी प्रकार साधु भी इन्तजाम करने में लगा है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ गृहस्थ दूसरों का शोषण करता है वहीं साधु गृहस्थों का शोषण करता है।

महावीर के मन में जैसे साधु की कल्पना थी वैसे साधु को विनीत होने की जरूरत ही नहीं होती। विनीत होना पड़ता है सिर्फ अहंकारियों को। महावीर कहते हैं कि मूर्छित व्यक्ति को जाग्रत व्यक्ति सम्मान न दे। दूसरा व्यक्ति मूर्छित है, यह पक्का है। लेकिन हम जाग्रत हैं या नहीं, यह अगर पक्का नहीं है तो शर्त कहाँ पूरी हो रही है। दूसरा मूर्छित है, यह पता भी हमें तभी चल सकता है जब हम स्वयं भी जाग्रत हों। यदि दस आदमी कमरे में सोए हुए हों तो सिर्फ जागे हुए आदमी को ही पता चल सकता है कि बाकी लोग सोए हुए हैं। सोए हुए को पता नहीं चल सकता कि कौन सोया हुआ है और जाग्रत व्यक्ति के लिए विनम्रता-अविनम्रता का सवाल ही पैदा नहीं होता। महावीर ने साधु के लिए सम्मान का बड़ा ध्यान दिया है सिर्फ इसलिए कि साधु वह है जो सम्मान नहीं माँगता। जो समाज ऐसे व्यक्तियों को सम्मान देता है वह धीरे-धीरे निरहंकारिता की ओर बढ़ने का कदम उठा रहा है।

नवम अध्याय

महावीर की भाषा

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ।।[1]

—उत्त० अ० ९, गा० ३४

महावीर की भाषा प्राकृत थी, संस्कृत नहीं । वस्तुतः संस्कृत कभी भी लोकभाषा नहीं थी । वह सदा से पंडितों की––दार्शनिकों और विचारकों की––भाषा रही है। महावीर के युग में प्राकृत ही साधारण जन की भाषा थी । ग्रामीण लोग इसी लोक-भाषा का प्रयोग करते थे, कारण कि प्राकृत मूलभाषा है और उसके परिष्कृत रूप को ही हम संस्कृत कहते हैं । हमारे देश में दो परम्पराएँ चलती थीं । एक परम्परा थी जो संस्कृत में ही लिखती और सोचती थी । वह बहुत थोड़े लोगों की थी । एक प्रतिशत लोगों का भी उसमें हाथ न था । ज्ञान का जो आन्दोलन चलता था वह बहुत थोड़े से अभिजातवर्गीय लोगों का था । जनता अनिवार्य रूप से अज्ञान में रहने को बाध्य थी । महावीर और बुद्ध––दोनों ने जनभाषाओं का उपयोग किया । शायद यह भी कारण है कि हिन्दू ग्रन्थों में महावीर का कोई उल्लेख नहीं है। न उल्लेख होने का कारण है, क्योंकि संस्कृत में उन्होंने न तो शास्त्रार्थ किए और न कोई दर्शन विकसित किया ।

आज भी हिन्दुस्तान में अंग्रेजी दो प्रतिशत लोगों की अभिजात भाषा है। हो सकता है कि मैं हिन्दी में बोलता चला जाऊँ तो दो प्रतिशत लोगों को यह पता ही न चले कि मैं भी कुछ बोल रहा हूँ । चूँकि महावीर ने जन्म-भाषा का प्रयोग किया, पंडितों के वर्ग ने उन्हें बाहर ही रखा । यह बड़े आश्चर्य की बात है कि महावीर-जैसी प्रतिभा का व्यक्ति पैदा हो और देश की सबसे बड़ी परम्परा में, उसके शास्त्र में, उस समय के लिपिबद्ध ग्रन्थों में उसका कोई उल्लेख न हो, विरोध में भी नहीं । मैं इसके बुनियादी कारणों में एक कारण यह मानता हूँ कि महावीर उस भाषा में बोल रहे हैं जो जनता की है । पंडितों से शायद उनका बहुत कम सम्पर्क बन पाया । पंडितों का अपना एक अभिजात भाव है। वे साधारण जन नहीं हैं । वे साधारण

---

१. इसकी अपेक्षा कि पुरुष दुर्जय संग्राम में दस लाख शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे वह अपनी ही आत्मा पर विजय प्राप्त कर ले । यही श्रेष्ठ विजय है ।

जन की भाषा में न बोलते हैं न सोचते हैं। वे असाधारण जन हैं, चुने हुए लोग हैं।

महावीर और बुद्ध की बड़ी से बड़ी क्रान्तियों में एक क्रान्ति यह भी है कि उन्होंने धर्म को ठेठ बाजार में लाकर खड़ा कर दिया, ठेठ गाँव के बीच। वह किसी भवन के भीतर बन्द चुने हुए लोगों की बात न रही, वह सबकी––जो सुन सकता है, जो समझ सकता है—बात हो गई।

महावीर ने संस्कृत का उपयोग नहीं किया। उसके और भी कई कारण हैं। असल में जो भाषा किसी परम्परा से संबद्ध हो जाती है, उसके अपने सम्बन्ध हो जाते हैं और उसका प्रत्येक शब्द एक निहित अर्थ ले लेता है। जब कोई उस शब्द का प्रयोग करता है तब उस शब्द के साथ जुड़ी हुई परम्परा का सारा भाव पीछे खड़ा हो जाता है। इस दृष्टि से जनता की सीधी-सादी भाषा अद्भुत है। वह काम करने की, व्यवहार और जीवन की भाषा है। उसमें बहुत शब्द ऐसे हैं जिन्हें नए अर्थ दिए जा सकते हैं। और महावीर के लिए जरूरी था कि वे अपने नए चिन्तन के लिए नई शब्दावली लें। संस्कृत सैकड़ों वर्षों से, हजारों वर्षों से परम्परा-बद्ध विचार की एक विशेष दिशा में काम कर रही थी। उसके प्रत्येक शब्द का अर्थ निश्चित हो गया था। इसलिए उचित यह था कि अनपढ़ जनता की भाषा को सीधा उठा लिया जाय। इस भाषा को नए अर्थ, नए तराश, नए कोने दिए जा सकते थे। इसलिए उन्होंने सीधी जनता की भाषा उठा ली और उस भाषा में अद्भुत चमत्कारपूर्ण व्यवस्था की। यह इस बात का भी प्रमाण हो सकता है कि महावीर का मन शास्त्रीय नहीं है। वे खुली जिन्दगी के पक्षपाती हैं, खुले आकाश के नीचे नग्न खड़े हैं, इसलिए शास्त्र को बिलकुल हटा देते हैं, शास्त्रीय व्यवस्था को भी हटा देते हैं। ऐसे लोगों की हमेशा जरूरत पड़ जाती है जो हमें सच्ची जिन्दगी का स्मरण दिलाएँ। नहीं तो किताबें बड़ी खतरनाक हैं। वे सच्चा जीवन होने का भ्रम पैदा करती हैं। लोग किताब के परमात्मा को प्रार्थना करने लगते हैं। 'आग' शब्द आग नहीं है। किसी मकान पर 'आग' लिख देने से मकान जल नहीं जाता। किताब में लिखे 'जल' से प्यास नहीं बुझती। किताब का परमात्मा भी असली परमात्मा नहीं है।

आम जनता की सीधी-सादी बातचीत की भाषा में शब्दजाल नहीं होता। उसमें न व्याख्या होती है, न परिभाषा। महावीर ने इसी भाषा के शब्द लिये और जनता से सीधी बात शुरू कर दी। वे जनता के आदमी हैं और इस अर्थ में वे पंडित नहीं हैं। और उन्होंने यह भी न चाहा कि उनका कोई शास्त्र निर्मित हो। उन्होंने सुनिश्चित रूप से शास्त्र को रोकने की कोशिश की होगी। इसलिए उनकी मृत्यु के दो-चार सौ वर्षों तक, जब तक लोगों को उनका स्पष्ट स्मरण रहा होगा कि शास्त्र नहीं लिखते हैं, शास्त्र नहीं लिखा जा सका होगा। फिर लोगों

ने सोचा होगा कि कहीं महावीर का कहा हुआ विस्मरण न हो जाय, इसलिए चलो, उसे हम लिपिबद्ध कर लें, शास्त्रबद्ध कर लें। महावीर खो जायँगे, लेकिन उनकी बातें शास्त्रों में बची रहेंगी। हम भूल जाते हैं कि जब महावीर-जैसा जीवन्त व्यक्ति भी खो जाता है तो क्या शास्त्रों को बचाना सम्भव है? महावीर-जैसे व्यक्ति तो यही उचित समझेंगे कि जब व्यक्ति ही बिदा हो जाता है और जब यहाँ कुछ भी स्थिर और स्थायी नहीं है, तब शब्द और शास्त्र भी बिदा हो जायँ। जीवन का नियम है जन्म लेना और मर जाना। जब जीवन का यह नियम महावीर को भी नहीं छोड़ता तो महावीर की वाणी पर यह नियम लागू क्यों न हो? हम क्यों आशा बाँधें कि शब्दों को बचाकर हम महावीर को बचा लेंगे! क्या बचेगा हमारे हाथ में? अंगारा तो बुझ ही जायगा, केवल राख बच पायगी। राख ही बचायी जा सकती है क्योंकि वह मृत है। लेकिन खतरा यह है कि हम राख को ही कहीं अंगार न समझ लें। महावीर ने चाहा होगा कि राख न बचे। कीमत की चीज अंगार है, वह तो बचेगा नहीं और राख से कल यह धोखा हो सकता है कि यही है अंगार। महावीर हिम्मतवर आदमी थे। अपनी स्मृति के लिए कोई व्यवस्था न करना बड़े साहस की बात है। उनकी दृष्टि में जो मरनेवाला है वह मरेगा ही। जो नहीं मरनेवाला है, वह नहीं मरेगा। जो मरनेवाले को बचाने की कोशिश करते हैं वे बड़ी भ्रांति में पड़ जाते हैं। वे ही अक्सर राख को अंगार समझ लेते हैं। **शास्त्र में जो धर्म है वह राख है। जीवन में जो धर्म है वह अंगार है।**

यह ध्यान रखने की बात है कि जगत् में जो भी महत्त्वपूर्ण है, जो भी सत्य और सुन्दर है, वह लिखा नहीं गया, वह कहा ही गया है। जब हम कहते हैं तो कोई जीवन्त सामने होता है जिससे हम कुछ कहते हैं। लिखनेवाले के समक्ष कोई भी मौजूद नहीं है, सिर्फ लिखनेवाला मौजूद है। इस जीवन्त सम्पर्क के कारण महावीर ने न तो शास्त्रों की भाषा का उपयोग किया, न शास्त्रीयता का। उन्होंने अपने पीछे शास्त्र की रेखा बनने न दी और दिखा दिया कि ज्ञान की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति अनधिकारी नहीं है।

लोग मुझसे आकर पूछते हैं कि क्या अनधिकारी को ज्ञान नहीं मिलना चाहिए? मैं कहता हूँ कि यह निर्णय कौन करेगा कि कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी? फल नहीं कहता कि अधिकारी को सौंदर्य दिखाई पड़ेगा, अधिकारी को ही हम अपना सुगंध देंगे। सूरज नहीं कहता हमसे कि अधिकारी को ही प्रकाश मिलेगा। खून नहीं कहता कि मैं अधिकारी के शरीर में ही बहूँगा। जगत् अधिकारी की माँग नहीं करता। भगवान बड़ा नासमझ है, वह अनधिकारियों को जीवन देता है! और पंडित बड़ा समझदार है, वह अधिकारी को पक्का कर ले तब ज्ञान देगा! अधिकारी की बात ही अत्यन्त व्यापारिक और तरकीब की बात है। धर्म

के खिलाफ विज्ञान इसीलिए जीता है कि धर्म है थोड़े से लोगों के हाथ में और विज्ञान ने सत्य दे दिया है सबके हाथ में ! विज्ञान की जीत का कारण यह है कि उसने पहली दफा ज्ञान को सार्वलौकिक बना दिया है। महावीर ने इस सम्बन्ध में बड़ी भारी क्रान्ति की। उन्होंने ठेठ बाजार में पहुँचा दी सारी बात। इससे पंडितों को क्रोध भी बहुत हुआ। उनका धंधा इसलिए चलता था कि बातें गुप्त थीं। महावीर ने धर्म की सारी गुत्थी सुलझा दी, इसलिए पंडित उन पर नाराज रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। उन्होंने वह काम किया जो एक डॉक्टर सीधी हिन्दी में प्रिस्क्रिप्शन लिखकर कर सकता है। ऐसे डॉक्टर पर दूसरे सभी डॉक्टर नाराज हो जायँगे कि तुम क्या कर रहे हो, तुमसे सारा धंधा चौपट हो जायगा। महावीर शास्त्रों को बीच में लाना ही नहीं चाहते क्योंकि शास्त्रों को लाते ही शास्त्रीयता आती है, पांडित्य आता है, दूकान आती है, सारी व्यवस्था आती है। वे ऐसे बोल रहे हैं जैसे कि कोई पहला आदमी जमीन पर खड़ा होकर बोल रहा हो और उसे किसी शास्त्र का कोई पता भी न हो।



दशम अध्याय

गोशालक की कथा का महत्त्व

नाइवाइज्ज किंचण ।।[1]

—आ० श्रु० १, अ० २, उ० ४

असल में कहानियों को समझना बहुत मुश्किल है क्योंकि वे प्रतीकात्मक होती हैं। गोशालक की कथा भी प्रतीकात्मक है। उसने महावीर पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिससे कोई भी जलकर भस्म हो सकता है। महावीर को बचाने के लिए एक साधु उठता है और वह नष्ट हो जाता है। दूसरा उठता है और वह भी मर जाता है। महावीर देखते रहते हैं। तीसरा उठता है, परन्तु महावीर उसे रोक लेते हैं। प्रश्न है कि पहले दो साधुओं के प्रति महावीर की तटस्थता का कारण क्या था ? उन दो साधुओं के प्रति उनमें करुणा क्यों न आई ? अगर रोकना ही था तो वे पहली ही बार रोक देते ताकि दो व्यक्ति न मर पाते।

इसमें बहुत-सी बातें हो सकती हैं। पहली बात यह कि व्यक्ति किसलिए उठा, यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। हो सकता है कि वह सिर्फ अहंकारवश उठा हो और यह दिखाने उठा हो कि मैं महावीर को बचा सकता हूँ। अहंकार को कोई भी बचा नहीं सकता। महावीर भी नहीं बचा सकते। कहानी का अर्थ यह हो सकता है कि दो गोशालक थे––दो अहंकार थे जो लड़ने को खड़े हो गए। महावीर चुप रह गए। तीसरा व्यक्ति विनम्र और सीधा-सादा रहा हो और सिर्फ आहुति देने को उठा हो। जब तक एक व्यक्ति और मरे तब तक भी महावीर जी जाएँ, इसलिए उठा हो। महावीर उसे रोकते हैं। असल में कहानियाँ सारी बातें स्पष्ट नहीं कर पातीं। हजारों साल से चलने के कारण उनके रूखे तथ्य ही हाथ में रह जाते हैं। असल में जिन दो व्यक्तियों को बचाने के लिए महावीर ने कुछ नहीं किया वे ऐसे व्यक्ति रहे हों जिन्हें बचाया ही नहीं जा सकता था। हो सकता है कि वे महावीर के लिए नहीं, अपने लिए ही खड़े हुए हों। हो सकता है कि वे गोशालक को यह दिखा देना चाहते हों कि हम भी कुछ हैं ! महावीर के पास सिवा दर्शक होने के और कोई उपाय न रहा हो। तीसरे व्यक्ति को वे रोकते हैं, जिसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वह—तीसरा व्यक्ति––निरहंकार रहा हो और वह

---

१. किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

सिर्फ इसलिए उठा हो कि जितनी देर में मैं मरूँगा उतनी देर तो महावीर बचे रहें। वह इतनी विनम्रता से उठा हो कि महावीर को कुछ कहना ही पड़ता है, उसे रोकना ही पड़ता है। महावीर के चित्त में क्या हुआ, यह समझना कठिन है, क्योंकि हम ऊपर से तथ्य तो देखते हैं परन्तु हमें यह खयाल में नहीं आता कि भीतर क्या कारण हो रहा था। हो सकता है कि उन दोनों के प्रति भी करुणा रही हो, क्योंकि महावीर की करुणा कोई शर्तबंद चीज नहीं है। ऐसा न था कि वह उन लोगों के प्रति ही प्रकट होती थी जो महावीर के अनुयायी थे। सम्भवतः महावीर को यह पता है कि उन्हें रोकने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि कुछ लोग हैं जो रोकने से और बढ़ते हैं। वे न रोके जायँ तो शायद रुक जायँ। अहंकारी व्यक्ति को रोको तो वह और तेज होता है। शायद महावीर इसलिए ही चुप रहते हैं।

आदमी के मन को समझना बड़ा कठिन है। यह समझना मुश्किल है कि आदमी का चित्त किस भाँति काम करता है। महावीर किसी को क्यों रोकते हैं और किसी को नहीं, यह ऊपर से जाना नहीं जा सकता। इस घटना को भीतर से देखना चाहिए। उनकी करुणा समान है, लेकिन व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं। वे जानते हैं कि रोकना किसके लिए सार्थक होगा और किसके लिए नहीं, रोकने से कौन रुकेगा और कौन नहीं। इसलिए हो सकता है, वे दो व्यक्तियों को ही नहीं, दो सौ व्यक्तियों को भी न रोकते। और भी बहुत सी बातें हैं जिन्हें महावीर जानते हैं पर जो साधारणतः देखी नहीं जा सकतीं। महावीर यह देख सकते हैं कि इस व्यक्ति की उम्र समाप्त हो गई है। यह सिर्फ निमित्त है इसके मरने का, इसलिए वे चुप रह सकते हैं। हो सकता है कि उस व्यक्ति की उम्र समाप्त न हुई हो जिसे उन्होंने रोका है। महावीर-जैसे व्यक्तियों को समझना बहुत कठिन है। इसलिए उनके संबंध में कोई निष्कर्ष निकालना महँगा होगा। जहाँ हम खड़े हैं, वहाँ से हमें जो दीख पड़ता है हम उस तक ही सोच सकते हैं। जिन्हें दूर तक दिखाई पड़ता है, वे क्या सोचते हैं, कैसे सोचते हैं, वे सोचते भी हैं या नहीं--यह सब जानना हमारे लिए मुश्किल है। ज्यादा-से-ज्यादा हम अपना ही रूप प्रोजेक्ट कर सकते हैं। हम यही सोच सकते हैं कि उस हालत में हम होते, तो क्या करते। दो आदमियों को न मरने देते या फिर तीनों को ही मरने देते। हमें उस चेतना-स्थिति का कोई अनुभव नहीं है जो बहुत दूर तक देखती है।

कभी गोशालक के साथ महावीर किसी गाँव से गुजर रहे थे। गोशालक ने कहा--जो होनेवाला है वही होता है। महावीर कहते हैं--ऐसा ही है, जो होनेवाला है वही होता है। जिस खेत से वे गुजर रहे थे उसमें दो टहनियोंवाला एक पौधा लगा था। उसमें अभी कलियाँ लगी थीं, ऐसी कलियाँ जो कल फूल बनेंगी। गोशालक ने उस पौधे को उखाड़कर फेंक दिया और कहा कि ये कलियाँ फूल बनने-

वाली हैं, पर अब न बनेंगी। संध्या समय वे दोनों भिक्षा लेकर वापस लौटे। इस बीच पानी बरस गया था और उस पौधे ने कीचड़ में फिर अपनी जड़ें पकड़ ली थीं और वह फिर खड़ा हो गया था। उसे देखकर महावीर ने कहा कि देख ! वह कली फूल बनने लगी; पौधा लग गया है जमीन से और कली फूल बन जायगी।

जिसे दूर की बातें दिखाई पड़ती हैं उसे बहुत सी ऐसी बातें दिखाई पड़ती हैं जिन्हें हम समझ नहीं पाते। महावीर के संबंध में तो कई ऐसी बातें हैं जो साधारण लोगों की समझ में मुश्किल से आती हैं। जैसे, आम तौर पर महावीर खड़े होकर ध्यान करते हैं। यह भी साधारण नहीं लगता, क्योंकि साधारण लोग बैठकर ध्यान करते हैं। महावीर को परम ज्ञान की उपलब्धि होती है गोदोहासन में। यह बड़ा अजीब आसन है। वे गाय नहीं दुह रहे थे : वे वैसे ही बैठे थे जैसे कोई गाय को दुहते समय बैठता है। कारण क्या था ? यह बड़ी विचित्र स्थिति मालूम पड़ती है। इसमें तीन बातें समझनी जरूरी हैं।

पहली बात तो यह है कि गोदोहासन हमें असहज लगता है, लेकिन सहज और असहज हमारी आदतों की बातें हैं। पश्चिम के लोगों के लिए जमीन पर बैठना असहज है। जो अभ्यास में है, वही सहज मालूम पड़ता है; जिसका अभ्यास नहीं है, वह असहज मालूम पड़ता है। हो सकता है कि महावीर पहाड़ पर, जंगल में, धूप-ताप में रोज इसी आसन में बैठते रहे हों। यह बहुत कठिन नहीं है। फिर महावीर की एक धारणा और भी अद्भुत है। वे कहते हैं कि पृथ्वी पर जितना ही कम दबाव डाला जाय उतना ही अच्छा। इसमें उतनी ही कम हिंसा होने की संभावना है। महावीर रात सोते हैं तो करवट नहीं बदलते, क्योंकि जब एक ही करवट सोया जा सकता हो तो दूसरी करवट विलासपूर्ण है। दूसरी करवट लेने में कोई चींटी, कोई मकोड़ा अकारण मर सकता है।

कुछ कौमों में जब लोग मिलते हैं तो नाक से नाक रगड़ कर नमस्कार करते हैं। यह उनके लिए सहज है। कुछ लोग हैं जो जीभ निकालकर नमस्कार करते हैं। पश्चिम में चुम्बन सहज सरल-सी बात है। हमारे लिए यह भारी ऊहापोह की बात कि कोई आदमी सड़क पर दूसरे आदमी को चूम ले। जो अभ्यास में हो जाता है वह सहज लगने लगता है। महावीर अहिंसा की दृष्टि से दो पंजों पर बैठते रहे होंगे। उनके लिए यह सहज भी हो सकता है। इस आसन में सो भी नहीं सकते। महावीर कहते हैं—भीतर पूर्ण सजग रहना है और पूर्ण सजगता के लिए अथक श्रम जरूरी है। हो सकता है कि निरन्तर प्रयोग से उन्हें पता चला हो कि उकड़ू बैठने से नींद नहीं आ सकती। सबसे बड़ी बात तो यह है **कि महावीर का मस्तिष्क परम्परागत नहीं है। वे किसी भी चीज में किसी का अनुकरण नहीं** करते। उन्हें जो सरल और आनन्दपूर्ण लगेगा, वह वैसा ही करेंगे। हम सब परम्परा के अनुयायी हैं। जैसे सभी

बैठते हैं, वैसे ही हम भी बैठते हैं। महावीर इस तरह के व्यक्ति नहीं हैं। हमें यह भी खयाल नहीं है कि हम खास तरह के कपड़े पहनते हैं तो खास तरह के आदमी हो जाते हैं और दूसरी तरह के कपड़े पहनते हैं तो दूसरी तरह के आदमी हो जाते हैं, एक ढंग से बैठते हैं तो एक तरह के आदमी हो जाते हैं और दूसरे ढंग से बैठते हैं तो दूसरी तरह के आदमी। हमारा जो मस्तिष्क है वह इन छोटे-छोटे संकेतों पर ही जीता और चलता है। हो सकता है कि महावीर का उकड़ू बैठना एक अजीब घटना है। साधारणतः कोई उकड़ू नहीं बैठता। उनका उकड़ू बैठना, गोदोहासन में ध्यान करना, मेरी दृष्टि में गहरे से गहरा अर्थ रखता है। वह यह कि चित्त पर इस तरह बैठने का कोई जोर नहीं है पुराना। शरीर की इस स्थिति में पुराना चित्त जोर नहीं डाल सकता।

तीसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ यह है कि आसन से ध्यान का कोई सम्बन्ध नहीं है। ध्यान है आन्तरिक घटना और आसन है बाहर शरीर की स्थिति। महावीर यह भी सूचना देना चाह रहे हैं कि यह धारणा गलत है कि पद्मासन में या सिद्धासन में ही ध्यान होगा और ज्ञान की उपलब्धि होगी। यदि पद्मासन या सिद्धासन में ही ज्ञान हो तो इसका अर्थ यह भी होगा कि ज्ञान शरीर की बैठक से बँधा है। असल में ज्ञान को शरीर से क्या लेना-देना? भीतर जो है वह किसी आसन में उपलब्ध हो सकता है। महावीर के गोदोहासन की मूर्तियाँ जैनियों के मन्दिरों में नहीं मिलतीं। मूर्तियाँ बनी हैं पद्मासन में, क्योंकि पुरानी धारणा है कि ज्ञानी को पद्मासन में ज्ञान होता है। महावीर को हम जैसा देखना चाहते हैं वैसा ही बना लेते हैं। दिगम्बर महावीर के नग्न चित्र भी बनाएँगे तो एक झाड़ के पास बनाएँगे, ताकि झाड़ में उनकी नग्नता छिप जाय। ये लोग महावीर से ज्यादा होशियार हैं! झाड़ के पास महावीर को खड़ा करना बेमानी है। लेकिन हमारा दिमाग अत्यन्त क्षुद्र है और अपने हिसाब में सब-कुछ फौरन ढाल लेता है। फिर जो शक्ल हम बनाते हैं या जो व्यवस्था देते हैं, वह हमारी होती है। एक आदमी अगर नंगा होने की हिम्मत करे तो उसके अनुयायी उसे नंगा न होने देंगे। अगर वह नंगा हो ही जाय तो वे कई तरकीबें निकालेंगे और पीछे लीप-पोतकर उसे बराबर कर देंगे और कहेंगे कि वह आदमी कभी नंगा नहीं हुआ। इसी तरह क्रान्तियाँ पैदा होती हैं और मर जाती हैं। रोज-रोज क्रान्ति की जरूरत पड़ जाती है, उन लोगों की जरूरत पड़ जाती है जो फिर से आकर चीजों को तोड़ दें। यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। लेकिन यही होता रहा है कि क्रान्तिकारी जितना बड़ा होगा उसको उतना ही ज्यादा लीप-पोत दिया जायगा। हमें कोई पता नहीं कि क्रान्तिकारी कैसे लोग थे। आज उनका और ही शक्ल उपलब्ध है जो कि वे कभी नहीं रहे होंगे।

मैं कहता हूँ कि किसी भी आसन में-- सोए, बैठे, लेटे और खड़े--ध्यान हो

सकता है। यह चुनाव की बात है कि साधक के लिए कौन-सा आसन सरल है। गोदोहासन तक में एक व्यक्ति मोक्ष में जा चुका है, इसलिए अब कोई चिन्ता की बात नहीं। अब किसी भी आसन में यह घटना घट सकती है। लेकिन शायद ही कोई जैन मुनि गोदोहासन में बैठा मिल जाय। उसका चित्त परम्परा से बँधा है, किन्तु महावीर का गोदोहासन-परम्परा को तोड़ने का प्रतीक है सिर्फ। महावीर-जैसा व्यक्ति छोटी-छोटी चीजों में भी परम्परा को तोड़ देना चाहेगा। प्रत्येक व्यक्ति में इतना ही साहस हो तो वह साधक हो सकता है, अन्यथा नहीं। और जिस दिन परम साहस प्रकट होता है उसी दिन सिद्ध होने में क्षण भर की भी देर नहीं लगती।



एकादश अध्याय

महावीर की दृष्टि : महावीर का भोग

आयातुले पयासु ।[1]

—सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ३

१

'दृष्टि' शब्द 'दर्शन' का पर्याय नहीं है। जहाँ दृष्टि एकांगी, अधूरी और खंड-खंड होती है वहीं दर्शन सदा समग्र होता है। दर्शन कभी भी अधूरा नहीं होता। जब तक मेरे चित्त में विचार हैं तब तक मेरे पास दृष्टि होगी, दर्शन नहीं, क्योंकि मैं अपने विचार के चश्मे से देखूँगा। मेरे विचार का जो रंग होगा वही उस चीज पर पड़ जायगा जिसे मैं देखूँगा। दर्शन होगा तब जब मैं निर्विचार हो जाऊँगा। विचार दृष्टि तक ले जाती है और निर्विचार दर्शन तक। इस सम्बन्ध में एक बात और भी समझ लेनी चाहिए। दर्शन कितना भी समग्र क्यों न हो--समग्र होगा ही--जब कोई उसे प्रकट करने जायगा, तब फिर दृष्टि शुरू हो जायगी, क्योंकि दर्शन को प्रकट करने के लिए विचार का उपयोग करना पड़ेगा। विचार चीजों को तोड़कर देखता है, परन्तु सत्य में सभी चीजें जुड़ी हुई हैं। अगर हम विचार से देखने जायँगे तो जन्म अलग दीखेगा और मृत्यु अलग। जन्म और मृत्यु को विचार में जोड़ना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि जन्म मृत्यु की उलटी चीज है। लेकिन वस्तुतः जन्म और मरण एक ही चीज के दो छोर हैं। जो जन्म से शुरू होता है वही मृत्यु पर बिदा हो जाता है। एक ही यात्रा का पहला बिन्दु जन्म है और अन्तिम बिन्दु मृत्यु।

महावीर, बुद्ध, कृष्ण और क्राइस्ट को जो अनुभूति हुई थी वह समग्र है, लेकिन जब वे उसे अभिव्यक्त करते हैं तब वह समग्र नहीं रह जाती—तब वह एक दृष्टि रह जाती है। इसीलिए जो प्रकट दृष्टियाँ हैं, उनमें विरोध पड़ जाता है। दर्शन में कोई विरोध नहीं है, लेकिन प्रकट दृष्टि में विरोध है। उदाहरणार्थ आप और हम श्रीनगर आए। हमारे और आपके लिए ही नहीं, सबों के लिए श्रीनगर एक ही है। फिर हम दोनों श्रीनगर से लौटे। कोई हमसे पूछता है—आपने वहाँ क्या देखा? इसके उत्तर में मैं जो कहूँगा वह उससे भिन्न होगा जो आप कहेंगे। हो सकता

१. प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो।

है, मुझे झील पसन्द हो और मैं झील की बात करूँ और आप को पहाड़ पसन्द हो और आप पहाड़ की बात करें। हो सकता है कि मुझे दिन पसन्द हो और मैं सूरज की बात करूँ और आपको रात पसन्द हो और आप चाँद की बात करें। दर्शन में श्रीनगर एक था; वहाँ रात और दिन जुड़े थे, पहाड़ और झील जुड़े थे, वहाँ सब इकट्ठा था। लेकिन जब हम बात करने गए तो हमने चुनाव किया, एक दृष्टि अपनायी। जैसे ही कोई बात बोली जायगी वैसे ही वह दृष्टि बन जायगी। दृष्टियों को दर्शन समझने की भूल होती रही है। इसलिए जैनों की एक दृष्टि है, दर्शन नहीं; हिन्दुओं की एक दृष्टि है, दर्शन नहीं। अगर हम दर्शन की बात करें तो हिन्दू, मुसलमान, जैन––सब खो जायँगे।

महावीर का जो अनुभव है वह तो समग्र है, लेकिन अभिव्यक्ति समग्र नहीं हो सकती। समग्र अकथ है, वर्णनातीत है। छोटे-से, सरल अनुभव भी समग्ररूपेण प्रकट नहीं हो सकते, फिर परमात्मा का अनुभव तो बहुत बड़ी बात है! आपने फूल को देखा। वह बहुत सुन्दर है। आपने उसकी अनुभूति का वर्णन करना चाहा। जब आपने उसके सौन्दर्य का वर्णन किया तो आपको लगा कि बात कुछ अधूरी रह गई। जो आपको अनुभव हुआ जीवन्त, जो आपका सम्पर्क हुआ फूल से, जो सौन्दर्य आप पर प्रकट हुआ, जो सुगन्ध आई और हवाओं ने फूल का जो नृत्य देखा––वह सब आपके लिए अकथ है और आप महसूस करते हैं कि आपकी अभिव्यक्ति कभी पूर्ण नहीं हो सकती। जब कोई असाधारण अनुभव को कहने जाता है तब उसकी अभिव्यक्ति में इतनी कमी पड़ जाती है कि उसका हिसाब लगाना कठिन है। दुनिया में जितने सम्प्रदाय हैं वे सब कही हुई बातों पर निर्भर हैं––जानी हुई बातों पर नहीं। जानी हुई बातों पर कभी सम्प्रदाय निर्मित हो जायँ, यह असम्भव है।

एक बार अपने शिष्यों की राय से फरीद कबीर के आश्रम में रुके। कबीर के शिष्य भी चाहते थे कि दोनों ज्ञानियों में बातचीत हो और वे उसका आनन्द लें। फरीद उस आश्रम में दो दिन रुके। दोनों पास-पास बैठे लेकिन कोई बातचीत नहीं हुई। दोनों गले-गले मिले, हँसे और फिर फरीद की बिदाई भी हो गई। कबीर के शिष्यों ने फरीद के जाते ही पूछा : 'यह क्या! दो दिन कैसे चुप रहे आप?' कबीर ने कहा : 'दो अज्ञानी बोल सकते हैं, एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी भी बोल सकते हैं, परन्तु दो ज्ञानियों के बोलने का उपाय क्या है? जो बोलता है वह नाहक अज्ञानी बन जाता है। उसे लगता है कि जो जाना गया है वह अपार है और बोला हुआ बहुत छोटा है। तो जो बोलता है वह नासमझ होता है।'

जहाँ ज्ञान है वहाँ भेद नहीं और जहाँ शब्द हैं वहीं भेद है। इसलिए महावीर ने जो जाना है वह तो समग्र है लेकिन उन्होंने जो कहा है वह समग्र नहीं। वह

एकान्त ही है, खंड है। इसीलिए जैन भी खंडित और एकांतिक है, क्योंकि महावीर ने जो कहा है, वह उसे ही पकड़ सकने में समर्थ होता है। महावीर का समग्र उसकी पकड़ में नहीं आ सकता, इसलिए वह जैन होकर बैठ जायगा। वह अनेकान्त को भी 'वाद' बना लेगा, महावीर के दर्शन को भी दृष्टि बना लेगा और उसे पकड़कर बैठ जायगा। इसलिए सभी अनुयायी खंड सत्य को पकड़नेवाले होते हैं। सभी खंडवालों का यही आग्रह होता है कि मेरा खंड समग्र है। ऐसे दावे सारी मनुष्य-जाति को खंड-खंड में बाँट देते हैं। मनुष्य, जो अखंड है, इसी तरह टुकड़ों और सम्प्रदायों में बँटकर टूट गया है। दृष्टि पर हमारा जोर होगा तो सम्प्रदाय होंगे, दर्शन पर जोर होगा तो सम्प्रदाय नहीं होंगे। मेरा सारा बल दर्शन पर है, दृष्टि पर नहीं। महावीर का भी जोर दर्शन पर था। दृष्टि ही सबसे बड़ी बाधा है दर्शन में। दृष्टिमुक्त, दृष्टिशून्य होकर ही मैं पूर्ण को जान सकता हूँ।

२

यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि महावीर ने घर में ही रहकर साधना क्यों नहीं की? घर और बाहर हमें दो विरोधी चीजें मालूम पड़ती हैं। इस बात का हमें खयाल नहीं आता कि घर और बाहर, दोनों एक ही विराट के दो हिस्से हैं। जो साँस एक क्षण पहले बाहर थी, वह एक क्षण बाद भीतर हो जाती है और पुनः बाहर। क्या बाहर है और क्या भीतर? हमारी जो दृष्टि है वह बड़ी सीमित है। घर से हमारा मतलब है जो अपना है और बाहर से हमारा मतलब है जो अपना नहीं है। लेकिन क्या ऐसा नहीं हो सकता कि किसी के लिए कुछ भी ऐसा न हो जो अपना नहीं है? अगर किसी व्यक्ति के लिए ऐसा हो जाय तो घर और बाहर का सवाल ही पैदा न हो। तब घर ही रह गया, बाहर कुछ भी न रहा या यह भी कह सकते हैं कि बाहर ही रह गया, घर कुछ भी न रहा। एक बात तय है कि जिस व्यक्ति को दिखाई पड़ना शुरू होगा—उसे बाहर और भीतर की जो भेद, रेखा है वह मिट जायगी। वही बाहर है, वही भीतर। घर के भीतर हवाएँ कुछ अलग हैं घर के बाहर से? यह जो प्रकाश घर में आ गया है वह कुछ अलग है उस प्रकाश से जो बाहर है? हाँ, इतना ही फर्क है कि दीवालों ने इसकी प्रखरता छीन ली है। दीवालों ने, सीमाओं ने हवाओं की स्वच्छता छीन ली है। जब स्वच्छ हवाओं के लिए कोई घर से बाहर जाता है तब हम नहीं कहते कि उसने घर छोड़ दिया है।

हमारे मोह की दीवालें हैं जो हमारा घर बनाती हैं। 'मेरा' हमारा घेरा है। बहुत गहरे में 'मेरे' का भाव—ममत्व—हमारा मकान है। और ध्यान रहे कि जो 'मेरे' से ग्रस्त है वह अनिवार्य रूप से शेष को 'तेरे' में बदल देता है। जो कहता है 'मेरा', वह शेष को शत्रु बना लेता है। वैष्णव जन तो वह है जो जानता ही नहीं कि

कोई पराया है। तभी यह सम्भव भी है कि पराये की पीर उसे अपनी मालूम होने लगे।

इस 'मेरे' की दुनिया में हमने कई तरह की दीवालें उठाई हैं—पत्थर की भी और प्रेम की भी, राग की भी और द्वेष की भी। लोग इसी कारण पूछते हैं कि महावीर ने घर क्यों छोड़ दिया ? क्या घर में साधना सम्भव न थी ? नहीं, घर ही सम्भव न था—घर ही असम्भावना थी। हमें एक ही बात दिखाई पड़ती है कि महावीर ने घर छोड़ा। इसका कारण यह है कि हम घर को पकड़े हुए लोग हैं। घर को छोड़ने की बात ही हमारे लिए असह्य है।

महावीर ने घर छोड़ा या कि घर मिट गया ? जैसे ही जाना वैसे ही घर मिट गया : जैसे ही समझा वैसे ही मेरा और अपना कुछ भी न रहा। दस करोड़ मील जो सूरज है, वह भी हमारे प्राणों के स्पन्दन को बाँधे हुए है, वह भी हमारे घर का हिस्सा है। लेकिन कब हमने सूरज को अपना साथी समझा ? कब हमने माना कि सूरज भी मित्र है अपना ? लेकिन जिसे हम अपने परिवार का नहीं समझते उसके बिना न तो हमारा परिवार होगा और न हम होंगे। दस करोड़ मील दूर बैठा हुआ सूरज भी हमारे हृदय की धड़कन का हिस्सा है। दूर के चाँद-तारे भी, दूर के ग्रह-उपग्रह भी किसी-न-किसी अर्थ में हमारे जीवन के हिस्से हैं। यदि पत्नी ने आपका खाना बना दिया है तो वह आपके घर के भीतर है, लेकिन वह गाय नहीं जिसने आपके लिए दूध बना दिया है। घास को सीधे चरकर आप दूध बना नहीं सकते। बीच में एक गाय चाहिए जो घास को उस स्थिति में बदल दे, जहाँ से वह आपके योग्य हो जाय। लेकिन घास ने भी कुछ किया है। उसने भी मिट्टी को बदला है और उससे, जल और हवा से, अपना निर्माण किया है। घास आपके घर के भीतर है या बाहर ? क्योंकि अगर घास न हो तो आपके होने की कोई सम्भावना नहीं है और घास अगर न हो तो मिट्टी को खाकर गाय भी दूध नहीं बना सकती। अगर हम आँख खोलकर देखना शुरू करें तो हमें पता चलेगा कि सारा जीवन एक परिवार है, जिसमें एक कड़ी न हो तो कुछ भी न होगा। सामने पड़ा हुआ पत्थर भी किसी-न-किसी अर्थ में हमारे जीवन का हिस्सा है। जिसको जीवन की इस विराटता का अनुभव होगा वह कहेगा कि सभी मेरे हैं; सभी अपने हैं या कोई भी अपना नहीं है।

अतः यह कहना अनुचित है कि महावीर ने घर छोड़ा। असल में जब उन्हें बड़े परिवार के दर्शन हुए तब छोटा परिवार खो गया। जिसको सागर मिल जाय वह बूँद को कैसे पकड़े बैठा रहेगा ? ज्ञान विराट में ले जाता है, अज्ञान क्षुद्र को बाँधकर पकड़ा देता है। अज्ञान क्षुद्र में ही रुक जाता है, ज्ञान निरन्तर विराट् से विराट् होता जाता है। महावीर ने घर नहीं छोड़ा, उनके लिए घर को पकड़ना असम्भव हो गया। पहला घर छूट नहीं गया, सिर्फ वह बड़े घर का हिस्सा हो गया। त्याग

इस नए अर्थ को खयाल में रखें। त्याग का अर्थ कुछ छोड़ना नहीं, विराट् को पाना है। लेकिन त्याग शब्द में खतरा है, कारण कि उसमें छोड़ने का भाव छिपा हुआ है। मेरी दृष्टि में महावीर या बुद्ध या कृष्ण-जैसे लोगों को त्यागी कहने में बुनियादी भूल है। इनसे बड़ा भोगी खोजना असम्भव है। त्याग का अर्थ है कुछ छोड़ना, भोग का अर्थ है कुछ पाना। **महावीर से बड़ा कोई भोगी होना असम्भव है,** क्योंकि जगत् में जो भी है सब उनका ही हो गया है--उनका भोग भी अनन्त हो गया है। ऐसे विराट् को भोगने की सामर्थ्य क्षुद्र चित्त में नहीं होती। क्षुद्र, क्षुद्र को ही भोग सकता है, इसलिए वह क्षुद्र को पकड़ लेता है। घर छूटा नहीं है महावीर का, सिर्फ बड़ा हो गया है। नदी ने अपने को सागर में छोड़ दिया है। अब उसका कोई किनारा नहीं है। जीवन की खोज मूलतः किनारों को छोड़ने की या बड़े किनारों को पाने की खोज है। जिसको असीम और अनन्त मिल जाता हो उससे यदि हम पूछें कि तुमने किनारे क्यों छोड़े तो क्या उत्तर देगा वह? वह सिर्फ हँसेगा और कहेगा कि जाओ, अपने किनारों को छोड़कर देखो कि क्या पाया है मैंने।

मेरी सलाह है कि त्याग की बात न हो और बल दिया जाय विराट् भोग पर। मेरी अपनी समझ है कि चूँकि हमने अपने महापुरुषों को त्याग से बाँध लिया है, इसलिए हम उनके निकट नहीं पहुँच पाते। इसका कारण यह है कि त्याग हमें—किसी को भी—अपील नहीं कर सकता। बहुत गहरे में त्याग की बात ही निषेध की बात है। छोड़ना आत्मघाती है। स्वस्थ भोगना चाहता है, रुग्ण छोड़ना चाहता है, क्योंकि वह भोग नहीं सकता। इसलिए बीमार और आत्मघाती चित्त के लोग इकट्ठे हो जायँगे धर्म के नाम पर। इसलिए तो लोग कहते हैं : युवावस्था में धर्म की क्या जरूरत ? वह तो वृद्धावस्था के लिए है। इसलिए मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजों में बूढ़े लोग दिखाई पड़ते हैं। मैं कहता हूँ : भोगो और ज्यादा भोगो। परमात्मा को भोगो, क्योंकि उसका भोग अनन्त है। क्षुद्र पर मत रुक जाना। विराट् के सामने रुको मत। दौड़ो, कूद जाओ सागर में। भोगो, सागर को, भोगो। सामान्य चित्त का भाव भोगने का है, छोड़ने का नहीं। इसलिए सामान्य चित्त को अगर धर्म की ओर उठाना है तो उसे विराट् भोग के लिए आमंत्रित करना चाहिए। अभी उलटा हो रहा है। जो छोटा-मोटा भोग चल रहा है उसके भी निषेध की सलाह दी जा रही है और कहा जा रहा है कि उसे भी इनकार करो। मैं यह मानता हूँ कि अगर हम विराट् को भोगने जायँगे तो क्षुद्र का निषेध करना पड़ेगा। नदी को सागर बनना है तो वह नदी नहीं रह जायगी। लेकिन इस बात पर जोर मत दो। नदी के मिटने पर नहीं, नदी के सागर बनने पर बल दो। इससे ज्यादा नदियाँ सागर बनने की ओर आकर्षित होंगी। मेरा जोर इस बात पर है कि धर्म त्याग न बने, बल्कि विराट् भोग समझा जाय।

यह भी सत्य है कि जिस प्रकार 'त्याग' शब्द ने अब तक गलती की, वसे ही मेरा 'भोग' शब्द भी गलती कर सकता है। सभी शब्द गलती कर सकते हैं। अन्ततः शब्द गलती नहीं करते, लोग गलती करते हैं। लेकिन 'त्याग' शब्द व्यर्थ हो गया है। त्याग के विपरीत कोई शब्द नहीं है सिवा भोग के। लेकिन यह भी स्मरण रहे कि मेरा भोग त्याग के विपरीत नहीं है। मैं कह रहा हूँ कि यदि दूसरी सीढ़ी पर पैर रखना हो तो पहली सीढ़ी छोड़नी ही पड़ेगी। मेरा जोर दूसरी सीढ़ी पर पैर रखने पर है, आगे बढ़ने पर है---पिछली सीढ़ी छोड़ने पर नहीं है। रुग्ण चित्त त्याग की भाषा को समझ लेता है, स्वस्थ चित्त नहीं समझ सकता। 'त्याग' शब्द पर जोर देने का परिणाम यह हुआ है कि जो स्वस्थ, जीवन्त और जीने के लिए लालायित है वह उस ओर नहीं गया है। मैं यह कह रहा हूँ कि यह जो जीवन्त धारा है इसे आकृष्ट करो। और यह तभी आकृष्ट होगी जब विराट् जीवन का खयाल इसके सामने होगा और कहा जायगा कि कुछ छोड़ना नहीं है, पाना है। और छोड़ना होगा ही इसमें, क्योंकि बिना छोड़े कुछ भी पाया नहीं जा सकता। जीवन को जीना है, उसकी आत्यन्तिक उपलब्धियों में, उसके पूर्ण रस में, उसके पूर्ण सौन्दर्य में। छोड़ना कभी भी चित्त के लिए आकर्षण नहीं बन सकता। पाना ही चित्त के लिए सहज आकर्षण है। मेरी दृष्टि यह है कि महावीर ने घर छोड़कर जिस आनन्द की अनुभूति की, वह खबर देती है कि उन्होंने घर छोड़ा नहीं, उन्हें बड़ा घर मिल गया। जो मिल गया है वह चारों ओर से उन्हें आनन्द से भर रहा है। लेकिन महावीर के पीछे चलनेवाले साधुओं को देखें। ऐसा लगता है कि वे सड़क पर खड़े हैं और उनके पास जो था वह खो गया है और जो मिलना था वह उन्हें मिला नहीं। तो एक अधूरे में अटक गए हैं उनके प्राण। वे कष्ट में जी रहे हैं मानों, एक परेशानी में हैं। हम किसी को परेशानी में जीते देखकर आदर क्यों देते हैं ? असल में इसमें भी बड़ी गहरी हिंसा का भाव है। परेशान आदमी को हम आदर देते हैं। परेशानी यदि स्वेच्छा से ली गई होती है तो हम उसे और भी आदर देते हैं। हमारा यह आदर भी रुग्ण है। असल में हम दूसरों को दुख देना चाहते हैं। दूसरों की पीड़ा-परेशानी हमारे भीतर की किसी गहरी आकांक्षा को तृप्त करती है। जब कोई ज्यादा-से-ज्यादा सुख में जाने लगता है तो हम दुख में जाने लगते हैं। किसी का सुखी होना हमें दुखी बना देता है। मनुष्य जाति भीतर से रुग्ण है, इसकी वजह से त्यागियों और तपस्वियों को सम्मान मिलता है। अगर मनुष्य जाति स्वस्थ होगी तो सुखी लोगों को सम्मान मिलेगा। अब तक सिर्फ दुखी आदमियों को सम्मान दिया गया है। यह मनुष्य जाति के भीतर दूसरे को दुख देने की प्रबल हिस्सा आकांक्षा का हिस्सा है।

यह न भूलें कि काँटा चुभोनेवाला भी बीमार है और काँटा चुभोनेवाले को आदर देनेवाला भी खतरनाक है, रुग्ण है। इसी प्रकार फूल सूँघनेवाला भी स्वस्थ है और

फूल सूँघनेवाले को सम्मान देनेवाला भी स्वस्थ है। एक ऐसा समाज चाहिए जिसमें सुख का समादर हो, दुख का अनादर हो। लेकिन हुआ उलटा है और हमने उन लोगों को भी दुखी लोगों की श्रेणी में रख दिया है जो सबसे ज्यादा सुखी लोग थे। वस्तुतः महावीर-जैसे व्यक्ति को सर्वाधिक सुखी लोगों में गिना जाना चाहिए। लेकिन हमारी त्याग की दृष्टि ने उनके सारे सुख और आनन्द को क्षीण कर दिया। हमने यह कहना शुरू किया कि यह आदमी इतने आनन्द में इसलिए है कि इसने इतना-इतना त्याग किया। लेकिन बात उलटी है। यह आदमी इतने आनन्द में है कि इससे इतना त्याग हो गया। त्याग हो जाना इतने आनन्द में होने का परिणाम है। मैं छोड़ने की भाषा के ही विरोध में हूँ। बड़ा घर पाया, छोटा घर छूट गया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वे छोटे घर के दुश्मन हो गए। इसका मतलब सिर्फ यह है कि अब छोटे घर में रहना असम्भव हो गया। जब बड़ा घर मिल गया तो छोटा घर उसका हिस्सा हो गया।

भोग भी भ्रान्ति ला सकता है। प्रत्येक चीज भ्रान्ति ला सकती है। फिर भी अगर चुनाव करना हो तो मैं कहूँगा कि भोग ही ठीक है क्योंकि वह जीवन के स्वस्थ, सहज और सरल होने का प्रतीक है। यह भी बड़े मजे की बात है कि जो आदमी भोगने चलेगा उससे त्याग धीरे-धीरे अनिवार्य हो जायँगे और वह जैसे-जैसे भोग में उतरेगा वैसे-वैसे बड़े भोग की सम्भावनाएँ प्रकट होंगी। लेकिन जो आदमी त्याग करने चलेगा, उससे पुराने भोग की सम्भावनाएँ छिन जायँगी, नए भोग की सम्भावनाएँ प्रकट नहीं होंगी और वह आदमी सूखता चला जायगा। तो मैं कह रहा हूँ कि भोग अन्ततः त्याग बन जाता है, लेकिन त्याग अन्ततः भोग नहीं बनता। एक वेश्या भी ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो सकती है, लेकिन जो जबरदस्ती ब्रह्मचर्य थोपकर साध्वी बन गई है, उसका ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होना बहुत मुश्किल है। वेश्या अपने निरन्तर के अनुभव से ब्रह्मचर्य की दिशा में गतिमान होती है, लेकिन थोपा हुआ ब्रह्मचर्य निरन्तर वासना की दिशा में गतिमान करता है।

महावीर के जब बाल बढ़ जाते थे तो वे उन्हें उखाड़ देते थे। इसका कारण यह था कि वे अपने पास उस्तरा भी नहीं रखते। जिस व्यक्ति ने सारे जीवन को अपना ही मान लिया है वह यह भी समझ गया है कि कल के लिए कौन बोझ ढोता फिरे, कल सुबह जो होगा, होगा। महावीर के लिए सरलतम यही था कि बाल उखाड़ दिए जायँ। साल-दो साल में बढ़ जायँ तो फिर उखाड़ दिए जायँ और यात्रा चलती रहे। उस्तरा-जैसा हलका सामान भी क्यों ढोया जाय? ऐसे बोझ को ढोने की जरूरत? सामान को पकड़कर रखने में सुरक्षित होने की कामना होती है जो महावीर में न थी। इसलिए वे आजीवन असुरक्षित रहते हैं। सुरक्षा का कोई भाव नहीं, कुछ रखने का भाव नहीं। परन्तु पागलों का एक वर्ग है जो बाल

उखाड़ता है, जो बाल उखाड़ने में रस लेता है। वह भी एक तरह से सताता है अपने को। जब महावीर में दूसरे के शरीर को नग्न देखने का भाव न रहा तो वे खुद नग्न खड़े हो गए। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अपने को नंगा दिखाना चाहते हैं। यह पागलों का वर्ग है। महावीर के आस-पास ऐसे संन्यासी हो गए हैं जो यह चाहते हैं कि कोई उन्हें नंगा देखे। जो आदमी सरलता की वजह से नग्न हुआ है, वह जीवन के और हिस्सों में भी सरल होगा। मगर जिसे नग्नता में रस मिलता हो उसके लिए यह भोग का ही हिस्सा है। उसके लिए बल इस बात पर नहीं कि कपड़े छुटे, बल इस बात पर है कि नग्नता आई। जो आदमी सिर्फ इसलिए नग्न हुआ है कि दूसरे लोग उसको नंगा देखें, वह बीमार है। वह जीवन के अन्य हिस्सों में भी सरल नहीं होगा। दूसरे हिस्सों में भी उसकी विक्षिप्तता प्रकट होगी। इस तरह का धार्मिक पागलपन ज्यादा खतरनाक चीज है क्योंकि उससे धर्म भी जुड़ा हुआ है। धार्मिक पागल निरीह नहीं होता, दूसरों को निरीह करता है।

धर्म ने बहुत तरह की विक्षिप्तताओं को औचित्य दिया है। पर इस औचित्य को तोड़ देने की जरूरत है और यह साफ समझ में आ जाना चाहिए कि यह तभी टूटेगा जब हम दुख को धर्म से अलग करेंगे। इस दुखवाद के भीतर ही सारा औचित्य छिप जाता है। **मेरी दृष्टि में धर्म सुख की खोज** है, परम सुख की खोज। और धार्मिक व्यक्ति वह है जो स्वयं भी आनन्द की ओर निरन्तर गति करता है और इसके लिए चेष्टारत होता है कि चारों ओर निरन्तर आनन्द बढ़े। न तो वह स्वयं को दुख देता है और न दूसरों को दुख देने की आकांक्षा करता है। उसके मन में दुख के प्रति न कोई आदर है न कोई सम्मान। ऐसे व्यक्ति को अगर हम धार्मिक कहें तो धर्म परम आनन्द की दिशा बनता है। परन्तु अब तक वह परम दुख की दिशा बना हुआ है।

३

कहा जाता है कि महावीर नासाग्र दृष्टि से ध्यानावस्थित हुए। नासाग्र दृष्टि का मतलब है—आँख आधी बंद और आधी खुली। अगर नाक के अग्र भाग को आप आँख से देखेंगे तो आधी आँख बंद हो जायगी, आधी खुली रहेगी। साधारणतः हम चाहें तो नींद में अपनी आँखों को बंद रखते हैं या जागरण में खुली। नासाग्र दृष्टि होती ही नहीं। पूरी बंद आँख निद्रा में ले जाती है और पूरी खुली आँख जागरण लाती है। ध्यान दोनों से अलग अवस्था है। वह न तो निद्रा है और न जागरण। वह निद्रा-जैसा शिथिल है और जागरण-जैसा चेतन। न तो वह नींद है और न जागरण। वह तीसरी अवस्था है। उसमें नींद और जागरण, दोनों के तत्त्व हैं। नींद में जितनी शिथिलता होती है उतनी ही ध्यान में होनी चाहिए और

जागरण में जितना चैतन्य होता है उतना ध्यान में होना चाहिए। तो ध्यान एक मध्य अवस्था है और नासाग्र दृष्टि आँख के पीछे के स्नायुओं को मध्य अवस्था में छोड़ देती है।

बंद आँख में सब मिट जाता है, केवल व्यक्ति रह जाता है; खुली आँख में सब सत्य हो जाता है और व्यक्ति मिट जाता है। आधी बंद और आधी खुली आँख का यह भी अर्थ है कि न तो हम सबसे टूटे हुए हैं और न सबसे जुड़े हुए हैं। न तो यह बात सच है कि सब सच है और हम झूठे हैं और न यही कि सब झूठे हैं और हम सच हैं। **महावीर का सारा जोर सम पर है निरन्तर।** 'सम्यक्' शब्द उनके प्रयोग में सर्वाधिक आनेवाला शब्द है। प्रत्येक चीज में सम, प्रत्येक बात में मध्य, प्रत्येक बात में वहाँ खड़ा हो जाना जहाँ अतियाँ न हों। आँख के मामले में भी अति न हो। न तो आँख पूरी खुली हो और न पूरी बंद। संसार भी सत्य है आधा और हम भी सत्य हैं आधे। जगत् माया है, यह बंद आँख का अनुभव है। अगर कोई पूरी खुली आँख के अनुभव से जिए तो इन्द्रियों के रस ही शेष रह जाते हैं, आत्मा विलीन हो जाती है; जगत् सत्य होता है, आत्मा असत्य हो जाती है। महावीर कहते हैं : 'जगत् भी सत्य है और आत्मा भी सत्य है।' न तो जगत् असत्य है और न आत्मा। पदार्थ भी सत्य है और परमात्मा भी। दोनों एक बड़े सत्य के हिस्से हैं। दोनों सत्य हैं और प्रतीक है वह नासाग्र दृष्टि--यानी महावीर कभी पूरी आँख बंद करके ध्यान नहीं करेंगे और न अपनी आँखों को कभी पूरी खोलकर ध्यान करेंगे। आधी आँख खुली और आधी बंद ताकि बाहर और भीतर एक सम्बन्ध बना रहे। जागे भी रहें और न जागे भी। बाहर और भीतर एक प्रवाह होता रहे चेतना का। चार्वाक-जैसे लोगों ने ध्यान नहीं किया, बस खुली आँख रखी। साधारणतः हम चार्वाक को भोगी कहेंगे। मैं चार्वाक को त्यागी कहूँगा। यद्यपि वह घी पर जी रहा है, फिर भी बहुत बाहर जी रहा है। खाने-पीने तक उसका योग है। अन्तर्योग की ओर उसकी दृष्टि नहीं है। महावीर प्रत्येक चीज में एक सन्तुलन और समता का ध्यान रखते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि शंकर और चार्वाक, दोनों की दृष्टि से भिन्न है।

साधारणतः जागृति के दो ही रूप हो सकते हैं : बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखता जीवन को व्यर्थता में उलझा देती है और भीतर से तोड़ देती है। अन्तर्मुखता जीवन से तोड़ देती है, भीतर डुबो देती है--सब तरफ से दरवाजे बंद कर देती है। पहली बात उतनी ही अधूरी है जितनी दूसरी बात। असल में एक तीसरी स्थिति भी है जिस पर महावीर का बल है। इस स्थिति में न तो हम भीतर देखते हैं और न बाहर। सिर्फ देखना रह जाता है, सिर्फ प्रकाश जिसका कोई फोकश नहीं है। न तो हम अन्तर्मुखी होते हैं और न बहिर्मुखी। इस स्थिति में व्यक्ति सिर्फ होता है। बस, यह होना मात्र ही जागृति है--पूर्ण जागृति। तो महावीर कहते हैं कि जो पूरी

तरह जाग गया वही साधु है, जो सोया है वही असाधु है। असाधु दो तरह के हो सकते हैं : एक जो बाहर की ओर सोया हुआ है और दूसरा जो भीतर की ओर सोया हुआ है। साधु एक ही तरह का हो सकता है जो सोया हुआ ही नहीं है, जिसमें मूर्छा नामकी चीज नहीं।

एकाग्रता और ध्यान के बुनियादी फर्क को भी खयाल में ले लेना चाहिए। ध्यान का किसी एक बिन्दु पर एकाग्र हो जाना ही एकाग्रता है। एकाग्रता का बिन्दु बदलता नहीं, चंचलता का बिन्दु बदलता जाता है। एकाग्रता में एक बिन्दु रह जाता है, शेष सब सो जाता है। ध्यान में ऐसा कोई बिन्दु ही नहीं होता जिसके प्रति चित्त सोया हुआ है। ध्यान एकाग्रता नहीं, बस जागरण है। किसी एक चीज के प्रति जागरण नहीं, वरन् समस्त के प्रति। जागरण का यही अर्थ है। जब मेरी ओर एकाग्रता होगी तब पक्षियों का कलरव, कुत्ते का भौंकना आदि सुनाई नहीं पड़ेगा। जब जागरण होगा तब एक साथ घटनेवाली सभी घटनाओं का पता चलेगा। अभी भी एक साथ हजारों घटनाएँ घट रही हैं। इन सबके प्रति एक साथ जागा हुआ होने को महावीर अमूर्छा कहेंगे, जागरण कहेंगे। जब चेतना के दर्पण पर विचार प्रतिफलित होने लगें, साँस की धड़कन सुनाई पड़ने लगे, आँख के पलकों का हिलना महसूस होने लगे तभी पूर्ण स्वभाव की उपलब्धि होती है। यह पूर्ण स्वभाव सदा से हमारे पास है। हम उसका उपयोग ऐसा कर रहे हैं कि वह कभी पूर्ण नहीं हो पाता। उपयोग न करने के कारण शेष के प्रति मूर्छा है और कुछ ही के प्रति जागरूकता। इसलिए यह सवाल पैदा हो जाता है कि मूर्छा कहाँ से आई ? मूर्छा कहीं से भी नहीं आई। यह हमारे द्वारा निर्मित है।



द्वादश अध्याय

उपसंहार

न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ।।[1]

—सू० श्रु० १, अ० १३, गा० ११

१

महावीर के समय में विचार की लीक छूट गई थी । आचार्य थे, साधु थे, लेकिन धारा मृत हो चुकी थी । यह मृत धारा कितने समय तक चल सकती थी ? महावीर ने नई विचार-दृष्टि को जन्म दिया, नई हवा फैली, नया सूरज निकला । लेकिन पुरानी लीक पर चलनेवाले लोगों ने नए को स्वीकार नहीं किया । वे अपनी लीक पर चलते गए । ऐसा भी हुआ कि महावीर ने जो कहा था, वह भी चला और जो पिछली परम्परा थी वह भी चलती रही । परन्तु परम्परा-मात्र होने से कोई जीवित नहीं होता । बल्कि बात उलटी है । जब कोई चीज परम्परा बनती है तब वह मर गई होती है । आचार्यों का होना यह सिद्ध नहीं करता कि वे किसी जीवित परम्परा के ही वंशधर हों । सच तो यह है कि उनका होना इस बात की खबर है कि अब कोई अनुभवी व्यक्ति जीवित न रहा । इसलिए जो जाना गया था, उसको जाननेवाले लोग गुरु का काम निबाहने लगते हैं । साधु भी हैं लेकिन न तो साधुओं से कुछ होता है और न शिक्षकों से, जब तक कि जीवित अनुभव को लिये हुए कोई व्यक्ति न हो ।

महावीर के मार्ग-दर्शन में इस बात से कोई अवरोध नहीं पड़ता कि पिछले तीर्थंकर के लोग शेष थे । उनमें जो भी समझदार साधक जीवित थे, वे महावीर के साथ आ गए । जो जिद्दी और अंधे थे, आग्रह रखते थे, वे अपनी लीक को पकड़ कर चलते गए । फिर ऐसे व्यक्तियों का जन्म पिछले व्यक्तियों से नहीं जोड़ा जा सकता । जब भी जगत् में जरूरत होती है, प्राण पुकार करते हैं, तब कोई-न-कोई उपलब्ध चेतना करुणावश वापस लौट आती है । एक वक्त था कि लोग ईश्वर को इनकार करने का भी कष्ट करते थे । अब लोग ऐसे हैं कि इनकार करने का भी कष्ट

---

१. मनुष्य को जाति अथवा कुल भव-सागर से तार नहीं सकते । केवल ज्ञान और सदाचार ही उसे तार सकते हैं ।

उठाना नहीं चाहते। महावीर के वक्त पुरानी परम्परा चलती थी, पुराने गुरु थे, पर वे मृत थे। उनमें कोई जीवन न था। इसलिए महावीर के आविर्भाव पर कोई असंगति की बात नहीं कही जा सकती।

महावीर की मौलिकता के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सत्य न तो नया है और न पुराना। जो सदा है वह न तो कभी पुराना होगा और न कभी नया। जो नया होता है, वही कल पुराना हो जाता है। जो आज पुराना दीखता है, वही कल नया था। असल में सत्य के सम्बन्ध में ये विशेषण एकदम व्यर्थ हैं। नया वह होता है जो जनमता है, पुराना वह होता है जो बूढ़ा होता है। सत्य न तो जनमता है और न बूढ़ा होता है, न मरता है। बादल नए-पुराने हो सकते हैं, लेकिन आकाश न नया है न पुराना। सत्य भी नया और पुराना नहीं है। इसलिए जब भी कोई दावा करता है कि सत्य प्राचीन है या नया, तब भी वह मूर्खतापूर्ण दावा करता है। सत्य एक निरन्तरता है, शाश्वतता है। महावीर और बुद्ध जो कहते हैं वह शायद वही है जो निरन्तर मौजूद है। लेकिन उससे हमारा सम्बन्ध निरन्तर छूट-छूट जाता है। इसलिए वे चिल्ला-चिल्लाकर, पुकार-पुकार कर उस ओर हमारी आँखें उठवाते हैं। आँखें उठ भी नहीं पातीं कि वे फिर वापस लौट आती हैं। इस अर्थ में जब भी कोई व्यक्ति सत्य को उपलब्ध होता है तो, कहना चाहिए, नया ही उपलब्ध होता है। दूसरे का सत्य बासी हो जाता है और हमारे लिए कभी किसी काम का नहीं होता। इस अर्थ में भी सत्य को नया कहा जा सकता है। वस्तुतः हमारे लिए सत्य तभी काम का होगा जब वह फिर नया होगा। सवाल यह नहीं है कि महावीर ने नया क्या दिया ? सवाल यह है कि उनका जीना बिलकुल नया था या नहीं ? इसमें शक नहीं कि महावीर का जीना सामान्य जन के जीने से बिलकुल भिन्न था, बिलकुल नया-नया इस अर्थ में नहीं कि वैसा पहले कभी कोई नहीं जिया होगा। कोई भी जिया हो, करोड़ों लोग जिए हों, तो भी फर्क नहीं पड़ता। जब मैं किसी को प्रेम करता हूँ तब वह प्रेम नया ही होता है। मुझसे पहले करोड़ों लोगों ने प्रेम किया है, लेकिन कोई भी प्रेमी यह मानने को राजी नहीं होगा कि मैं जो प्रेम कर रहा हूँ वह बासी या पुराना है। दूसरे का प्रेम किसी दूसरे के काम का नहीं होता। तो महावीर बिलकुल अपने ही सत्य को उपलब्ध होते हैं। वह बहुतों को उपलब्ध हुआ होगा और होता रहेगा, फिर भी उस उपलब्धि पर किसी व्यक्ति की कोई सील-मोहर नहीं लगेगी।

महावीर ने अहिंसा को जो अभिव्यक्ति दी है वह एक दम अनूठी और नई है। शायद वैसी किसी ने भी पहले नहीं दी थी। अभिव्यक्ति नई हो सकती है क्योंकि वह पुरानी भी पड़ जाती है। अब महावीर की अभिव्यक्ति पुरानी पड़ गई है। आज

अगर मैं कुछ कहूँगा तो वह कल पुराना पड़ जायगा। सत्य न नया होता है और न पुराना पड़ता है। सारी किताबों में भी लिखा हो तब भी सत्य पुराना न होगा। जब व्यक्ति को उसकी उपलब्धि होगी तब वह नए की ही उपलब्धि होगी। सत्य सदा से है लेकिन जब व्यक्ति सत्य से सम्बन्धित होता है तब सत्य उसके लिए नया हो जाता है। और प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति, जिसे वह अभिव्यक्त करता है, नई होती है, क्योंकि वैसी अभिव्यक्ति कोई दूसरा नहीं दे सकता। इसका कारण यह है कि वैसा कोई दूसरा व्यक्ति न तो हुआ है, न है, और न हो सकता है। मेरे पैदा होने में या आपके जन्म में कितना बड़ा जगत् सम्बन्धित है, इसका हमें कोई खयाल नहीं है। मेरे पैदा होने में आज तक विश्व की जो भी स्थिति थी, वह सब-की-सब जिम्मेदार है और मुझे फिर से पैदा करना हो तो विश्व की ठीक वही स्थिति पूरी-पूरी पुनरुक्त हो, तभी मैं पैदा हो सकता हूँ। मेरे पिता चाहिए, मेरी माँ चाहिए। वे भी उन्हीं पिताओं और माताओं से पैदा होने चाहिए जिनसे वे पैदा हुए थे। इस तरह हम पीछे लौटते चले जाएँ तो देखेंगे कि विश्व की पूरी स्थिति एक छोटे-से व्यक्ति के पैदा होने में संयुक्त है। अगर इसमें एक इंच भी इधर-उधर हो जाय तो मैं पैदा नहीं हो सकूँगा। जो भी पैदा होगा वह दूसरा होगा। जगत् का पूरा- का-पूरा अतीत फिर से पुनरुक्त हो तभी मैं पैदा हो सकता हूँ। यह कैसे सम्भव है? तो निश्चय ही किसी व्यक्ति को दुबारा पैदा नहीं किया जा सकता। इसलिए किसी व्यक्ति के अनुभव को, उसकी अभिव्यक्ति को भी दुबारा पैदा नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में सत्य का अनुभव व्यक्तिगत है।

२

मैं मत-मतान्तरों का तनिक भी पक्षपाती नहीं हूँ। न कोई जैन है, न बौद्ध; न कोई हिन्दू है और न मुसलमान। संसार में लोग चाहे धार्मिक हैं चाहे अधार्मिक। जो धार्मिक है वह बुद्ध, महावीर, कृष्ण और क्राइस्ट हो सकता है। लेकिन वह हिन्दू, जैन, मुसलमान या ईसाई नहीं हो सकता। अधार्मिक आदमियों के सम्प्रदाय हैं। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि धर्म का कोई सम्प्रदाय नहीं है, सब सम्प्रदाय अधर्म के हैं। अधार्मिक आदमी महावीर होने की हिम्मत नहीं जुटा पाता, बुद्ध नहीं हो सकता, कृष्ण नहीं हो सकता। चूँकि वह धार्मिक होने का मजा लेना चाहता है, इसलिए वह एक सस्ता रास्ता निकाल लेता है। वह कहता है कि महावीर तो हम हो नहीं सकते लेकिन जैन तो हो सकते हैं। लेकिन उसे पता नहीं कि जिन हुए बिना कोई जैन कैसे हो सकता है? जिसने जीता नहीं सत्य को उसे जैन कैसे कहा जा सकता है? महावीर इसलिए जिन हैं कि उन्होंने सत्य को जीता है। जैन इसलिए जैन है कि वह महावीर को मानता है।

मेरा तो कोई पक्ष नहीं, कोई मत नहीं। महावीर से मुझे प्रेम है इसलिए मैं महावीर की बात करता हूँ; बुद्ध से मुझे प्रेम है, मैं बुद्ध की बात करता हूँ; कृष्ण से मुझे प्रेम है, मैं कृष्ण की बात करता हूँ। मैं किसी का अनुयायी नहीं हूँ। इस बात का आग्रह मन में जरूर है कि इन सबको समझा जाना चाहिए। इनके पीछे चलने से कोई कहीं पहुँच नहीं सकता, लेकिन इन्हें अगर कोई पूरी तरह से समझ ले तो स्वयं को समझने के लिए बड़े गहरे आधार उपलब्ध हो जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि मानव-धर्म की स्थापना नहीं की जा सकती। दुनिया में कभी एक धर्म स्थापित नहीं हो सकता। मनुष्य एक दूसरे से इतना भिन्न है कि कभी एक धर्म का होना असम्भव है। मेरी दृष्टि यह है कि मानव-धर्म एक हो, यह बात ही बेमानी है। धार्मिकता हो जीवन में। धार्मिकता के लिए किसी संगठन की जरूरत नहीं। मैं इस चेष्टा में नहीं हूँ कि एक मानव-धर्म स्थापित हो; मैं इस चेष्टा में हूँ कि धर्मों के नाम से सम्प्रदाय बिदा हो जायँ। बस, वे जगह खाली कर दें। मेरी दृष्टि यह है कि अगर सम्प्रदाय मिट जायँ तो अधार्मिक आदमी बहुत कम रह जायँगे। यदि सभी धर्मों के सार को इकट्ठा कर लिया जाय तो इससे कोई सम्प्रदाय खंडित न होगा। मानव-धर्म स्थापित करने की चेष्टा में एक और धर्म की स्थापना हो जायगी, एक और सम्प्रदाय बन जायगा। मेरी सलाह है कि सम्प्रदाय-मात्र का विरोध किया जाय और धार्मिकता की स्थापना की जाय--धर्म की नहीं, धार्मिकता की।

तीसरी बात—महावीर और बुद्ध-जैसे व्यक्तियों ने भगवान् को जो इनकार किया है, उस इनकार में भगवत्ता का इनकार नहीं है। ईश्वर को इनकार किया है लेकिन ईश्वरता को पूर्ण स्वीकृति दी है। अगर वे ईश्वर को मानते तो इनसान की स्वतंत्रता पूरी नहीं हो पाती और अगर उसके रहते इनसान को स्वतंत्र मानते तो यह स्वतंत्रता बेमानी होती। यानी, अगर ईश्वर है और हम उसे स्रष्टा, नियम आदि नामों से पुकारते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि आदमी पूर्ण स्वतंत्र है तो, महावीर कहते हैं, इन दोनों बातों में मेल नहीं है। ईश्वर की मौजूदगी ही इनसान की स्वतंत्रता में बाधा बनेगी। नियम उसकी परतंत्रता के जनक होंगे। इसलिए महावीर परमात्मा को इनकार करते हैं ताकि परतंत्रता का कोई उपाय न रह जाय। इसका यह मतलब नहीं कि वे परमात्मा को नहीं मानते। इसका मतलब है कि वे परमात्मा के व्यक्तित्व को इनकार करते हैं और परमात्मा को सबमें व्याप्त मानते हैं, नियामक नहीं। परमात्मा के ऊपर वे किसी को नहीं बिठाते। यदि हम यह मान लें कि परतंत्रता परमात्मा की इच्छा है, जैसा कि साधारण आस्तिक मानता है, तो मनुष्य बिलकुल परतंत्र हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि हम अपनी इच्छा से इस जगत् में नहीं हैं या कि ईश्वर की इच्छा से ही हम यहाँ हैं तो जगत् कठपुतलियों का खेल हो जाता है। जहाँ परम स्वतंत्रता है वहाँ प्रत्येक चीज में अर्थ है। इसी परम स्वतं-

त्रता की घोषणा के लिए महावीर को कहना पड़ा कि ईश्वर नहीं है। साधारण आस्तिक की धारणा है कि परमात्मा नियामक है, नियन्ता है, स्रष्टा है। यदि ऐसी बात है तो मनुष्य की स्वतंत्रता खत्म हो गई। मगर गहरे आस्तिक की दृष्टि में ईश्वर स्वतंत्रता है। कण-कण में व्याप्त जो परम स्वतंत्रता है, उसके समग्र का नाम ही परमात्मा है। अगर हम इसे समझ पाएँ तो फिर पापी को दोष देने का कोई कारण नहीं रह जाता। इतना ही कहना काफी होता है कि तूने स्वतंत्रता को जिस ढंग से चुना है वह दुःख लायगा। इससे ज्यादा कुछ भी कहना अयुक्त है।

मैं कहता हूँ कि स्वतंत्रता जगत् की मौलिक स्थिति है। दी गई स्वतंत्रता स्वतंत्रता नहीं होती। किसी ने भी स्वतंत्रता नहीं दी और न किसी ने स्वतंत्रता ली। स्वतंत्रता लेनी तभी पड़ती है जब कि परतंत्रता हो। अगर स्वतंत्रता है तो उसे न कोई देता है, न कोई लेता है। वह जगत् का स्वरूप है, वह वस्तुस्थिति है, वह स्वभाव है। कोई उसको दुख के लिए उपयोग करता है, करे; कोई सुख के लिए उपयोग करता है, करे। लोग मुझसे निरन्तर पूछते हैं कि आप लोगों को इतना समझाते हैं, इससे क्या हुआ? तो मैं कहता हूँ कि यह प्रश्न ठीक नहीं है। मेरा काम था चिल्लाना। लोगों ने मुझसे कहा भी न था कि चिल्लाओ। यह मेरी मौज थी, यह मेरा चुनाव था। यह उनकी मौज थी कि उन्होंने सुना या उनकी मौज थी कि नहीं सुना। यह उनकी मौज थी कि उन्होंने सुना और अनसुना कर दिया। इस बात में मैं भी स्वतंत्र था और वे भी स्वतंत्र थे। हम सब अपनी-अपनी स्वतंत्रता में जी रहे हैं, इसलिए बड़ी मौज है। और जीवन बड़ा रसमय है। कहीं कोई रोकनेवाला नहीं है, कहीं कोई मालिक नहीं है। हम ही मालिक हैं, हम ही निर्णायक। इतना ही समझ में आ जाय तो फिर समझने को क्या शेष रह जाता है ?

मेरी दृष्टि में प्रारब्ध भी जीवन का नियामक नहीं है। अपने किए हुए निर्णय ही प्रारब्ध बन जाते हैं। आज तुम जो करोगे, वही निर्णय बनेगा और फिर एक तरह का प्रारब्ध निर्मित होगा उससे। बहुत गौर से देखें तो मोक्ष भी एक प्रारब्ध है। जो आदमी स्वतंत्र होने का निर्णय करता है, अन्त में वही मुक्त हो जाता है। संसार भी एक प्रारब्ध है। मनुष्य द्वारा किए गए निर्णय के फल को ही प्रारब्ध कहते हैं।

सुख के खोजी को महावीर ने स्वर्ग का खोजी कहा है। आनन्द का खोजी, उनकी दृष्टि में, मोक्ष का खोजी है। दुख का खोजी नरक का खोजी है, सुख का खोजी स्वर्ग का खोजी। स्वर्ग मोक्ष नहीं है। महावीर के पहले बहुत व्यापक धारणा यही थी कि स्वर्ग परम उपलब्धि है। सब सुख मिल गया तो परम उपलब्धि हो गई। लेकिन मनोवैज्ञानिक रीति से समझना चाहिए कि जहाँ सुख होगा, वहाँ दुख अनिवार्य होगा। जहाँ प्रकाश होगा, वहाँ अंधकार अनिवार्य है। जब हम दुख में होते हैं तब सुख नीचे छिपा होता है और प्रतिपल आशा दिये जाता है कि अभी प्रकट होता हूँ। लेकिन दोनों ही चीजें

एक हैं और अगर समझ में आ जाय तो सुख का भ्रम टूट जाता है। सुख का भ्रम टूटे तो दुख का साक्षात् होता है। सुख का भ्रम बना रहे तो दुख का साक्षात् नहीं होगा क्योंकि इस भ्रम के कारण हम दुख को सहनीय बना लेते हैं, हम उसे झेल लेते हैं। सुख का भ्रम टूट जाय तो भागोगे कहाँ, यह कभी सोचा है? जब सब ओर दुख के काँटे हमें छेद लेते हैं और भविष्य की कोई आशा नहीं रह जाती तब हम स्वयं में लौटते हैं। जिस दिन दुख का पूर्ण साक्षात्कार होता है, उसी दिन वापिसी शुरू हो जाती है, व्यक्ति लौटने लगता है। दुख से भागोगे तो सुख में पहुँच जाओगे; दुख में जागोगे तो आनन्द में पहुँच जाओगे। दुख से भागे नहीं, खड़े हो गए, दुख को पूरा देखा और उसका साक्षात् किया तो रूपान्तरण शुरू हुआ। दुख का साक्षात् आनन्द की यात्रा बन जाता है।

आम तौर से हम सोचते हैं कि हम इसलिए दुखी हैं कि हमारी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, जब कि सच्चाई यह है कि हम जो इच्छा करते हैं वह दुख का बीज है। जब हमारी इच्छा बिना पूरा हुए इतना दुख दे जाती है तो अगर वह पूरी हो जाय तो कितना दुख दे जायगी, बहुत मुश्किल है कहना। पाने का, जीतने का, सफल होने का भी जो सुख है वह सब चला जाता है। प्रेयसी दूर से जैसी लगती है, वैसी पास से नहीं। दूर के ढोल सुहावने होते हैं। असल में दूरी एक सुहावनापन पैदा करती ही है। जिसे हम नहीं देख पाते, उसकी जगह हम अपना सपना ही रख देते हैं। हम धनी होना चाहते हैं और इसके लिए प्रतियोगिता करते हैं, हममें प्रतिस्पर्धा का भाव होता है। जिस दिन सारी पृथ्वी का धन मिल जाता है, उस दिन प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है, धन ही दुख का कारण बन जाता है। स्मरण रहे कि सुख प्रतियोगिता में था न कि धन में। अगर सारी पृथ्वी का धन एक व्यक्ति को मिल जाय तो वह व्यक्ति आत्महत्या कर लेगा। अगर सारी पृथ्वी के लोगों की इच्छाएँ पूरी कर दी जायँ तो उसी वक्त पृथ्वी समाप्त हो जाय। इच्छाओं की पूर्ति सुख नहीं लाती बल्कि दुख का कारण बनती है। यदि उनकी अपूर्ति इतना दुख लाती है तो उनकी पूर्ति कितना दुख लायगी! आखिर यह दिखाई पड़ जाय तो तुम सुख की आशा को छोड़ दोगे। सुख की आशा एक दुराशा है, असम्भावना है। जिस व्यक्ति की आशा छूट जाती है, वह दुख के साथ सीधा खड़ा हो जाता है। इस साक्षात्कार में जो रहस्यपूर्ण घटना घटती है वह यह है कि दुख तिरोहित हो जाता है। मैं अपने में लौट आता हूँ, क्योंकि सुख पाने की चेष्टा छोड़ देता हूँ।

३

इतिहास की दृष्टि में महावीर अतीत की घटना भले ही हों, साधक के लिए वे भविष्य की घटना हैं। आनेवाले किसी भी क्षण में साधक वहाँ पहुँच सकता है जहाँ

महावीर पहुँचे थे। और जब तक वह उस जगह नहीं पहुँच जाता तब तक महावीर को समझ पाना मुश्किल है। उस अनुभूति को वह कैसे समझ सकता है जो उसे कभी नहीं हुई? अंधा कैसे समझेगा प्रकाश के सम्बन्ध में? महापुरुष को समझना अत्यन्त कठिन है बिना स्वयं महापुरुष हुए। महावीर को समझना हो तो सीधे ही महावीर को समझ लेना सम्भव नहीं है। महावीर को समझना हो तो स्वयं को समझना और रूपान्तरित करना ज्यादा जरूरी है। शब्द, सिद्धान्त और परम्परा से समझने की कोशिश करते हैं तो भूल हो जाती है। स्वयं के भीतर उतरते ही हम उस जगह पहुँचेगे जहाँ कभी महावीर पहुँचे थे। तभी हम उन्हें समझ पायँगे।

महावीर के सम्बन्ध में मैंने जो बातें कहीं, उनका शास्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए हो सकता है कि बहुतों को वे कठिन मालूम पड़ें, स्वीकार योग्य भी न हों। शास्त्रीय बुद्धिवालों को वे अजीब दीखें और वे पूछें कि शास्त्रों में ये बातें कहाँ हैं? उनसे मैं कह देना चाहता हूँ कि ये बातें शास्त्रों में हों या न हों, स्वयं में खोजनेवाले इन्हें अवश्य पा लेंगे और स्वयं से बड़ा न कोई शास्त्र है और न कोई दूसरी आप्तता। मेरा कोई शास्त्रीय अधिकार नहीं है। मैं शास्त्रों में विश्वास नहीं करता, बल्कि उन सभी बातों को संदिग्ध इस कारण मानता हूँ कि वे शास्त्रों में लिखी हुई हैं। मैंने महावीर और अपने बीच शास्त्रों को नहीं रखा है और महावीर को सीधा देखने की कोशिश की है। सीधा हम उसे ही देख सकते हैं जिससे हमारा प्रेम हो। प्रेम प्रत्येक कली को वैसे ही खोल देता है जैसे सूरज। हम सब ज्ञान के मार्ग से ही जानते हैं, जीते हैं, इसलिए जान नहीं पाते। महावीर को प्रेम करेंगे तो पहचान जायँगे और एक मजे की बात तो यह है कि जो महावीर को प्रेम करेगा, वह कृष्ण, क्राइस्ट या मुहम्मद को प्रेम करने से बच नहीं सकता। अगर महावीर से प्रेम होगा तो उसे महावीर में जो दिखाई पड़ेगा, वही बहुत गहरे में मुहम्मद, कृष्ण और क्राइस्ट में भी दृष्टिगत होगा। यह असम्भव है कि कोई व्यक्ति महावीर से प्रेम करे और बुद्ध से नहीं। प्रेम न किसी पर ठहरता है, न किसी को रोकता है, न किसी को ठहराता है। प्रेम की न कोई शर्त है, न कोई सौदा। प्रेम तो परम मुक्ति है। प्रेम को आप इकट्ठा नहीं कर सकते, ज्ञान को कर सकते हैं। प्रेम तो बाँटना ही पड़ता है। प्रेम को इकट्ठा करनेवाला प्रेमी नहीं हो सकता। जितना बाँटो, उतना प्रेम।

अगर हमारा चित्त पूर्वग्रहों से भरा है तो हम प्रेमपूर्ण नहीं हो सकते। महावीर-जैसे व्यक्ति किसी धारणा पर कसे नहीं जा सकते। असल में अद्भुत व्यक्ति का अर्थ ही यह है कि उस पर पुरानी कसौटियाँ काम नहीं करतीं। प्रतिभाशाली व्यक्ति न केवल खुद को निर्मित करता है, बल्कि खुद को मापे जाने की कसौटियाँ भी निर्मित

करता है। इसलिए सभी पूर्वग्रहों से मुक्त होकर मैंने महावीर के सम्बन्ध में चर्चा की। किन्हीं सूचनाओं, धारणाओं अथवा मापदंडों के आधार पर उन्हें नहीं कसा। प्रेम के दर्पण में वे जैसे दीख पड़े वैसी बात मैंने कही। अपनी बातों में मैं अनिवार्य रूप से उतना ही मौजूद हूँ जितना महावीर मौजूद हैं। उनमें हम दोनों हैं। यहाँ मैं तो उस महावीर की बात कर रहा हूँ जिसमें मैं भी सम्मिलित हूँ, जो मेरे लिए एक आत्मगत अनुभूति बन गया है।



द्वितीय खंड

प्रथम अध्याय

अहिंसा

अदुवा अदिन्नादाणं ।[1]

—आ० श्रु० १, अ० १, उ० ३

अहिंसा और हिंसा में बुनियादी भेद है। जहाँ अहिंसा हमारा स्वभाव है, हिंसा अर्जित गुण है, पायी गयी है। हिंसक बनने के लिए हमें कुछ करना पड़ा। हिंसा हमारी उपलब्धि है, हमने उसे खोजा है, उसका निर्माण किया है। अहिंसा हमारी उपलब्धि नहीं हो सकती। आदमी स्वभाव से हिंसक नहीं है, वह हिंसक हो नहीं सकता। हिंसा सिवा दुख के कहीं भी नहीं ले जाती और कोई भी व्यक्ति दुख की कामना नहीं करता। हिंसा 'ऐक्सिडेंट' है, संयोगिक है—वह हमारे जीवन की धारा नहीं है। इसलिए जो हिंसक है वह भी चौबीस घंटे हिंसक नहीं हो सकता; अहिंसक चौबीस घंटे अहिंसक हो सकता है। हिंसक को किसी वर्तुल के भीतर अहिंसक होना ही पड़ता है। असल में अगर वह हिंसा करता है तो इसलिए करता है कि किन्हीं के साथ वह अहिंसक हो सके। चोर का लक्ष्य भी अचोरी है और हिंसक का लक्ष्य भी अहिंसा है।

'सत्य' और 'ब्रह्मचर्य' शब्द विधायक हैं। धर्म की भाषा में इन दो विधायक शब्दों को छोड़कर सब शब्द नकारात्मक हैं। जिन्हें मैं पंच महाव्रत कहता हूँ वे नकारात्मक हैं। जब ये पाँचो—अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, अकाम और अप्रमाद—छूट जायँगे तो भीतर जो उपलब्ध होगा, वह होगा सत्य, और बाहर जो उपलब्घ होगा वह होगा ब्रह्मचर्य। सत्य का अर्थ है जिसे हम भीतर जानेंगे; ब्रह्मचर्य का अर्थ है जिसे हम बाहर जीयेंगे, ब्रह्म-जैसी चर्या, ईश्वर-जैसा आचरण। ईश्वर-जैसा आचरण उसी का हो सकता है जो ईश्वर हो जाय। सत्य का अर्थ है ईश्वर-जैसा हो जाना; उसका अर्थ है ब्रह्म। जो ईश्वर-जैसा हो गया उसकी जो चर्या होगी, उसी का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म-जैसा आचरण।

अगर ठीक से समझें तो अहिंसा पर कोई विचार नहीं हो सकता, सिर्फ हिंसा पर विचार हो सकता है? और हिंसा के न होने पर विचार हो सकता है। ध्यान रहे कि अहिंसा का मतलब सिर्फ इतना ही है—हिंसा का न होना, हिंसा का अभाव। चूंकि

---

१. जीवों की हिंसा करना एक प्रकार का अदत्तदान है, यानी चोरी है।

धर्म परम स्वास्थ्य है, इसलिए धर्म की भी कोई परिभाषा नहीं हो सकती। बीमारी की परिभाषा हो सकती है, स्वास्थ्य की नहीं। चर्चा सिर्फ अधर्म की हो सकती है, धर्म की नहीं। स्वास्थ्य को जाना जा सकता है, उसे जिया जा सकता है, स्वस्थ हुआ जा सकता है, लेकिन उसकी चर्चा नहीं हो सकती। इसलिए सभी धर्मशास्त्र वस्तुतः अधर्म की चर्चा करते हैं।

हिंसा को मैं पहला अधर्म मानता हूँ, और जो हिंसक हैं उनके लिए यह पहला व्रत है। ऐसे भी हम हिंसक हैं। हमारे हिंसक होने में भेद हो सकते हैं, कारण कि हिंसा की अनेक पर्तें हैं, इसकी इतनी सूक्ष्मताएँ हैं कि उसे पहचान पाना मुश्किल होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिसे हम हिंसा कहते हैं वह अहिंसा का बहुत स्थूल रूप होता है और जिसे हम अहिंसा कहते हैं वह हिंसा का ही बहुत सूक्ष्म रूप होता है। उदाहरण के लिए मैं गाँधीजी की अहिंसा को हिंसा का सूक्ष्म रूप कहता हूँ और कृष्ण की हिंसा को अहिंसा का स्थूल रूप मानता हूँ। हिंसक के लिए ही अहिंसा पर विचार करना जरूरी है। इसलिए यह समझ लो कि दुनिया में अहिंसा का विचार हिंसकों की जमात से आया। जैनों के चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय थे। उनमें एक भी न तो ब्राह्मण था और न वैश्य। बुद्ध भी क्षत्रिय थे। दुनिया में अहिंसा का खयाल वहाँ पैदा हुआ जहाँ हिंसा घनी थी, सघन थी। जो चौबीस घंटे हिंसा में रत हैं उन्हें ही यह दिखाई पड़ता है कि हिंसा हमारा स्वभाव या हमारी अन्तरात्मा नहीं है।

मैं यह मानकर चलूँगा कि हम हिंसक लोग इकट्ठे हुए हैं। जब मैं हिंसा के अनेक-अनेक रूपों की बात करूँगा तब आप समझ पायँगे कि आप किस रूप के हिंसक हैं। और अहिंसक होने की पहली शर्त है, अपनी हिंसा को उसकी ठीक-ठीक जगह पर पहचान लेना, क्योंकि जो व्यक्ति हिंसा को ठीक से पहचान लेता है, वह हिंसक नहीं रह जाता। हिंसक रहने की एक ही तरकीब है कि हम अपनी हिंसा को अहिंसा समझते जायँ। इसलिए असत्य सत्य के वस्त्र पहन लेता है। असल में असत्य को जब भी खड़ा होना हो तो उसे सत्य का चेहरा उधार लेना ही पड़ता है। एक सीरियन कथा कहती है कि एक बार सौंदर्य की देवी पृथ्वी पर उतरी और एक झील में स्नान करते हुए दूर निकल गई। तभी कुरूपता की देवी को मौका मिला, उसने सौंदर्य की देवी के कपड़े पहने और वह चलती बनी। कथा कहती है कि तभी से सौंदर्य की देवी उसका पीछा कर रही है और खोज रही है उस कुरूपता को जिसने उसके वस्त्र पहन लिये हैं। कुरूपता अब भी सौंदर्य के वस्त्र पहने हुए है।

हिंसा को भी खड़े होने के लिए अहिंसा बनना पड़ता है। इसलिए अहिंसा की दिशा में जो पहली बात जरूरी है वह यह है कि हिंसा के चेहरे पहचान लेने जरूरी हैं, खासकर उन चेहरों को पहचान लेना जरूरा है जो उसके अहिंसक चेहरे हैं। दुनिया में कोई भी पाप सीधा धोखा देने में असमर्थ है। पाप को भी पुण्य की आड़

में ही धोखा देना पड़ता है। पाप अपने में हारा हुआ है। हिंसा जीत नहीं सकती। लेकिन दुनिया से हिंसा नहीं मिटती, क्योंकि हमने हिंसा के बहुत-से अहिंसक चेहरे खोज निकाले हैं।

सबसे पहली हिंसा दूसरे को दूसरा मानने से शुरू होती है। जैसे ही मैं कहता हूँ कि आप दूसरे हैं, वैसे ही मैं आपके प्रति हिंसक हो गया। असल में दूसरे के प्रति अहिंसक होना असम्भव है। हम सिर्फ अपने प्रति ही अहिंसक हो सकते हैं, ऐसा हमारा स्वभाव है। वस्तुतः दूसरे को दूसरा स्वीकार लेने में ही हिंसा शुरू हो गई। सार्त्र का कथन है कि वह जो दूसरा है, वह नरक है। दूसरा नरक नहीं है, दूसरे को दूसरा समझने में नरक है। जिस क्षण हम दूसरे को अपना समझते हैं उसी क्षण मेरे और उसके बीच जो धारा बहती है वह अहिंसा की है। दूसरे को अपना समझने का क्षण ही प्रेम का क्षण है।

लेकिन जिसे हम अपना समझते हैं वह भी गहरे में दूसरा ही बना रहता है। पत्नी भी दूसरी है, चाहे कितनी भी अपनी हो। बेटा भी दूसरा है, चाहे कितना भी अपना हो। अपना कहने में भी दूसरे का भाव सदा मौजूद है। इसलिए **प्रेम भी पूरी तरह अहिंसक नहीं हो पाता।** प्रेम अपने ढंग से हिंसा करता है। पत्नी अपने पति को प्रेमपूर्ण ढंग से सताती है। जब सताना प्रेमपूर्ण हो तो बड़ा सुरक्षित हो जाता है। सताने की बड़ी सुविधा मिल जाती है, क्योंकि हिंसा अहिंसा का चेहरा ओढ़ लेती है। शिक्षक विद्यार्थी को सताता है और कहता है कि तुम्हारे हित के लिए ही सता रहा हूँ। इसलिए जिस व्यक्ति को हिंसा के प्रति जागना हो, उसे पहले अपनों के प्रति की जानेवाली हिंसा के प्रति जागना होगा। मेरा खयाल है कि दुनिया में अपना बनानेवाली जितनी संस्थाएँ हैं, सब की सब हिंसक हैं। परिवार से ज्यादा हिंसा और किसी संस्था ने नहीं की, लेकिन उसकी हिंसा बड़ी सूक्ष्म है। इसलिए अगर संन्यासी को परिवार छोड़ देना पड़ता था तो उसका कारण था—सूक्ष्मतम हिंसा से बाहर हो जाना। वह जानता था कि हिंसा का एक सूक्ष्मतम जाल है जो अपना कहनेवाले कर रहे हैं। उनसे लड़ना भी मुश्किल है, क्योंकि वे हमारे हित में ही कर रहे हैं! परिवार का ही फैला हुआ रूप समाज है, इसलिए समाज ने जितनी हिंसा की है, उसका हिसाब लगाना कठिन है!

सच तो यह है कि समाज ने व्यक्ति को करीब-करीब मार डाला! इसलिए ध्यान रहे कि जब आप किसी समाज के सदस्य की हैसियत से किसी से व्यवहार करते हैं तब आप हिंसक होते हैं। जब आप जैन की तरह किसी व्यक्ति से व्यवहार करते हैं तब आप हिंसक हैं। हिन्दू या मुसलमान की तरह व्यवहार करते हैं तो आप हिंसक हैं। अभी व्यक्ति ही अहिंसक नहीं हो पाया तो समाज के अहिंसक होने की सम्भावना बहुत दूर है। समाज तो अहिंसक हो ही नहीं सकता, इसलिए दुनिया में

जो बड़ी हिंसाएँ हुई हैं वे व्यक्तियों द्वारा नहीं, वरन् समाजों द्वारा हुई हैं। अगर किसी मुसलमान को हम कहें कि इस मन्दिर में आग लगा दो तो अकेला मुसलमान, व्यक्ति की हैसियत से, पच्चीस बार सोचेगा। लेकिन दस हजार मुसलमानों की भीड़ में वह मन्दिर में आग लगाने को तैयार हो जायगा, क्योंकि दस हजार की भीड़ एक समाज है। हिन्दू भी मस्जिद के साथ ठीक यही कर सकता है।

समाज का मतलब है अपनों की भीड़। और दुनिया में हिंसा मिटानी तब तक मुश्किल है जब तक हम अपनों की भीड़ बनाने की जिद बन्द नहीं करते। अपनों की भीड़ का मतलब है एक ऐसी भीड़ जो सदा परायों के खिलाफ खड़ी हो। इसलिए दुनिया के सभी संगठन हिंसात्मक होते हैं, चाहे यह संगठन परिवार ही क्यों न हो। परिवार दूसरे लोगों के खिलाफ खड़ी की गई इकाई है। राज्य दूसरे राज्यों के खिलाफ खड़ी की गई राजनैतिक इकाई है। मनुष्य उस दिन अहिंसक होगा जिस दिन वह निपट मनुष्य होने को राजी होगा।

इसलिए महावीर को जैन नहीं कहा जा सकता, और जो उन्हें ऐसा कहते हों वे महावीर के साथ अन्याय कर रहे हैं। कृष्ण को हिन्दू नहीं कहा जा सकता। वे किसी समाज के हिस्से नहीं हो सकते। वे दूसरी इकाइयों के साथ जुड़ने को राजी नहीं हैं। संन्यास समस्त इकाइयों के साथ जुड़ने से इनकार है। असल में संन्यास इस बात की खबर है कि समाज हिंसा है। अपनों का चेहरा भी हिंसा का सूक्ष्मतम रूप है, इसलिए जिसे हम प्रेम कहते हैं वह भी अहिंसा नहीं बन पाता। अहिंसा उस क्षण शुरू होती है जिस क्षण दूसरा नहीं रह जाता। यह नहीं कि वह अपना है। वह है ही नहीं।

दूसरों के दिखाई पड़ने का कारण दूसरों का होना नहीं है। दूसरों के दिखाई पड़ने का कारण बहुत अद्भुत है। दूसरा इसलिए दिखाई पड़ता है कि मुझे अपना कोई पता नहीं है। अपने आत्म-अज्ञान को मैंने दूसरे का ज्ञान बना लिया है। हम दूसरे को देख रहे हैं, क्योंकि हम अपने को देखना नहीं चाहते। दूसरे का होना आत्म-अज्ञान से पैदा होता है। 'दूसरे' से मेरा मतलब दूसरे की चेतना से नहीं है, दूसरे के शरीर से है। न आपकी चेतना से मुझे कोई प्रयोजन है और न मुझे आपकी चेतना का कोई पता है। जिसे अपनी ही चेतना का पता नहीं, उसे दूसरे की चेतना का पता हो भी कैसे सकता है? मुझे आपके शरीर का पता है और अपने शरीर का पता है। अगर ठीक से कहें तो कह सकते हैं कि हिंसा दो शरीरों के बीच का सम्बन्ध है। दो शरीरों के बीच अहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। शरीरों के बीच सम्बन्ध सदा हिंसा का होगा।

कई प्रेमियों ने अपनी प्रेयसियों की गर्दन दबा डाली है! प्रेम के क्षणों में मार ही डाला है! अदालतें नहीं समझ पाई कि यह कैसा प्रेम है! लेकिन

अदालतों को समझना चाहिए कि यह थोड़ा आगे बढ़ गया प्रेम है ! यह सम्बन्ध जरा अधिक घनिष्ठ हो गया है ! दो शरीरों के बीच में जो सम्बन्ध होता है, वह चाहे छुरा मारने का हो या चुम्बन-आलिंगन का, उसमें कोई बुनियादी फर्क नहीं है। छुरा भोंकने का जो रस है वह भी यौन का सुख है। असल में सम्भोग का सुख दूसरे के शरीर में प्रवेश करने का ही सुख है।

यदि आप किसी वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में जाएँ तो वहाँ आपको यह देखकर हैरानी होगी कि यद्यपि अनगिनत चूहे मारे जा रहे हैं, मेढक काटे जा रहे हैं, कितने ही जानवर उलटे-सीधे लटकाए जा रहे हैं, कितने जानवर बेहोश पड़े हैं, फिर भी वैज्ञानिक को पक्का खयाल है कि वह हिंसा नहीं कर रहा है। उसका खयाल है कि वह आदमी के हित में प्रयोग कर रहा है। बस, ऐसी ही हिंसा अहिंसा का मुखौटा पहन लेती है। जब आप किसी से प्रेम करते हैं तब उस समय आपको इस बात का खयाल करना चाहिए कि आपके भीतर की हिंसा ही तो प्रेम की शक्ल नहीं बन जाती ? यदि बन जाती है तो वह खतरनाक से खतरनाक शक्ल है, क्योंकि उसका स्मरण आना बहुत मुश्किल है।

स्वयं से उत्पन्न हो रही चेतना अहिंसा बन जाती है, दूसरे से उत्पन्न हो रही चेतना हिंसा बन जाती है। लेकिन हमें दूसरे का ही पता है। अगर मेरी अपनी भी कोई शक्ल है तो वह आपके द्वारा—दूसरे के द्वारा—दी गई शक्ल है। इसलिए मैं सदा डरा रहूँगा। कहीं आपके मन में मेरे प्रति बुरा खयाल न आ जाय ! अखबारों की कटिंग फाड़-फाड़कर मैंने अपना चेहरा बनाया है। आपकी बातें सुनकर, आपकी धारणाएँ इकट्ठी करके, मैंने अपनी प्रतिमा बनाई है। यदि मैं पिता हूँ तो मुझे पिता होने का पता नहीं है। किसी के बेटा होने भर का पता है। स्वप्न में भी मैं दूसरों को देखता हूँ, जागने में भी दूसरे ही दिखाई पड़ते हैं। ध्यान के लिए बैठता हूँ तो दूसरों का ही ध्यान करता हूँ। जिस दिन मैं स्वयं को देखने लगूँगा उस दिन आप दूसरे की तरह दिखाई पड़ने बंद हो जायँगे।

महावीर जब चींटी से बचकर चलते हैं तो इसका कारण वह नहीं, जो आपका चीटी से बचकर चलने में रहता है। आप जब चींटी से बचकर चलते हैं तब आप चींटी से बचकर चलते हैं। महावीर जब चींटी से बचकर चलते हैं तब अपने ही पैर अपने ऊपर न पड़ जाएँ, इसलिए बचकर चलते हैं। महावीर का बचकर चलना अहिंसा है, आपका बचना हिंसा। आप द्वारा बचकर चलने में दूसरा मौजूद है। आप चींटी से बचकर चलते हैं, क्योंकि आप में उसे बचाने की चिन्ता है और चिन्ता इसलिए है कि आप डरते हैं कि कहीं पाप न लग जाय ! चींटी के मरने से कहीं नरक न जाना पड़े ! चींटी से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन सदा अपने से है। असल में दूसरे से जो हमारा फासला है वह शरीर का ही फासला है।

चेतना के तल पर दो नहीं हैं हम। दूसरे को बचायें हम या सहानुभूति दिखलाएँ तो वह अहिंसा नहीं हो सकती। दूसरे को बचाना भी हिंसा ही है। जिस दिन हम ही रह जाते हैं और बचने को कोई भी नहीं रह जाता, उस दिन अहिंसा फलित होती है।

महावीर की अहिंसा को नहीं समझा जा सका, क्योंकि हम हिंसकों ने महावीर की अहिंसा को हिंसा की शब्दावली दे दी। हमने कहा, दूसरे को दुख मत दो। लेकिन ध्यान रहे कि जब तक दूसरा है तब तक दुख जारी रहेगा। दूसरे की मौजूदगी भी हिंसा बन जाती है। आपके लिए ही नहीं, आपकी मौजूदगी भी दूसरे के लिए हिंसा बन जाती है।

महावीर की जिन्दगी की एक बहुत अद्‌भुत घटना है। वे संन्यास लेना चाहते थे। उन्होंने अपनी माँ से पूछा कि मैं संन्यास ले लूँ? माँ ने उत्तर दिया––जब तक मैं जिन्दा हूँ तब तक तुम संन्यास नहीं ले सकते, मुझे बड़ा दुख होगा। महावीर लौट गए। यदि उनकी वृत्ति हिंसक होती तो वे कहते––नहीं, मैं संन्यास लेकर ही रहूँगा, संसार तो सब माया-मोह है! कौन अपना? कौन पराया? लेकिन नहीं, वे चुपचाप लौट गए। माँ मर गईं, पिता मर गए। मरघट से लौटने पर महावीर ने अपने बड़े भाई से संन्यास लेने की अनुमति माँगी। भाई ने कहा–पागल हो गए हो? माता-पिता तो छोड़ ही गए, क्या तुम भी हमें अनाथ छोड़कर जाना चाहते हो? महावीर चुप हो गए। फिर उन्होंने संन्यास की बात न की। ऐसे मोक्ष से क्या लाभ जिसमें किसी को दुख देकर जाना पड़ता हो?

महावीर रुक गए सही, लेकिन वर्ष-दो वर्ष में घर के लोगों को ऐसा लगने लगा कि वे घर में हैं ही नहीं। उनकी उपस्थिति अनुपस्थिति-जैसी हो गई। उनका होना न होने-जैसा हो गया। वे हवा की तरह हो गए। तब घर के लोगों ने कहा कि उन्हें रोकना फिजूल है, अब वे जाना चाहें तो जा सकते हैं। और उन्होंने कहा कि अब तो बहुत देर हो चुकी है। मैं तो जा चुका हूँ!

दूसरों के कारण हम एक झूठा अहंकार पैदा करते हैं, जो हम नहीं हैं। अहंकार हमारा कामचलाऊ अस्तित्व है। हमें अपना पता नहीं है कि कौन हैं? जिसे यह भी पता नहीं कि मैं कौन हूँ, वह भी कहता है, मैं हूँ। होने का दावा तभी किया जा सकता है जब 'कौन होने' का पता हो। मुझे पता नहीं कि मैं कौन हूँ? लेकिन मैं कहता हूँ कि मैं हूँ। यह मेरा 'मैं' कहाँ से आया? यह मेरे ज्ञान से पैदा नहीं हुआ, क्योंकि जिन्होंने भी स्वयं को जाना, उन्होंने 'मैं' कहना बन्द कर दिया। जिन्होंने स्वयं को पाया, उन्होंने स्वयं को खो दिया। जिन्होंने स्वयं को नहीं पाया, वे कहते हैं 'मैं हूँ'। यह 'मैं' कहाँ से आया? इसे समाज ने पैदा किया। वे जो दूसरे हैं, उनके साथ व्यवहार करने के लिए आपको एक शब्द खोज लेना पड़ा—'मैं'। जैसे हमने

नाम खोज लिया है वैसे ही हमने 'मैं' की खोज कर ली है। हम पैदा तो अनाम ही होते हैं, पर समाज हमें नाम दे देता है जो जिन्दगी भर बना रहता है।

रामतीर्थ अमरीका में थे। कुछ लोगों ने उन्हें गालियाँ दीं तो वे हँसते हुए घर लौट आए। जब उनके मित्रों को पता चला तो वे बहुत नाराज हुए। रामतीर्थ ने कहा, मुझे कोई गाली देता तो मैं कोई जवाब देता। वे लोग राम को गाली दे रहे थे। राम से अपना क्या लेना-देना ? इस नाम के बिना भी तो मैं हो सकता था ! जब वे राम को गालियाँ दे रहे थे तब हम भी भीतर-ही-भीतर खुश हो रहे थे कि देखो, राम को कैसी गालियाँ पड़ रही हैं ! बनोगे राम तो गाली पड़ेगी। उन्होंने नाम दिया, उन्होंने ही गाली दी ! नाम भी उनका, गाली भी उनकी ! हम तो बाहर हैं !

वह दूसरा भी झूठा है और यह मैं ? मेरा यह 'मैं' भी झूठा है। ये दोनों झूठ एक साथ जिन्दा रहते हैं। जिस दिन दूसरा गिरता है उसी दिन 'मैं' गिर जाता है। 'मैं' और 'तू' के गिर जाने से जो शेष रह जाता है, वह अहिंसा है। मैं यह नहीं कहता कि आप 'मैं' शब्द का उपयोग ही नहीं करें। करना ही पड़ेगा। महावीर ने भी किया है, लेकिन तब वह शब्द है, भाषा का खेल है। जब वह अस्तित्व नहीं है तब उसे सिर्फ एक शब्द ही मानना चाहिए। ध्यान रहे कि इस 'मैं' और 'तू' के बीच जो उपद्रव पैदा हुआ है, वही हिंसा है। दो झूठों के बीच जो भी होगा, वह उपद्रव ही होगा।

अहिंसा तो एक है, किन्तु हिंसाएँ अनन्त हैं। ये सारी-की-सारी हिंसाएँ निकलती हैं एक ही भरने से—'मैं' और 'तू' के झरने से, आत्म-ज्ञान के झरने से। महावीर से अगर कोई पूछे कि अहिंसा क्या है, तो वे कहेंगे आत्मज्ञान। हिंसा क्या है तो वे कहेंगे आत्म-अज्ञान। अपने को ही न जानना हिंसा है। यह अजीब बात है ! हम तो समझते थे कि दूसरों को दुख देना हिंसा है और सुख देना अहिंसा। लेकिन ध्यान रहे दूसरे को चाहे सुख दो या दुख, हर हालत में दुख ही पहुँचता है। देने की सब आकांक्षाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, क्योंकि दूसरे को सुख दिया ही नहीं जा सकता। सुख सिर्फ स्वयं को दिया जा सकता है। किस पति ने किस पत्नी को कब सुख दिया ? किस पत्नी ने किस पति को कब सुख दिया ? पहुँचाते सभी सुख हैं, पहुँचता सदा सुख है। असल में दूसरे को हम सुख पहुँचा ही नहीं सकते, दूसरे के साथ हम अहिंसक हो ही नहीं सकते। हम दूसरे को फूल भी फेंक कर मारेंगे तो जब वह लगेगा, तब पत्थर हो जायगा !

ध्यान रहे कि भगवान् की मूर्ति पर चढ़ाए गए फूल भी हिंसा की सूचना देते हैं। उनमें भी दूसरे की स्वीकृति है। भक्त वह नहीं है जिसने भगवान् की मूर्ति पर फूल चढ़ाए। भक्त वह है जो खोजने निकला और जिसने भगवान् के सिवा कुछ भी

नहीं पाया। फूल में भी उसको पाया और पत्थर में भी और जो पूछने लगा कि किसको चढ़ाऊँ, किसके लिए चढ़ाऊँ? कैसे चढ़ाऊँ? कौन चढ़ाए?

जब कोई अहिंसा को उपलब्ध होता है तब दूसरा मिट जाता है और दूसरा तब मिटता है जब हम स्वयं को जानते हैं, उसके पहले नहीं।

इस खयाल में न पड़ें कि मांसाहार न करने से आप अहिंसक हो गए। मांसाहारी जितना भला आदमी मालूम पड़ता है, गैर-मांसाहारी उतना भला आदमी नहीं मालूम पड़ता। यह अजीब-सी बात है। इधर मैं निरन्तर सोचता रहा तो मेरे खयाल में आया कि अगर हिटलर थोड़ी सिगरेट पीता, थोड़ा मांस खा लेता, थोड़ा बे-वक्त जग जाता, कहीं नृत्यगृह में नाच लेता तो शायद दुनिया में करोड़ों आदमी मरने से बच जाते। हम यह न भूलें कि मांस न खाने से कोई महावीर नहीं हो सकता। अगर मांस न खाने से कोई महावीर हो जाय तो महावीर होना दो कौड़ी का हो गया! जितनी कीमत मांस की, उतनी ही कीमत महावीर की हो गई! इससे ज्यादा न रही! धर्म इतना सस्ता नहीं है कि हम मांस नहीं खाएँगे तो धार्मिक हो जाएँगे। मैं यह नहीं कहता कि आप मांस खाएँ या आप मदिरा पियें। आप मांस नहीं खाते, भला है; लेकिन इस भूल में न पड़ें कि आप धार्मिक हो गए, अहिंसक बन गए। आचरण से अहिंसा पकड़ी जायगी तो खतरनाक है। जब कोई आचरण से अहिंसा को पकड़ता है तब सूक्ष्म रूप से वह हिंसक होता चला जाता है। जब हिंसा सूक्ष्म बन जाती है तब उसे पहचानना मुश्किल हो जाता है। मैं आप को कई तरह से दबा सकता हूँ। एक दबाना हिटलर का भी है, आपकी छाती पर छुरी रखकर और दूसरा दबाना महात्मा का, अपनी छाती पर छुरी रखकर। आम तौर से दो तरह के आदमी होते हैं—दूसरे को सतानेवाले और स्वयं को सतानेवाले। दुनिया में कोड़े मारनेवाले संन्यासी हुए हैं, काँटों पर लेटनेवाले संन्यासी हुए हैं। दूसरे को भूखा मारनेवाले उतने ही अधार्मिक हैं जितना अपने को भूखा मारनेवाले। यदि दूसरों को सताना अधार्मिकता है तो अपने को सताना धार्मिकता कैसे हो सकता है? सताना अगर अधार्मिक है तो इससे क्या फर्क पड़ता है कि किसको सताया?

महावीर की मूर्ति देखी है? क्या आप को ऐसा लगता है कि इस आदमी ने कभी अपने को सताया होगा? कथाएँ झूठी होंगी या फिर यह मूर्ति झूठी! इस आदमी ने अपने को सताया नहीं है। मैं तो समझता हूँ कि महावीर के नग्न हो जाने में उनका सौन्दर्य ही कारण है। कुरूप आदमी नग्न नहीं हो सकता। महावीर सर्वाङ्ग-सुन्दर हैं। कथाएँ कहती हैं कि इस आदमी ने अपने को बहुत सताया। ये सारी कथाएँ मनगढ़ंत हैं। यदि ऐसी नहीं हैं तो हमें महावीर की मूर्ति बदल देनी चाहिए। असल में इन कथाओं की रचना आत्मपीड़कों ने की है। ऐसे आत्मपीड़क व्यक्ति महावीर के आनन्द को भी दुख बना लेते हैं, उनकी मौज को त्याग समझ लेते हैं!

अगर महावीर किसी दिन खाना नहीं खाते तो वह अनशन नहीं, उपवास है। अनशन का मतलब है भूखे मरना, उपवास का अर्थ है इतने आनन्द में होना कि भूख का पता भी न चले। जब ध्यान बहुत भीतर है तो शरीर का खयाल नहीं रह जाता।

अन्त में स्मरण रखें कि अहिंसा न तो किसी और को सताती है, न स्वयं को। अहिंसा सताती ही नहीं। हिंसा ही सताती है। हिंसा के गृहस्थ रूप हैं, उसके संन्यस्त रूप हैं, अच्छे रूप हैं, बुरे रूप हैं। अगर हम दोनों से सजग हो जायँ तो शायद अहिंसा की खोज हो सकती है।



द्वितीय अध्याय

अपरिग्रह

धण धन्न पेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारंभरिच्चाग्रो, निम्ममत्तं सुदुक्करं ।।[1]

—उत्त० अ० १९, गा० २९

दूसरे महाव्रत 'अपरिग्रह' को समझने के लिए परिग्रह को समझ लेना आवश्यक है। परिग्रह का अर्थ है वस्तुओं पर मालकियत की भावना—'पजेसिवनेस'। वस्तुओं के प्रति ही नहीं, हम व्यक्तियों के प्रति भी परिग्रही होते हैं।

परिग्रह हिंसा का ही एक आयाम है। सिर्फ हिंसक व्यक्ति ही परिग्रही होता है। जैसे ही हम किसी व्यक्ति या वस्तु पर मालकियत की घोषणा करते हैं वैसे ही हम गहरी हिंसा में उतर आते हैं। बिना हिंसक हुए मालिक होना असम्भव है। मालकियत हिंसा है। पति मालिक है पत्नी का। पति शब्द का अर्थ ही मालिक होता है। स्त्रियाँ पति को स्वामी भी कहती हैं। स्वामी भी पर्याय है मालिक का। परिग्रह का अर्थ है स्वामित्व की आकांक्षा। पिता बेटे का मालिक बन जाता है, गुरु शिष्य का। जहाँ भी मालकियत है वहाँ परिग्रह है, हिंसा है। बिना किसी को गुलाम बनाए मालिक नहीं हुआ जा सकता। बिना परतंत्रता थोपे स्वामी होना असम्भव है।

मनुष्य के मन में मालिक बनने की आकांक्षा क्यों हैं? इसका कारण है कि हम अपने स्वामी नहीं हैं, हमें अपने ऊपर भी अधिकार नहीं है। जो व्यक्ति अपना मालिक हो जाता है, उसकी मालकियत की धारणा खो जाती है। चूँकि हम अपने मालिक नहीं हैं, इसलिए हम इस अभाव की पूर्ति आजीवन दूसरों के मालिक होकर करना चाहते हैं। लेकिन कोई सारी पृथ्वी का मालिक हो जाय तो भी यह कभी पूरी नहीं हो सकती। अपना मालिक होना एक आनन्द है, दूसरे का मालिक होना सदा दुख है। इसलिए जितनी बड़ी मालकियत होती है, उतना बड़ा दुख पैदा होता है। पर याद रहे कि दूसरे का मालिक बनकर अपनी मालकियत नहीं पाई जा सकती। असल में मालकियत दोहरी परतंत्रता है। जिसके हम स्वामी बनते हैं वह तो हमारा गुलाम बनता

---

१. धन-धान्य, नौकर-चाकर आदि का परिग्रह छोड़ना, सर्व हिंसक प्रवृत्तियों का त्याग करना और निर्ममत्व भाव से रहना, यह अत्यन्त दुष्कर है।

ही है, हमें भी उसका गुलाम बनना पड़ता है। मालिक अपने गुलाम का गुलाम होता है। पति अपनी पत्नी का कितना भी मालिक बनता हो, वह अपनी पत्नी का गुलाम भी होता है। सम्राट् जहाँ अपने साम्राज्य का मालिक होता है, वहाँ वह भय का गुलाम भी होता है, क्योंकि जिन्हें हम परतंत्र करते हैं वे हमारे प्रति विद्रोह और बगावत शुरू करते हैं, वे भी हमें परतंत्र करना चाहते हैं। मालिक और गुलाम में इतना ही फर्क होता है कि एक की गुलामी दृश्य होती है और दूसरे की अदृश्य। हम जिसे गुलाम बनाते हैं वह हमें भी गुलाम बना लेता है। बड़े गुलाम वे है जिन्हें दूसरों के सम्राट् होने का भ्रम पैदा होता है। और बड़े गरीब वे हैं जो बाहर की सम्पत्ति से भीतर की गरीबी मिटाना चाहते हैं। इसी तरह बड़े परतंत्र वे ही हैं जो दूसरों को परतंत्र करके स्वयं स्वतंत्र होने के खयाल में भटकते हैं। कोई भी आदमी किसी को परतंत्र करके स्वतंत्र नहीं हो सकता। जेलखाने के बाहर खड़ा संतरी भी उतना ही कैद है जितना जेलखाने में बन्द कैदी। एक दीवाल के भीतर बँधा है, दूसरा दीवाल के बाहर। न दीवाल के भीतरवाला भाग सकता है, न दीवाल के बाहरवाला। मजे की बात तो यह है कि दीवाल के भीतरवाला भागने का उपाय भी करता है, बाहरवाला भागने का उपाय भी नहीं करता। वह इस खयाल में होता है कि वह स्वतंत्र है। जिन्दगी के अनूठे रहस्यों में एक रहस्य यह भी है कि हम जिसे बाँधते हैं उससे ही हमें बँध जाना पड़ता है।

परिग्रह की पहली कोशिश यह होती है कि मुझे यह खयाल भूल जाय कि मैं अपना मालिक नहीं हूँ। जितना ही पता चलता है कि मैं अपना मालिक नहीं हूँ उतना ही मैं बाहर की मालिकयत को फैलाता चला जाता हूँ। मैं भीतर मालिक क्यों नहीं हूँ ? जो भीतर है उसे मैं जानता ही नहीं, इसलिए उसका मालिक होना असम्भव है। बादशाहत इस बात से शुरू होती है कि मैं जितना हूँ उतना ही पर्याप्त हूँ। कोई कमी नहीं है जिसे मुझे पूरी करनी पड़े; कोई कमी नहीं है जिसकी वजह से मैं खाली रहूँ। बादशाहत एक भीतरी आप्तता है। सब है, इसलिए कोई कमी नहीं है। लेकिन सम्राट् के पास कुछ भी नहीं है। हम सब भीतर रिक्त हैं। इस रिक्तता को हम फर्नीचर से, मकान से, यश और पद से भरने की चेष्टा करते हैं। धन का ढेर लगा देते हैं, फिर भी भीतर की रिक्तता ज्यों की त्यों रहती है। मेरी दृष्टि में अमीरी का एक ही लाभ है कि उससे गरीबी दिखाई पड़ती है। इसलिए मैं सदा अमीरी के पक्ष में रहता हूँ। वह जो भीतर की रिक्तता है उसी को भरने के लिए परिग्रह है। यदि हम बाहर की चीजों को छोड़ दें तो क्या भीतर की रिक्तता मिट जायगी ? अगर बाहर की चीजों के होने से भीतर की रिक्तता नहीं मिटी तो बाहर की चीजों के न होने से कैसे मिटेगी ? लेकिन आदमी का मन बुनियादी भूलों से भरा होता है। पहले वह सोचता है

कि बाहर की चीजों को इकट्ठा करने से भर लूँगा, फिर जब पाता है कि उसकी रिक्तता ज्यों की त्यों बनी है तब सोचता है कि बाहर की चीजों को छोड़कर अपने को भर लूँ। वह पागल है। जब चीजों से भरा न जा सका, तब चीजों के हटाने से कैसे भर जायगा ? इसलिए ध्यान रहे, अपरिग्रह का अर्थ बाहर की चीजों को छोड़ना नहीं है; **अपरिग्रह का अर्थ भीतर की पूर्णता को पाना है।**

मैं कहता हूँ कि परिग्रह का सम्बन्ध वस्तुओं से नहीं है, उसका सम्बन्ध वस्तुओं पर मालकियत कायम करने से है। जिस दिन इसका ज्ञान होता है कि मैं अपना मालिक हूँ, उसी दिन भीतर की रिक्तता भर जाती है, अन्यथा नहीं। यह जो अपनी मालकियत है, वह एक विधायक उपलब्धि है। ऐसी मालकियत के आते ही बाहर की पकड़ छूट जाती है। बाहर की पकड़ सिर्फ इसलिए होती है कि भीतर की कोई पकड़ नहीं होती। हम बाहर पकड़े चले जाते हैं और जिसे भी पकड़ते हैं उसकी हत्या करना शुरू करते हैं। पति अपनी पत्नी को मारना शुरू कर देता है, पत्नी अपने पति को मारना शुरू कर देती है। जब हम किसी व्यक्ति को मारकर उसके मालिक हो जाते हैं, तब मालिक होने का मजा चला जाता है। बिना मारे मालिक नहीं हो सकते और मारा कि मजा गया! इसलिए मन एक पत्नी से दूसरी पत्नी पर और दूसरी से तीसरी पर जाता है। एक मकान से दूसरे मकान पर,दूसरे से तीसरे पर। एक गुरु से दूसरे गुरु पर, एक शिष्य से दूसरे शिष्य पर। जिस चीज के हम मालिक हो जाते हैं, वह बेमानी हो जाती है, मुर्दा हो जाती है। इसलिए प्रेयसी जितना सुख देती है, उतना पत्नी नहीं देती। पत्नी बनते ही स्त्री मर जाती है।

इसलिए समझदार परिग्रही व्यक्तियों को छोड़कर वस्तुओं का संग्रह करते हैं, धन इकट्ठा करते हैं। जब घर में कुर्सी आती है तब वह मरी हुई ही आती है। उसको कहाँ रखना है, इसके आप पूरे मालिक हैं। जब हम किसी व्यक्ति को घर में लाते हैं तब उसे भी कुर्सी बनाना चाहते हैं। लेकिन न तो हम व्यक्तियों से अपने को भर सकते हैं और न वस्तुओं से। हम सिर्फ अपने से भर सकते हैं, लेकिन अपने का हमें कोई पता नहीं है। तो एक बात मैं आपसे कहना चाहूँगा कि आपके पास जो भी है, उस पर एक दफा गौर से नजर डालकर देखें और स्वयं से पूछें कि उससे आप रंचमात्र भी भर सके हैं ? क्या उसने इंच भर भी आपको कहीं भरा है ? अतीत का अनुभव तो यही कहता है कि परिग्रह भर नहीं पाता, लेकिन भविष्य की आशा यही होती है कि शायद कुछ और मिल जाय और मैं भर जाऊँ। अपरिग्रही की दृष्टि तो तब आती है जब आशा पर अनुभव की विजय होती है।

असल में जो पाना है वह है दिशा 'बीइंग' की, और जो हम पा रहे हैं, वह है दिशा 'हैविंग' की। जो हम पा रहे हैं वे हैं चीजें और जो हमें पाना है, वह है

आत्मा। ये चीजें कभी भी आत्मा नहीं बन सकतीं। अनेक जन्मों का अनुभव भी हमें इस बात से रोक नहीं पाता कि हम वस्तु को आत्मा न बना सकेंगे—'हैविंग' कभी 'बीइंग' नहीं बन सकता। कभी नहीं। इसलिए महावीर या बुद्ध या जीजस उन लोगों को पागल कहते हैं जो परिग्रह में पड़े हैं।

सुना है मैंने कि डायोजनिज ने सिकन्दर से एक बार पूछा कि अगर तू पूरी दुनिया पा लेगा तो फिर क्या करेगा ? यह सुनकर सिकन्दर उदास हो गया। उसने कहा—ठीक कहते हैं आप, क्योंकि दूसरी तो कोई दुनिया नहीं है ! अगर मैं एक पा लूँगा तो फिर क्या करूँगा ?

आपने कभी सोचा है कि आप जो चाहते हैं, वह आपको मिल जाय तो क्या होगा ? अगर हम कभी इस दुनिया में कल्पवृक्ष बना सकें तो प्रत्येक आदमी को महावीर हो जाना पड़ेगा और सारी दुनिया अपरिग्रही हो जायगी। जैसे ही कोई चीज आप को तत्काल मिल गई, वैसे ही वह बेकार हो गई। आप फिर पुरानी जगह खड़े हो गए। आप एक भूख हैं, एक खालीपन, एक रिक्तता, जो हर चीज के बाद फिर आगे आकर खड़ी हो जाती है। मनुष्य की वासनाएँ सर्कुलर हैं, गोल हैं, इसलिए आशा उपलब्ध बनती हुई दिखाई पड़ती है, बनती कभी नहीं। हम अपने को धोखा दिए चले जाते हैं। हम सोचते हैं कि एक रुपया हमें मिल जाय तो हम आनन्दित हो जायँगे। रुपया हमें मिल जाता है, पर हम आनन्दित नहीं होते। सोचते हैं, दूसरा मिल जाय। वह भी मिल जाता है, तीसरा भी मिल जाता है, परन्तु आनन्द नहीं मिलता। हम भूल जाते हैं कि दूसरा रुपया भी पहले रुपए की प्रतिलिपि है कॉपी है, तीसरा दूसरे की प्रतिलिपि है, वह भी उसी का चेहरा है। ये मिलते चले जाते हैं और हम इनमें खोते जाते हैं। करोड़ रुपए एकत्र हो गए फिर भी आशा ज्यों-की-त्यों है। इसलिए कभी-कभी हमें हैरानी होती है कि करोड़पति भी एक रुपए के लिए इतना पागल क्यों होता है ! करोड़पति भी एक रुपए के लिए उतना ही दीवाना होता है जितना वह होता है जिसके पास एक भी नहीं है। आपके पास कितना रुपया है. इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह जो आगे है, जो नहीं है आपके पास, वह दौड़ता चला जाता है। और कई बार करोड़पति तो और भी कृपण हो जाता है, क्योंकि उसका अनुभव बताता है कि करोड़ रुपए हो गए, फिर भी अभी उपलब्धि नहीं हुई। अब एक-एक रुपए को जितना जोर से पकड़ा जा सके उतना ही ठीक है, क्योंकि जीवन चुक रहा है। वह भूल जाता है कि दुनिया में कोई कभी वहाँ नहीं पहुँचता जहाँ वह पहुँचना चाहता है। फासला सदा वही रहता है जो शुरू करते वक्त होता है। जन्म के दिन जितना फासला होता है, मृत्यु के दिन उतना ही फासला होता है। सिर्फ एक फर्क पड़ता है। जन्म के दिन सूरज निकलता है, मृत्यु के दिन सूरज ढलता है और अँधेरा होता है। जन्म के दिन आशाएँ होती हैं, मृत्यु के दिन विषाद

होता है, हार होती है। जन्म के दिन आकांक्षाएँ होती हैं, अभीप्साएँ होती हैं, दौड़ने का बल होता है; मृत्यु के दिन थका मन होता है, हार होती है, हम टूट गए होते हैं। लेकिन फिर भी ऐसा समझने की भूल न करें कि मरता हुआ आदमी परिग्रही हो जाता हो। मरता हुआ आदमी भी यही सोचता है कि काश, थोड़ा वक्त और होता तो दौड़ लेता और पहुँच जाता!

जिसे सीखना है वह एक अनुभव से भी सीख सकता है और जिसे सीखना नहीं है वह अनन्त अनुभवों से भी नहीं सीख सकता। हम ऐसे ही लोग हैं जिन्होंने सीखना बन्द कर दिया है। जिन्हें हम महावीर या कृष्ण या बुद्ध कहते हैं, वे ऐसे लोग थे जो जिन्दगी के अनुभव से सीखते हैं। हम ऐसे लोग हैं जो सीखते ही नहीं। हम सांसारिक लोग हैं। संसार का मतलब होता है—चक्र। संसार एक चक्र है, जिस चक्र में हम एक ही बात दोहराए चले जाते हैं। कल भी आपने क्रोध किया था और कल भी आपने कसमें खायी थीं कि अब क्रोध नहीं करेंगे। आज फिर आप क्रोध करेंगे और आज फिर आप पछताएँगे, कसमें खाएँगे कि क्रोध नहीं करेंगे। कल भी यही होगा, परसों भी यही। हम आदमी नहीं, मशीन हैं। हमसे ज्यादा बुद्धिहीन प्राणी खोजना बहुत मुश्किल है। हम सीखते ही नहीं।

जिन्दगी में जो बड़ी-से-बड़ी बात सीखने की हो सकती है, वह यह है कि परिग्रह एक व्यर्थता है। यह मैं नहीं कहता कि वस्तुएँ व्यर्थ हैं, आपके घर में जो कुर्सी है वह व्यर्थ है। कुर्सी व्यर्थ कैसे हो सकती है? मकान व्यर्थ कैसे हो सकता है? इसकी अपनी सार्थकता है। मैं जो कह रहा हूँ वह यह है कि वस्तुओं से अपने को भर लेने की कोई सार्थकता नहीं है। परिग्रह के प्रति अगर हम थोड़ी-सी भी आँख खोलकर देख लें तो हम अचानक पायँगे कि मालकियत की भावना विदा हो गई है। जिस दिन हमारी पकड़ छूट जाती है उस दिन हम अकेले रह जाते हैं। न तो पत्नी रह जाती है, न मित्र, न भाई, न मकान। ये सब अपनी जगह हैं और एक बड़े खेल के हिस्से हैं। जिन्दगी के सारे सम्बन्ध शतरंज के खेल हैं। उसके नियम हैं, उनका पालन करना चाहिए। और ध्यान रहे जो आदमी जिन्दगी को खेल समझता है उसके लिए नियम-पालन बड़ा आसान हो जाता है, कठिनाई ही नहीं रह जाती, गम्भीरता तिरोहित हो जाती है। लेकिन कुछ लोग खेल को ही जिन्दगी बना लेते हैं और खेल में भी गम्भीर हो जाते हैं। तब खेल में भी तलवारें निकल जाती हैं।

स्मरण रखें कि जिन्दगी की सारी की सारी व्यवस्था अपनी जगह ठीक है। वस्तुएँ वस्तुएँ हैं, धन धन है, पद पद है। इनमें आत्मा कुछ भी नहीं, कोई भी नहीं। इस स्मरण से अपरिग्रह फलित होता है। इससे परिग्रह से मुक्ति मिलती है। छोड़कर भाग जाने का नाम परिग्रह से मुक्ति नहीं है। इसलिए जिन्हें हम संन्यासी कहते हैं, वे साधारणतया इन्वर्टेड परिग्रही हैं—वे शीर्षासन करते हुए परिग्रही हैं। जो आप

हैं, वही वे हैं, बल्कि कई मामलों में वे आपसे भी ज्यादा गम्भीर हैं। मैं तो सोच ही नहीं सकता कि संन्यासी भी गम्भीर हो सकता है ! संन्यासी अगर गम्भीर है तो इसका मतलब है कि वह सिर्फ शीर्षासन लगाकर खड़ा हो गया है, संसारी है। गम्भीरता का मतलब है कि संसार बड़ा सार्थक है, नासमझियों का यह जो जाल है वह बड़ा कीमती है। परिग्रह नासमझी है, परिग्रह के खिलाफ साधा गया त्याग भी नासमझी है। चीजों को पकड़ना पागलपन है तो चीजों को छोड़कर भागना कम पागलपन नहीं। चीजों के प्रति मोहग्रस्त होना पागलपन है तो चीजों के प्रति विरक्त होना कम पागलपन नहीं है। यदि परिग्रही पागल है तो संन्यासी भी उससे कम पागल नहीं है। संन्यासी मिलते हैं और मुझसे कहते हैं कि कई दफा मन में ऐसा सन्देह उठता है कि संन्यास लेकर कहीं हमने भूल तो न की ? ऐसे सन्देह का उठना स्वाभाविक है। जो भोग रहे हैं वे भी कम परेशान नहीं हैं। वे संन्यासियों के पैर छूते रहते हैं जाकर। वे सोचते हैं कि संन्यासी बड़े आनन्द में होते हैं ! संन्यासी एकान्त में संदिग्ध होता है, भीड़ में आश्वस्त। जब लोग उसके पैर छूते हैं तब पक्का हो जाता हैं कि लोग आनन्द में नहीं हैं--यदि होते तो उसके पैर न छूते। अगर किसी को अपना झूठा संन्यास बनाए रखना हो तो भीड़ अनिवार्य है।

नहीं, न तो वस्तुएँ पकड़ने योग्य हैं, न छोड़ने योग्य। इसलिए अपरिग्रह का अर्थ न तो विराग है और न त्याग। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि कहीं आप संसार को छोड़कर भागने न लगें, कहीं आप घर-द्वार को छोड़कर जंगल की राह न ले लें। अपरिग्रह का मतलब मालकियत के भाव का त्याग है। अपरिग्रही वह है जिसमें मालकियत का कोई भाव न रहा। उसने बाहर की दुनिया में मालकियत खोजनी बन्द कर दी। इसका यह अर्थ नहीं कि बाहर की दुनिया को छोड़कर वह भाग गया। भागेगा कहाँ ? जहाँ वह जायगा, वहीं बाहर की दुनिया है। संन्यासी होकर वह वृक्ष के नीचे बैठ जायगा सही, परन्तु ज्योंही कोई आकर कहेगा कि हटो यहाँ से, इस वृक्ष के नीचे हम धुनी रमाना चाहते हैं, त्योंही वह कहेगा कि बन्द करो यह बकवास, इस पर मेरा पहले से कब्जा है, यह वृक्ष मेरा है, यह मन्दिर मेरा है, यह आश्रम मेरा है। परिग्रह से भागा हुआ आदमी फिर परिग्रह पैदा कर लेगा, क्योंकि उसे इसका पता न होगा कि परिग्रह क्या है। जनता उसको रोकेगी, अनुयायी उसको रोकेंगे। तब संन्यासी बहुत सूक्ष्म रास्ते खोजेगा। वह अनुयायी इकट्ठा करने लगेगा। जो मजा किसी को तिजोरी के सामने रुपया गिनने में आता है, वही मजा उसको अनुयायियों को गिनने में आता है।

जिन्दगी भागने से नहीं समझी जा सकती। जिन्दगी जहाँ है वहीं उसे समझने की जरूरत है और जब वह समझ ली जाती है तो अचानक हम पाते हैं कि कुछ चीजें एकदम विदा हो गईं। छोड़नी नहीं पड़ती। जिन्दगी की समझ आते ही माल-

कियत का भाव विदा हो जाता है। पति-पत्नी अपनी जगह हैं, लेकिन बीच से मालकियत चली गई। पति पति नहीं रह जाता, सिर्फ मित्र रह जाता है। पत्नी पत्नी नहीं रह जाती, सहचरी बन जाती है। अपरिग्रह का मतलब है हमारे और व्यक्तियों के बीच ही नहीं, हमारे और वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध का रूपान्तरण। मालकियत गिर गई और अपरिग्रह फलित हो गया। इसलिए अपरिग्रह त्याग से ज्यादा कठिन बात है। वैराग्य बड़ी सरल बात है, क्योंकि वह दूसरी अति है और मन का पेंडुलम दूसरी अति पर बहुत जल्द जा सकता है। जो आदमी बहुत ज्यादा खाना खाता है उससे उपवास कराना सदा आसान है। जो आदमी स्त्रियों के पीछे पागल है उसे ब्रह्मचर्य का व्रत दिलवाना बहुत आसान है। जो आदमी बहुत क्रोधी है, उसे अक्रोध की कसम दिलवाना सदा आसान है। लेकिन, ध्यान रहे, अक्रोध का यह व्रत भी क्रोधी आदमी ही ले रहा है, इसलिए जल्द ले रहा है। अगर कम क्रोधी होता तो सोचकर लेता। अगर और कम क्रोधी होता तो शायद लेता ही नहीं, क्योंकि व्रत लेने के लिए भी क्रोध का होना जरूरी है।

अपरिग्रह जब फलित होता है तब मध्य में फलित होता है। आप अपरिग्रह की बिलकुल चिन्ता न करें। आप चिन्ता करें परिग्रह को समझने की। परिग्रह को छोड़ने की भी चिन्ता न करें, चिन्ता करें उसे समझने की। आप देखेंगे कि सब मिल जाय फिर भी कुछ नहीं मिलता, हम खाली के खाली ही रह जाते हैं। और स्मरण रखें कि जिन्हें हम बाँधते हैं उनसे ही हम बँध भी जाते हैं और उनके गुलाम हो जाते हैं। अपरिग्रह वहाँ है जहाँ न त्याग है, न भोग, न वस्तुओं की पकड़ और न वस्तुओं का त्याग।



तृतीय अध्याय

अचौर्य

दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ।।[1]

—उत्त० अ० १९, गा० २८

हिंसा का एक आयाम परिग्रह है। हिंसक हुए बिना परिग्रही होना असम्भव है। जब परिग्रह विक्षिप्त हो जाता है तब चोरी का जन्म होता है। चोरी परिग्रह की ही विक्षिप्तता है। यदि परिग्रह स्वस्थ हो तो उससे धीरे-धीरे अपरिग्रह का जन्म होता है। जब वह अस्वस्थ होता है तब परायी चीज अपनी दिखाई पड़ने लगती हैं, यद्यपि दूसरा अपना नहीं दिखाई पड़ता। अस्वस्थ परिग्रही दूसरे को तो दूसरा मानता है, लेकिन दूसरे की चीज को अपना मानने की हिम्मत करने लगता है। अगर दूसरा भी अपना हो जाय तब दान पैदा होता है। जब दूसरे की चीज भर अपनी हो जाय और दूसरा दूसरा रह जाय, तब चोरी पैदा होती है।

चोरी और दान में बड़ी समानता है। दोनों एक ही चीज के दो छोर हैं। यदि चोरी में दूसरे की चीज को अपना बनाने की कोशिश है तो दान में दूसरे को अपना बनाने की कोशिश। चोरी में हम दूसरे की चीज छीनकर अपनी कर लेते हैं, दान में अपनी चीज दूसरे की कर देते हैं, एक अर्थ में दान चोरी का प्रायश्चित्त है। दानी अक्सर अतीत का चोर होता है और चोर अक्सर भविष्य का दानी। धर्म का सम्बन्ध वस्तुओं की चोरी से उतना नहीं जितना गहरी चोरियों से है। चोरी शब्द का गहरा आध्यात्मिक अर्थ है। अगर किसी दिन समाज पूरी तरह समृद्ध हो गया तो चोरी बन्द हो जायगी। वस्तुओं की चोरी अजिकतर गरीबी के कारण पैदा होती हैं। लेकिन और भी चोरियाँ हैं। महाव्रत का सम्बन्ध इन गहरी चोरियों से है।

चोरी का गहरा आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जो मेरा नहीं है उसे मैं अपना घोषित करूँ। बहुत-कुछ मेरा नहीं है जिसे मैंने अपना घोषित किया है, यद्यपि मैंने कभी किसी की चोरी नहीं की। शरीर मेरा नहीं, है लेकिन मैं घोषित करता हूँ कि यह मेरा

---

१. दाँत कुतरने का तिनका भी उसके मालिक के दिए बिना ग्रहण न करना, साथ ही निरवद्य (पापरहित) और एषणीय वस्तुएँ ही ग्रहण करना—ये दोनों बातें अत्यन्त दुष्कर हैं। (एषणीयसाधुधर्म के नियमानुसार उपयोग में ली जाने योग्य।)

है। अध्यात्म की दृष्टि से यह चोरी हो गई। जिस दिन मैंने घोषणा की कि मैं शरीर हूँ उसी दिन आध्यात्मिक अर्थों में मैंने चोरी की। माँ के पेट में एक तरह का शरीर था मेरे पास। आज अगर मेरे सामने इसे रख दिया जाय तो मैं खाली आँखों से इसे देख नहीं सकूँगा और न यह मानने को राजी होऊँगा कि कभी यह मेरा शरीर था। फिर बचपन में एक शरीर था जो रोज बदलता रहा। इस प्रकार मुझे कितने ही शरीर मिले और इन सारे शरीर को मैं कहता रहा कि यह मैं हूँ। कोई अभिनेता उतना अभिनय नहीं करता जितना अभिनय मैं करता हूँ। बचपन से लेकर मृत्यु की घड़ी तक अभिनय करता रहूँगा। मेरा जीवन अभिनय की लम्बी कहानी है। सभी मुझ-जैसे ही हैं। ऐसा एक भी आदमी नहीं जो अभिनय न करता हो। कुशल-अकुशल का फर्क भले ही हो, लेकिन ऐसा कोई नहीं जो अभिनेता न हो। जिस दिन अभिनय करना बन्द हो जाय उसी दिन व्यक्ति के भीतर धर्म का उदय होता है।

जिस शरीर को हम अपना मानते हैं वह भी अपना नहीं है और हम जिस व्यक्तित्व को अपना मानते हैं वह भी अपना नहीं। हमारे मुखौटे उधार के मुखौटे हैं और अपने ऊपर लगाए गए चेहरे दूसरों के चेहरे। जो बड़ी से बड़ी आध्यात्मिक चोरी है वह चेहरों की चोरी है। हम जो भी बाहर से साधते हैं वह स्वभावतः हमारा चेहरा ही बनता है; जो भीतर से आता है वही हमारी आत्मा होती है। हम धर्म को बाहर से ही साधते हैं। अधर्म होता है भीतर, धर्म होता है बाहर। चोरी होती है भीतर, अचोरी होती है बाहर। परिग्रह होता है भीतर, अपरिग्रह होता है बाहर। इसलिए हम जिन्हें धार्मिक आदमी कहते हैं उनसे ज्यादा चोर व्यक्तित्व खोजना बहुत मुश्किल है। आध्यात्मिक अर्थों में चोरी है उसे दिखाने की कोशिश जो आप नहीं हैं। हम सब बहुत चेहरे तैयार रखते हैं। जब जैसी जरूरत होती है वैसा चेहरा लगा लेते हैं और जो हम नहीं हैं वह दिखाई पड़ने लगते हैं। हमारी मुस्कराहट आँसुओं को छिपाने का इन्तजाम होती है; हमारी प्रसन्न मुद्रा उदासी को दबा लेने की व्यवस्था होती है। आदमी जैसा भीतर है वैसा बाहर दिखाई नहीं पड़ रहा है। यह आध्यात्मिक चोरी है। इस प्रकार की चोरी करनेवाले लोग वस्तुएँ नहीं चुराते, व्यक्तित्व चुराते हैं। और याद रहे, वस्तुओं की चोरी बहुत बड़ी चोरी नहीं है, व्यक्तित्वों की चोरी बहुत बड़ी चोरी है।

जिस आदमी को अचोरी की साधना करनी हो उसे पहली बात यह समझ लेनी चाहिए कि वह भूलकर भी कभी व्यक्तित्व न चुराए। महावीर से जो व्यक्तित्व लेगा वह चोर हो जायगा। बुद्ध और कृष्ण से जो व्यक्तित्व लेगा वह चोर हो जायगा। अब दूसरा कोई भी आदमी दुबारा महावीर नहीं हो सकता—हो ही नहीं सकता। वे सारी की सारी स्थितियाँ दुबारा नहीं दोहराई जा सकतीं जो महावीर के होने के वक्त हुई थीं। न तो वह पिता खोजे जा सकते हैं, न वह माँ खोजी जा सकती है। न तो

वह युग खोजा जा सकता है और न वे चाँद-तारे जिनके नीचे महावीर का जन्म हुआ था। इसलिए दूसरा कोई आदमी जब भी महावीर होने की कोशिश करेगा तब वह चोर महावीर हो जायगा। इस तरह की चोरी को ही हमने, दुर्भाग्यवश, धर्म समझ लिया है। इसलिए हममें कोई जैन है, कोई ईसाई है, कोई हिन्दू है, कोई बौद्ध है। यह धर्म के नाम पर गहरी चोरी है। अनुयायी चोर होगा ही आध्यात्मिक अर्थों में। उसने दूसरे व्यक्तित्वों को चुराकर अपने ऊपर ओढ़ना शुरू कर दिया है—उन व्यक्तित्वों को जो उसके नहीं हैं। पाखंड इसका परिणाम होगा। न तो मैं किसी की जगह जी सकता हूँ और न किसी की जगह मर सकता हूँ। मेरा अनुभव अनिवार्यरूपेण निजी होगा और जिस दिन निजी होगा उसी दिन मैं अचोरी को उपलब्ध होऊँगा, उसके पहले नहीं। जिस दिन मेरे पास कोई ओढ़ा हुआ व्यक्तित्व न होगा उस दिन मैं अचोरी को उपलब्ध हो जाऊँगा, अन्यथा मैं चोर ही बना रहूँगा।

ध्यान रहे, वस्तुओं की चोरी उस दिन बहुत जल्द बन्द हो जायगी, जिस दिन वस्तुएँ बहुत ज्यादा हो जायँगी, लेकिन व्यक्तित्वों की चोरी जारी रहेगी। हम चुराते ही रहेंगे, दूसरों को ओढ़ते ही रहेंगे। इस पर आप जरा गौर करेंगे कि आप स्वयं होने की हिम्मत जुटा पाए या नहीं। अगर नहीं जुटा पाए तो आपके व्यक्तित्व की अनिवार्य आधार-शिला चोरी की होगी। आपने कोई और बनने की कोशिश तो नहीं की ? आपके चेतन-अवचेतन में कहीं भी तो किसी और जैसा हो जाने का आग्रह नहीं है ? अगर है तो उस आग्रह को ठीक से समझकर उससे मुक्त हो जाना जरूरी है, अन्यथा अचोरी की स्थिति पैदा नहीं होगी। और यह चोरी एक ऐसी चोरी है जिससे आपको कोई रोक नहीं सकता। धन के चोर को तो पकड़ा जा सकता है परन्तु व्यक्तित्व जैसी सूक्ष्म चीज के चोर को कौन पकड़ेगा ? कैसे पकड़ेगा ? व्यक्तित्व की चोरी एक ऐसी चोरी है जिसमें किसी से कुछ छीनते भी नहीं और आप चोर हो जाते हैं। व्यक्तित्व की चोरी आसान और सरल है। सुबह से उठकर यह देखना जरूरी है कि मैं कितनी बार दूसरा हो जाता हूँ, कितनी बार व्यक्ति नहीं हो पाता व्यक्तित्वों के कारण।

मुझे तो ऐसा लगता है कि चोरों के पास अक्सर अपना व्यक्तित्व होता है, परन्तु साधुओं के पास नहीं होता। अगर आप चोरों की आँखों में झाँकें तो ऐसा लगेगा कि वे जो हैं, हैं; मन्दिरों में जाएँ और साधुओं की आँखों में झाँकें तो लगेगा कि वे जो नहीं हैं, वही दीख रहे हैं। वे महावीर की तरह खाते-पीते हैं, उठते-बैठते हैं, ठीक महावीर के शब्द बोलते हैं। लेकिन यह होना केवल बाहर से है। बुरा आदमी अक्सर वही होता है, जो वह है, क्योंकि बुरे को कोई ओढ़ता नहीं। अच्छा आदमी अक्सर वही होता है जो वह नहीं है, क्योंकि अच्छे को ओढ़ने का मन होता है। अच्छा होना तो बहुत कठिन है, ओढ़ना बहुत सरल है। अच्छा होना तपश्चर्या है,

लेकिन अच्छे को ओढ़ लेना खेल है, कन्वीनिएण्ट है। अनैतिक जगत् में नैतिक होना तपश्चर्या है, एक बुरे समाज में नैतिक होना कठिनाई मोल लेना है। चारों तरफ से चोटें पड़ती हैं, इसलिए सुविधापूर्ण है वस्त्र ओढ़ लेना। नैतिकता के वस्त्र ओढ़ो बाजारों में, सार्वजनिक स्थानों में।

इसलिए हमारे पास दो तरह के चेहरे हैं—प्राइवेट फेसेज और पब्लिक फेसेज। हमारे ऊपर नकली चेहरों की इतनी परते हैं और अनन्त जन्मों की चोरी इतनी गहरी और इतनी लम्बी है कि हमारा असली चेहरा—निजी चेहरा—बिलकुल छिप-सा गया है। एक मुखौटा उतारो तो दूसरा उसके नीचे है। प्याज की तरह हो गए हैं हम सब। हमने अनन्त जन्मों में इतने व्यक्तित्वों की चोरी की है और इतने मुखौटे ओढ़े हैं कि हमारा अपना तो कोई चेहरा ही नहीं रह गया है। अगर हमारे छिलके उतारे जाएँगे तो आखिर में शून्य रह जायगा। उसी शून्य से अचोरी में गति होगी, उसके पहले नहीं। अगर हमें यह पता चल जाय कि हमारा कोई चेहरा ही नहीं है तो बड़ी उपलब्धि है यह।

चोरी से बचने की कोशिश का नाम अचोरी नहीं है। जो चोरी से बचा है वह भी चोरी से बचा हुआ चोर है; जिसने चोरी की है वह चोरी में फँस गया चोर है। दोनों ही चोर हैं। एक की चोरी व्यवहार तक चली गई है, दूसरे की चोरी मन तक रह गई है। लेकिन अचौर्य का सम्बन्ध असली चेहरे से है, अपने चेहरे से है। क्या हमारे पास अपना चेहरा है? पति के सामने पत्नी को कुछ और होना पड़ता है अपने पड़ोसियों के सामने कुछ और। तत्काल चेहरा बदल जाता है। अपने मालिक के सामने हम कुछ और होते हैं और अपने नौकर के सामने कुछ और। मालिक के सामने हम पूँछ हिलाते हुए होते हैं और नौकर के सामने उद्दंड। कई दफे बहुत लोगों के बीच हम गिरगिट हो जाते हैं। चेहरों की यह बदलाहट तनाव पैदा करती है। जिस आदमी के पास एक चेहरा है उसको तनाव नहीं होता। तनाव सदा होता है चेहरों को बार-बार बदलने से। लेकिन हम बहुत होशियार लोग हैं। गियर बदलने के परंपरागत तरीके की जगह हमने अब सरल तरीकों का आविष्कार किया है। अब मोटर गाड़ियों में ऑटोमैटिक गियर होते हैं। हम भी अपने चेहरे बदलते नहीं, हमारे चेहरे स्वतः बदल जाते हैं। चेहरे को बदलने के लिए हमने आटोमैटिक गियर खोज निकाले हैं। नौकर आया कि चेहरा बदला। मालिक आया कि चेहरा बदला। पत्नी आई कि चेहरा और हुआ। प्रेयसी आई कि चेहरा और हुआ। पुराने आदमी को धार्मिक होने में बड़ी सुविधा थी। उसके पास कन्वेन्शनल गियर थे। उसको चेहरा बदलना पड़ता था, इसलिए उसे यह भी पता चलता था कि मैं अपना चेहरा बदल रहा हूँ। आधुनिक सभ्यता ने कन्वेन्शनल गियर हटा दिए हैं। सभ्य आदमी और असभ्य आदमी में जो फर्क है वह मेरी दृष्टि में कन्वेन्शनल गियर और ऑटो-

मैटिक गियर का फर्क है, और कोई फर्क नहीं। सभ्य आदमी का धार्मिक होना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि उसे चोरी का पता ही नहीं चलता।

जीजस, बुद्ध, और महावीर एक असभ्य दुनिया में पैदा हुए थे। सभ्य दुनिया में हम बुद्ध, महावीर और जीजस-जैसे आदमी पैदा नहीं कर पा रहे हैं। असभ्य आदमी इतना बेचैन नहीं था। मैं आपसे कहना चाहूँगा कि अचोरी को समझने के लिए अपने चेहरे बदलने के प्रति आपको सजग होना पड़ेगा। अचोरी के महाव्रत में आप अपने चेहरे का बदलना देखें। घर से मन्दिर की ओर जाते समय जरा होशपूर्वक देखें कि चेहरा किस जगह बदलता है। किस जगह दूकानदार हटता है और सच्चा साधक आता है। जहाँ लिखा रहता है 'कृपया जूता यहाँ' वहीं नीचे तख्ती होनी चाहिए—'कृपया चेहरा यहाँ'। कई लोग तो अपना चेहरा लिये ही भीतर घुस जाते हैं। जूता लिये मन्दिर में चले जाएँ तो उतनी अपवित्रता नहीं होगी, जितनी चेहरा लिये चले जाएँ तो होगी।

मेरी सलाह है कि जब आप चेहरा बदलें तो जरा होश रखें कि आप इसे कब बदल रहे हैं। अब तक आप दूसरों पर हँसते रहे हैं, अब आप अपने ऊपर हँसना शुरू कर देंगे। और जब आप जान-बूझकर चेहरा बदलेंगे तो चेहरा बदलना मुश्किल हो जायगा और धीरे-धीरे आपको एहसास होगा कि आप हमेशा अभिनय करते रहे हैं। धीरे-धीरे चेहरा बदलना कठिन हो जायगा और जब चेहरा बदलना कठिन होगा तथा बीच का अन्तराल बढ़ेगा और आप कभी-कभी चेहरे के बिना रह जाएँगे, तब आपका असली चेहरा जनमेगा—आपके भीतर आपका चेहरा आना शुरू होगा। तो पहली बात यह है कि चौबीस घंटे बदलते हुए चेहरों का खयाल रखना और दूसरी यह कि किसी का चेहरा—चाहे वह महावीर का हो या कृष्ण का या क्राइस्ट का—अपना बनाने की कोशिश मत करना। भूलकर मत करना। अनुयायी बनना ही मत, अन्यथा चोर बने बिना कोई उपाय ही नहीं।

जो बहुत ईमानदारी से चोरी करता है वह चेहरे चुराता है; जो बेईमानी से चेहरे चुराता है वह चेहरे नहीं चुराता, सिर्फ विचार चुराता है। पंडित के पास सिर्फ विचार की चोरी होती है, तथाकथित साधु के पास चेहरों की चोरी। दो तरह की चोरी है—विचार की और चेहरे की। चेहरे की चोरी करनेवाले आदमी को हम ईमानदार चोर कहते हैं। जब आचरण से कोई विचार आता है तब उसकी सुगंध और होती है, क्योंकि आचरण आत्मा से आता है। जिस आदमी का आचरण विचार से आता है वह आदमी चोर है। शास्त्र से आया हुआ विचार खुद भी चोरी है, फिर शास्त्र से आए हुए विचार के अनुसार जीवन को ढाल लेना और बड़ी चोरी है। मैं नहीं कहता कि विचार के अनुसार आचरण हो। मैं कहता हूँ कि आचरण के अनुसार विचार हो।

ध्यान रहे, जिस आदमी को अपनी जिन्दगी में रूपान्तरण लाना हो उसे स्थगन से---पोस्टपॉन्मेंट से---बचना चाहिए। उसे चाहिए कि वह दूसरे को अपने कर्मों के लिए जिम्मेदार न ठहराए। जिसने भी इस दुनिया में स्थगन की नीति अपनायी, रूपांतरण में विलम्ब होने दिया और दूसरे को जिम्मेदार ठहराया, वह आदमी धार्मिक नहीं हो पाया। धार्मिक आदमी वह है जो कहता है कि पूरे का पूरा दायित्व मेरा है। अधार्मिक आदमी कहता है कि दायित्व किसी और का है, मैं तो भला आदमी हूँ, लोग मुझे बुरा किए दे रहे हैं। मैं कहता हूँ कि आधा अच्छा आदमी बुरे आदमी से भी बुरा है। आधे सत्य पूरे असत्यों से बुरे होते हैं, क्योंकि पूरे असत्य से मुक्त हो जायँगे आप, आधे असत्य से कभी मुक्त नहीं होंगे। आधा सत्य बंधन का काम करेगा।

तो मैं आपसे कहूँगा कि विचार के अनुसार आचरण मत करना, आचरण के अनुसार ही विचार करना, ताकि चीजें साफ हों और अगर चीजें साफ हुई तो कोई भी आदमी इस दुनिया में बुरे आदमी के साथ नहीं जी सकता। आप भी अपने बुरे आदमी के साथ नहीं जी सकते और एक दफा यह पता चल जाय कि मैं एक बुरी पर्त के साथ जी रहा हूँ तो इस पर्त को उखाड़ फेंकने में उतनी ही आसानी होगी जितनी पैर से काँटा निकालने में होती है। प्याज की इस पर्त को, इस ओढ़े हुए व्यक्तित्व को उघाड़कर फेंक देने में उतनी ही आसानी होगी जितनी शरीर से मैल को अलग कर देने में होती है। लेकिन अगर कोई आदमी अपनी मैल को सोना समझने लगे तो कठिनाई हो जायगी।

हम उपदेश ग्रहण करने को बहुत आतुर और उत्सुक होते हैं। फिर हम सोचते हैं कि उसके अनुसार आचरण बना लेंगे। यह आचरण वैसा ही होगा जैसा रंगमंच पर अभिनेता का होता है। पहले उसे खेल की स्क्रिप्ट मिल जाती है, पाठ मिल जाता है, फिर वह उसे कंठस्थ कर लेता है, इसके बाद वह रिहर्सल करता है और अन्ततोगत्वा आकर मंच पर दिखा देता है। अभिनय का मतलब ही है विचार के अनुसार आचरण, लेकिन आत्मा का मतलब कुछ और है। इसका मतलब है आचरण के अनुसार विचार।

अगर चोरी खोनी है तो ओढ़े हुए चेहरे खोने ही चाहिए और वह क्षण आना ही चाहिए जब आपका कोई चोर चेहरा न हो। चोर चेहरे को हटाइए, चाहे महावीर से लिये हों, चाहे बुद्ध या कृष्ण से। उन चेहरों को हटाइए और उसको खोजिए जो आपका है। जिस दिन आपके सारे चेहरे गिर जायँगे उस दिन अचानक आपके सामने वह रूप प्रकट होगा जो आपका है। जैसे ही वह रूप प्रकट होता है वैसे ही आप अचोरी को उपलब्ध हो जाते हैं। याद रखिए, जिस आदमी ने व्यक्तित्व चुराने बन्द कर दिए उसने चेहरे चुराने बन्द कर दिए। जिसने आचरण चुराने बन्द कर दिए वह आदमी वस्तुएँ नहीं चुरा सकता, यह असम्भव है।

कोई कह सकता है कि हमारे चोर होने में मात्राएँ हैं, डिग्रीज हैं। हो सकता है कि हम दो पैसे न चुराते हों, लेकिन इससे यह मत समझ लेना कि हम अचोर हैं। इससे क्या फर्क पड़ता है कि हमने दो पैसे चुराए कि दो लाख ? चोरी में कोई मात्रा हो सकती है ? दो पैसे चुराऊँ तो भी मैं उतना ही चोर हूँ जितना दो लाख चुराने वाला चोर होता है।

हम बच्चों से कहते हैं कि तुम विवेकानन्द-जैसे हो जाओ। इस बच्चे की कौन सी गलती कि वह विवेकानन्द जैसा हो जाय ? अगर वह विवेकानन्द-जैसा हो गया तो चोर हो गया। हम कहते हैं, महावीर जैसा हो जाओ। अब कोई गलती की है आपने पैदा होकर ? अगर महावीर को ही सिर्फ पैदा होने का हक है पृथ्वी पर, तो अबतक दुनिया खत्म हो जानी चाहिए। वह हो चुके पैदा, मामला खत्म हो गया। अब आपके होने की क्या जरूरत है ? महावीर की कार्बन कापी होने की क्या आवश्यकता है ? कृपा करके वह भी मत करना जो मैं कह रहा हूँ। मैं जो कह रहा हूँ, उसे समझ लेना और छोड़ देना। समझ आपके पास रह जाय, विचार नहीं। सुरभि रह जाय, फूल नहीं। यह समझ आपकी जिन्दगी को बदले तो बदलने देना, न बदले तो ऊपर से थोपने की कोशिश मत करना, अन्यथा चोरी जारी रहेगी।



चतुर्थ अध्याय

अकाम

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥[1]

—उत्त० अ० ९, गा० ५३

ऊपर जिन तीन व्रतों की हमने बात की उन सबके आधार में काम की शक्ति ही काम करती है। अकाम ही अहिंसा, अपरिग्रह और अचौर्य का आधार है; कामवासना अर्थात् चाह, हिंसा, परिग्रह और चौर्य का आधार। काम (कामना, इच्छा) के मार्ग में यदि बाधा उपस्थित हो तो काम हिंसक हो उठता है; अगर कोई बाधा न हो और काम सफल हो जाय तो वह परिग्रह बन जाता है।

विज्ञान की दृष्टि में आज सारा काम ऊर्जा का समूह है, एनर्जी है। धर्म इस शक्ति को परमात्मा का नाम देता है। विज्ञान इस शक्ति को अभी एनर्जी मात्र ही कह रहा है। विज्ञान थोड़ा आगे बढ़ेगा तो उससे एक और भूल टूट जायगी। जैसे विज्ञान को पता चला कि पदार्थ ऊर्जा का सघन रूप है वैसे ही उसे आज नहीं तो कल पता चलेगा कि चेतना का सघन रूप एनर्जी है। प्रत्येक व्यक्ति इसी ऊर्जा का स्फुलिंग है, एक छोटा-सा रूप है। यह ऊर्जा अगर बाहर की ओर बहे तो वह काम बन जाती है और अगर भीतर की ओर बहे तो अकाम बन जाती है, आत्मा बन जाती है। भेद सिर्फ दिशा का है। जब कामना घर की ओर लौट पड़ती है तब अकाम का जन्म होता है; जब काम-ऊर्जा बाहर की ओर बहती है तब आदमी क्षीण, निर्बल और निस्तेज होता चला जाता है। जिसे हमें पाना है, शक्ति उसी की ओर प्रवाहित होनी चाहिए। अगर हमें बाहर की वस्तुएँ उपलब्ध करनी है तो शक्ति को बाहर जाना पड़ेगा और अगर हमें आत्मा पानी हो तो शक्ति को भीतर जाना पड़ेगा।

काम को मैं बाहर बहती हुई ऊर्जा कहता हूँ: अकाम से मतलब है भीतर बहती हुई ऊर्जा। शक्ति चाहे तो बाहर की ओर बहे या भीतर की ओर। जब वह बाहर की ओर बहती है तब हमें सब-कुछ उपलब्ध हो सकता है, केवल आत्मा

---

१. कामभोग शल्यरूप हैं, कामयोग विष के समान हैं और कामभोग भयंकर सर्प-जैसे हैं। जो कामभोग की इच्छा करता है, वह उसे प्राप्त किए बिना ही दुर्गति में जाता है।

उपलब्ध नहीं हो सकती। व्यक्ति सब-कुछ पा सकता है, सिर्फ स्वयं को खो देता है। सब पा लेने का भी कोई सार नहीं, यदि स्वयं खो जाय। जब ऊर्जा भीतर की ओर बहती है तब वह अकाम बन जाती है। काम का अर्थ है--इच्छा, कामना, डिजायर। जब भी हम कोई कामना करते हैं तब हमें बाहर की ओर बहना पड़ता है। कुछ पाने को है बाहर, इसलिए हमें बाहर की ओर बहना पड़ता है। हम सब बाहर बहते हुए लोग हैं; हम सब कामनाएँ हैं। चौबीस घंटे हम बाहर की ओर बह रहे हैं; किसी को धन पाना है, किसी को यश, किसी को प्रेम। आश्चर्य उन लोगों को देखकर होता है जो परमात्मा को पाने के लिए बाहर की तरफ बहते चले जाते हैं। जिसे मोक्ष पाना है वह भी सोचता है कि मोक्ष कहीं ऊपर है, बाहर है।

परन्तु ध्यान रहे, धर्म का बाहर से कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए जिनके ईश्वर बाहर हों वे समझ लें कि उनका धर्म से कोई नाता नहीं है। जिनका मोक्ष बाहर हो वे अच्छी तरह विश्वास कर लें कि वे धार्मिक नहीं हैं। पाने की कोई भी चीज जिनके लिए बाहर हो वे समझ लें कि वे कामी हैं। सिर्फ एक ही स्थिति से काम से मुक्ति होती है और वह यह कि हम भीतर बहना शुरू करें।

जन्म के साथ हम शक्ति लेकर आते हैं और मृत्यु के साथ शक्ति गवाँकर वापस लौट जाते हैं। जो व्यक्ति मृत्यु के साथ भी शक्ति लेकर वापस लौटता है उसे फिर आने की जरूरत नहीं रह जाती। अकाम जन्म-मरण से मुक्ति है; काम बार-बार संसार में लौट आने का कारण है। काम है मृत्यु की खोज, अकाम है अमृत की तलाश।

स्मरण रहे कि मनुष्य की कोई भी कामना कभी ठीक अर्थों में पूरी नहीं होती, हो नहीं सकती। बाहर की तरफ दौड़ना ही जिसकी जिन्दगी बन गई है वह एक इच्का पूरी हुई नहीं कि दूसरी को जनमा लेता है। कहना चाहिए कि वह एक के बाद अनेक इच्छाओं को जनमा लेता है, फिर दौड़ना शुरू कर देता है। सच पूछिए तो हम बाहर की तरफ दौड़ती हुई ऊर्जाएँ हैं, इसलिए हम खाली कारतूसों की तरह मर जाते हैं। इसलिए हमारी मृत्यु सौंदर्य नहीं हो पाती, एक अनुभव नहीं बन पाती। मृत्यु की पीड़ा निस्तेज और खाली हो गए आदमी की है जो सब भाँति रिक्त हो गया है, जिसमें अब कुछ भी नहीं बचा। लेकिन मौत भी आनन्द देती है उसे जो खाली नहीं, भरा हुआ है। हम भरे हुए कैसे रह जायँ, इस रहस्य को समझ पाने के लिए अकाम है, लेकिन अकाम को समझने के लिए पहले काम की समस्त यात्रा समझ लेनी चाहिए। इसे समझ लें तो भीतर की तरफ बहना बड़ी सरल बात हो जाती है।

हमें पता है कि पदार्थ अणुओं से बना है। इस सदी में पता लगा है कि प्रत्येक

अणु के भीतर अनन्त ऊर्जा छिपी है। अगर अणु को तोड़ दिया जाय तो विस्फोट होता है और शक्ति बाहर बह जाती है। विज्ञान ने अणु को तोड़ा है, धर्म ने जोड़ा है। इसलिए धर्म का नाम है योग, जोड़। मनुष्य की चेतना भी अणु है और यदि हम उस अणु को टूटा हूआ रहने दें तो उससे सब बह जाता है, अनन्त ऊर्जा बाहर निकल जाती है। अगर वह अणु टूटे नहीं, वरन् संश्लिष्ट हो जाय, बन्द हो जाय तो भीतर अनन्त ऊर्जा उपलब्ध होती है। इस अनन्त ऊर्जा की अनुभूति अनन्त परमात्मा की अनुभूति है, इसका अनुभव अनन्त आनन्द का अनुभव है। इस अनुभव के बाद फिर कुछ अनुभव करने को शेष नहीं रह जाता। लेकिन ऐसा समझना चाहिए कि आदमी टूटा हुआ अणु है, चेतना का टूटा हुआ ऐटम है। उसमें छेद है।

जन्म के क्षण में हम ऊर्जा से भरे हुए होते हैं। जब तक जन्म नहीं होता तब तक हम भरी बाल्टी होते हैं। जन्म के साथ बाल्टी ऊपर उठी कुएँ से कि पानी गिरना शुरू हुआ। अगर ठीक से समझें तो जन्म के साथ ही हमारी मृत्यु शुरू हो जाती है, हमारा खाली होना शुरू हो जाता है। हम फूटी बाल्टी की तरह खाली होने लगते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपने पूरे जीवन की ऊर्जा को ठहरा ले तो वह जिस ताजगी का अनुभव करेगा उसका हमें कोई भी पता नहीं। और काम, ऊर्जा को खोने की विधि है। काम के अनेक रूप हैं जिनमें सर्वाधिक सघन रूप यौन है। इसलिए धीरे-धीरे काम और यौन, काम और सेक्स पर्यायवाची बन गए। भोजन से ऊर्जा मिलती है, नींद से ऊर्जा बचती है और व्यायाम से ऊर्जा जगती है। इस ऊर्जा का बहुत सा अंश सिर्फ जीवन-व्यवस्था में व्यय हो जाता है। भोजन के समय आप साधारण मृत पदार्थ को भीतर ले जाते हैं और आप की जीवन-ऊर्जा उसे जीवन्त बनाती है। इसमें बहुत ऊर्जा व्यय होती है। चलते-फिरते हैं तो ऊर्जा व्यय होती है, बैठते हैं तो ऊर्जा व्यय होती है। जीवन की इन सारी आवश्यक प्रक्रियाओं के बाद जो थोड़ी-बहुत ऊर्जा बचती है उसका आप सिर्फ सेक्स में उपयोग करते हैं। यह वैसा ही है जैसे कोई व्यक्ति दिन भर धन कमाए और संध्या समय जाकर उसे नदी में फेंक आए। यह बड़ी ऐब्सर्ड जिन्दगी है। अजीब पागलपन है! इकट्ठा करना, फेंकना; इकट्ठा करना, फेंकना!

ऊर्जा का इकट्ठा करना तो ठीक है, लेकिन खोने के लिए ही इकट्ठा करना बहुत बेमानी है। यह जिन्दगी नहीं हो सकती, कहीं भूल हो रही है! अगर कोई आदमी कहे कि मैं इसलिए मकान बनाता हूँ कि गिरा दूँ तो हम कहेंगे कि उसका दिमाग ठीक नहीं। लेकिन हम सब जिन्दगी में करते क्या हैं? यही तो करते हैं। इधर आप ऊर्जा कमाते और यौन में व्यय करते हैं उधर संन्यासी ऊर्जा को संदेह की दृष्टि से देखता है, उपवास करता है, खाना कम खाता है। आप कमाकर खो देते हैं, वह

कमाता ही नहीं । लेकिन संन्यासी लम्बे अरसे से अपने को धोखा दे रहा है । उपवास से यौन नष्ट नहीं होता, बेहोश पड़ा रहता है । पड़ा रहता है, प्रतीक्षा करता रहता है कि जब शक्ति मिले तो चलूँ।

गृहस्थ और संन्यासी भ्रान्तियों के उलटे छोर हैं। अकाम का अर्थ है कि शक्ति तो पैदा हो लेकिन यौन से विसर्जित न हो । जब शक्ति बहुत बड़े पैमाने पर संगृहित होती है, जब उसे सम्भोग में विसर्जित नहीं किया जाता, तब वह आपके भीतर ऊर्ध्व-गमन शुरू करती है। जब भी कोई शक्ति रोकी जाती है तब वह ऊपर उठती है । अभी आपकी शक्ति यौन-केन्द्र के ऊपर नहीं उठती। और ध्यान रहे, सेक्स मनुष्यका निम्नतम सेंटर है । समझ लें कि मनुष्य के भीतर सेक्स-जैसे छह द्वार और हैं और ऊर्जा एक-एक द्वार पर जाती है । जब वह यौन-केन्द्र से ऊपर उठकर अन्य चक्रों पर जाती है तब आप हैरान होते हैं और कहते हैं कि मैं कैसा पागल था, मैं शक्ति को कहाँ खो रहा था ? सचमुच आप व्यक्तित्व की पहली परत पर ही जीते हैं—सेक्स की परत पर जहाँ कंकड़-पत्थर से ज्यादा कुछ नहीं मिल सकता । अगर वहाँ से ऊर्जा इट्ठी हो और थोड़ी आगे बढ़े तो दूसरा चक्र सक्रिय हो उठता है, खुलने लगता है । जब आपकी ऊर्जा सातवें चक्र पर पहुँचती है, मस्तिष्क तक, तब सेक्स सेंटर (मूलाधार) और सहस्रार के बीच अद्भुत शक्ति प्रवाहित होने लगती है, आपकी कुंडलिनी जाग जाती है, आप आत्मज्ञान को उपलब्ध होते हैं । जिस दिन आपकी समस्त ऊर्जा इकट्ठी होकर आप के मस्तिष्क के चक्रों को चलाने लगती है, उस दिन पहली बार आप ब्रह्म को उपलब्ध होते हैं ।

लेकिन हम तो पहले ही चक्र पर खो जाते हैं । वह हमारा छिद्र सब-कुछ बिदा करवा देता है । लेकिन मैं यह नहीं कहता कि आप सेक्स को, काम-वासना को दबाएँ । अगर आपने दबाया और रोका तो वह विद्रोह कर उठेगी । शक्ति को दबाया नहीं जा सकता, सिर्फ मार्ग दिया जा सकता है । सेक्स से लड़नेवाले लोग जिन्दगी भर के लिए कामुक हो जाते हैं । सेक्स से लड़कर कभी कोई व्यक्ति ऊपर के चक्रों तक नहीं पहुँचा । ब्रह्मचर्य सेक्स से लड़ाई नहीं है ।

इसलिए याद रहे कि हमारे पास अतिरिक्त ऊर्जा चाहिए ही जो ऊपर के चक्रों को गतिमान कर सके । ऊर्जा को पैदा करने का ही नहीं, उसे नई दिशाएँ देने का भी इन्तजाम होना चाहिए । इस सम्बन्ध में दो-तीन सूत्र स्मरणीय हैं ।

पहला सूत्र तो यह है कि यदि हम वर्तमान में जीएँ तो ऊर्जा इकट्ठी होगी और ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगेगी । जो भविष्य में जीने की कोशिश करता है उसकी ऊर्जा बह जाती है। भविष्य दूर है और भविष्य से हमारा जो सम्बन्ध है वह कामना का ही हो सकता है । भविष्य है नहीं, भविष्य होगा । और होगा से हमारा सम्बन्ध सिर्फ वासना या इच्छा का हो सकता है । वासना का मतलब ही है भविष्य में जीने

की इच्छा, किन्तु जीवन है सदा अभी और यहीं। जिस व्यक्ति ने भविष्य में जीने की इच्छा प्रबल किया वह बाहर की तरफ बहता रहेगा और उसकी ऊर्जा खोती रहेगी। भविष्य हमारी ऊर्जा को बुरी तरह पी जाता है। चूँकि वर्तमान में ऊर्जा संगृहीत होती है, इसलिए यदि हम चाहते हों कि हमारी शक्ति अकाम तक पहुँच जाय और सत्य एवं ब्रह्म की उपलब्धि हो, तो हमें भविष्य की समस्त कामनाओं को धीरे-धीरे क्षीण कर देना चाहिए। हमें जीना चाहिए अभी और यहीं। यदि हम खाना खा रहे हों तो सिर्फ खाना खाएँ, दफ्तर की बात न सोचें। जब दफ्तर में हों तो दफ्तर में बैठकर खाना न खाएँ। जहाँ हम हों, वहीं प्रतिपल पूरा होने की कोशिश करें। हमारी आदतें वहाँ होने की हैं जहाँ हम नहीं हैं। जब हम कलकत्ते में होते हैं तो मन बम्बई में होता है। भीतर क्रोध करते वक्त प्रायश्चित्त भी करते हैं। जिस प्रेमी के लिए वर्षों इन्तजार किया था उससे मिलते ही कुछ और सोचने लगते हैं, निराश हो जाते हैं। जिस धन के लिए वर्षों मेहनत की थी वह भी हमें संतुष्ट नहीं कर पाता। हम पूरे वक्त चूकते चले जाते हैं।

अगर हमें शक्ति संगृहीत करनी है—और शक्ति के संगृहीत हुए बिना कोई अन्तर्यात्रा सम्भव नहीं—तो हमें वर्तमान में जीना सीखना होगा। वर्तमान सर्क्युलर है। जिस क्षण हम वर्तमान में होते हैं उस क्षण हम सरोवर की भाँति हो जाते हैं, गोल। वर्तुलाकार शक्ति हमारे भीतर घूमने लगती है, क्योंकि बाहर जाने के लिए उसे कोई मौका नहीं मिलता। मौका मिलता है तब जब व्यक्ति भविष्य में जीता है। अगर आप मुझे सिर्फ सुन रहे हैं तो आप की ऊर्जा तनिक भी क्षीण न होगी। आप एक वर्तुलाकार व्यक्तित्व बन जायँगे, आपका कोई आयाम न होगा। अगर सुनने के साथ आप सोच रहे हैं तो आप थक जायँगे और आपकी शक्ति क्षीण होगी। अगर मैं सिर्फ बोल रहा हूँ तो मैं थकनेवाला नहीं हूँ। क्रिया जब पूरी तरह होती है तब शक्ति का ह्रास नहीं होता। प्रेम अगर पूर्ण है तो शक्ति लाता है। क्रोध अगर पूर्ण है तो वह भी शक्ति नहीं खोता। जिस क्रिया को पूर्णता से किया जाय वही पुण्य है और जिसे पूर्णता में न किया जाय उसे मैं पाप कहता हूँ। पाप-पुण्य की और कोई कसौटी जगत् में नहीं।

चूँकि आपका क्रोध अधूरा होता है, इसलिए उसे दुबारा करने की जरूरत पड़ती है। अगर आप क्रोध को एक बार भी पूरा कर लें तो आपके चारों ओर नरक उपस्थित हो जायगा जिसमें दुबारा प्रवेश करना असम्भव हो जायगा। आग इतनी जोर से लगेगी कि उससे बाहर होने के सिवा और कोई रास्ता नहीं रहेगा। लेकिन हम तो कुनकुनी आग में जीते हैं, हम सब-के-सब ल्युकवार्म लोग हैं। इसलिए मैं कहता हूँ कि यदि काम का ऊर्ध्वगमन अभीष्ट हो और अकाम की यात्रा करनी हो तो प्रतिपल जीने की कोशिश करना। संन्यासी वह नहीं जो घर छोड़कर भाग जाय,

वरन् वह ऐसा व्यक्ति होता है जो प्रतिपल जीता है, जो अभी जीता है, यहीं जीता है। जो भी व्यक्ति इस चित्त-दशा में आ जाय, वह संन्यासी है। जो भी व्यक्ति सम्भोग के क्षण में पूरी तरह मौजूद है वह सम्भोग से मुक्त हो जाता है। उसे सम्भोग से दुबारा कोई रस नहीं मिलता। फिर भी, आदमी आतुर है सम्भोग के लिए। जब भी ब्रह्मचर्य की कसम खाता है तब सेक्स का विचार करता है। वह पागल है! उसका पागलपन जिन्दगी की ऊर्जा को कभी ऊपर जाने नहीं देता।

इसलिए मैं कहता हूँ कि अकाम की यात्रा तब शुरू होती है जब व्यक्ति पल-पल जीने लगता है। काम के लिए भविष्य जरूरी है। सच तो यह है कि कल अस्तित्व में होता ही नहीं, सिर्फ कामना में होता है। कल सिर्फ वासना की उत्पत्ति है। यह कहना कि समय के तीन हिस्से होते हैं--भूत, भविष्य और वर्तमान–गलत है। समय का सिर्फ एक ही रूप होता है--वर्तमान। समय तो हमेशा अभी है। अतीत हमारी स्मृतियों से और भविष्य हमारी कामनाओं से पैदा होता है।

काम-मुक्ति का पहला सूत्र है वर्तमान में जीने की कोशिश।

मैं जंगल में जाने को नहीं कहता। मैं कहता हूँ कि आप जहाँ हैं वहाँ पूरी तरह हों। भोजन करें तो पूरी तरह, सोयें तो पूरी तरह, क्रोध करें तो पूरी तरह।

दूसरा सूत्र है--सर्जनात्मक बनने की कोशिश।

जो आदमी सर्जनात्मक नहीं है, उसकी ऊर्जा निरन्तर सेक्स की ओर बहना चाहेगी।

हम 'क्रीएटिव' बिलकुल नहीं हैं। हमारे जीवन में सर्जना-जैसी कोई चीज नहीं है। आप कहेंगे--हमने कुर्सी बनाई है, हम फर्नीचर बनाते हैं। हम कपड़े बनाते हैं। परन्तु, यह न भूलें कि सर्जन और निर्माण में अन्तर है। उपयोगी चीज बनाने को हम निर्माण की संज्ञा देते हैं, लेकिन सर्जना वहाँ से शुरू होती है जहाँ से उपयोगिता खत्म होती है। चित्र बनाना या नाचना-गाना सर्जना है, मकान बनाना 'प्रोडक्शन' अथवा उत्पादन है। जब कोई गीत गाता है तब उसे सब मिल जाता है गाने में। लेकिन हाँ, अगर गायक भी प्रशंसा के लिए आतुर हो तो वह बाजारू हो जाता है। बाजार में बेचने के लिए बनाए गए चित्र उत्पादन की श्रेणी में आते हैं, सर्जना नहीं हैं। परमात्मा के इस जगत् को हम सर्जना कहते हैं, उत्पादन नहीं। परमात्मा को इससे कुछ भी उपलब्ध होनेवाला नहीं है। अगर कुछ मिला होगा तो इसके बनाने में ही मिला होगा। जिस आदमी की जिन्दगी में कुछ ऐसे क्षण हैं जब वह आनन्द और सर्जन में जीता है, वह धीरे-धीरे अकाम को उपलब्ध हो जाता है। काम हमेशा उपयोगिता का खयाल करता है, लाभ में जीता है। विशुद्ध सर्जना में आनन्द मिलने लगे तब समझना कि अकाम की उपलब्धि दूर नहीं है।

जिस व्यक्ति को धर्म के जगत् में प्रवेश करना हो उसे कुछ ऐसे काम खोजने

पड़ेंगे जो काम नहीं हैं, जो सिर्फ खेल हैं, लीलाएँ हैं। कृष्ण की तरह उसे यही समझना होगा कि जिन्दगी एक खेल है। नाच रहे हैं, पर कुछ मिलनेवाला नहीं। बाँसुरी बजा रहे हैं, पर कुछ मिलनेवाला नहीं। राम की तरह उसकी कसौटी उपयोगिता की न होगी। राम बहुत उपयोगितावादी हैं, इसलिए एक धोबी के कहने पर पत्नी को बाहर कर देते हैं। रघुकुल-परम्परा के लिए वे क्या नहीं करते? परन्तु यश, वंश आदि सब-कुछ उपयोगिता है, बहुत गम्भीर मामला है। अगर राम की जगह कृष्ण होते तो सीता को न निकालते। हो सकता है, वे खुद ही बाँसुरी बजाते हुए भाग जाते। वे सीता की अग्नि-परीक्षा भी न लेते—बहुत बेहूदी बात मालूम पड़ती। प्रेम की भी कहीं परीक्षा होती है? प्रेम अपने आप में पवित्र है: उसकी और कोई पवित्रता नहीं हो सकती। सीता ने राम की अग्नि-परीक्षा नहीं ली, यद्यपि राम भी अकेले थे, उनका भी क्या भरोसा? स्त्री का तो थोड़ा-बहुत भरोसा हो सकता है, पुरुष का होना जरा मुश्किल है। लेकिन सीता ने नहीं कहा कि राम की भी परीक्षा हो। सीता के लिए जिन्दगी एक गम्भीरता नहीं, खेल है। और स्मरण रहे, प्रेम परीक्षा नहीं माँगता, वह सब परीक्षाएँ दे सकता है।

जिन्दगी जितनी गम्भीर होती जा रही है कामुकता उतनी ही बढ़ती जा रही है। आप जितना गम्भीर होंगे, तनाव से उतना ही भरते जायँगे और तनाव से जितना ही भरेंगे उतना ही रिलीफ चाहेंगे, काम की ओर प्रवृत्त होंगे और आपकी कामुकता बढ़ेगी। आप शक्ति फेंककर अपने बोझिल चित्त को हलका करेंगे।

तीसरा सूत्र है—जिन्दगी को गम्भीरता से न लें। गम्भीरता बुनियादी रोग है, लेकिन आमतौर से साधु-संन्यासी बहुत गम्भीर होते हैं। जिन्दगी गम्भीरता नहीं है। जो जिन्दगी में गम्भीर है वह कभी काम से मुक्त नहीं हो सकता। जिन्दगी खेल बन जाय तो आदमी काम से मुक्त हो सकता है। ध्यान रहे कि बच्चे इतने अकाम इस कारण होते हैं कि उनकी जिन्दगी गम्भीर नहीं होती। जैसे-जैसे वे गम्भीर होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी जिन्दगी में सेक्स भरता जाता है।

सेक्सुअल मैच्युरिटि की दृष्टि से लड़कियाँ जहाँ चौदह साल में सयानी होती थीं वहाँ अब वे ग्यारह साल में सयानी होने लगी हैं और सम्भावना है कि इस सदी के अंत में वे सात साल में सयानी होने लगेंगी। असल में लड़कियाँ अब सात साल में ही उतनी गम्भीर हो जाती हैं जितनी चौदह साल में पहले हुआ करती थीं। शिक्षा, व्यवस्था, शिष्टाचार, सभ्यता आदि रोज भारी होती जा रही हैं। इस बोझ और गम्भीरता के अनुपात में ही बच्चे सेक्स की शक्ति को बाहर फेंकने के लिए मार्ग खोजने लगते हैं। इससे उलटा भी हो सकता है। अगर हम देर तक उन्हें हलका रख सकें तो बीस-पच्चीस साल तक वे काम से बचाए जा सकते हैं। जितनी गम्भीरता बढ़ेगी, उतना बोझ बढ़ेगा; जितना बोझ बढ़ेगा, उतना तनाव होगा और

जितना तनाव होगा उतना ही निकास की माँग होगी। इसी कारण पहले गुरुकुल में युवकों की जिन्दगी को खेल बनाया जाता था। न परीक्षाओं की गम्भीरता थी, न जिन्दगी से लड़ने की गम्भीरता थी। जिन्दगी एक खेल था गुरुकुल में, इसलिए पच्चीस साल तक युवक काम के बाहर रह जाते थे उन दिनों।

अब ऐसा नहीं होता। बाप जब भी बेटे से मिलता है तब गम्भीर होता है। बेटा भी बाप से बचा रहता है। मेरी सलाह है कि आप बच्चों के साथ खेलें--एक घंटा खेलें और देखें कि आपकी काम-शक्ति में कितना फर्क पड़ने लगा है! चित्र बनाएँ, घर की दीवालों को स्वयं रँगें। यह जरूरी नहीं कि वह चित्र किसी बड़े चित्रकार के चित्र-जैसे हों; जरूरी यह है कि वह आपसे निकले। घर के लोगों के साथ नाचें, खेलें--कभी घर के लोगों के साथ नाचा है आपने? अकाम की ओर बढ़ना चाहते हो तो जीवन को सर्जनात्मक बनाएँ--दो-चार क्षण भी सर्जन में लगाएँ, बगीचे में काम करें, नाचें, गाएँ, गम्भीरता को कुछ देर के लिए अलग कर दें। पल-पल जीयें, भविष्य और कामना से मुक्त हों, सर्जनात्मक बनें। चरित्र बनाने में ही न लगें, बल्कि जीवन में थोड़ी-सी लीला भी आने दें और, अंतिम बात, जब भी मौका मिले तो होशपूर्वक समस्त इन्द्रियों के द्वार बन्द कर भीतर देखें, भीतर सुनें, भीतर सूँघें। इन्द्रियों से जो बाहर किया है वह भीतर करने की कोशिश करें। भीतर के अपने नाद हैं, अपने स्वाद हैं।



पंचम अध्याय

अप्रमाद

दुमपत्तए पंडुयए, जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥[1]

—उत्त० अ० १०, गा० १

यद्यपि मनुष्य सात मंजिलों का भवन है, फिर भी वह केवल एक मंजिल को जानता है, उस एक में ही जीता और मर जाता है। जिस मंजिल में हम जीते हैं, उसका नाम चेतन मन है। उसके नीचे दूसरी मंजिल है जो तलघरे में है, जमीन के नीचे है। उस मंजिल का नाम अचेतन मन है। उससे भी थोड़ा और नीचे समष्टि अचेतन का तल है और उसके भी नीचे ब्रह्म अचेतन का तल। जिस मंजिल पर हम रहते हैं उसके ठीक ऊपर अति-चेतन की ('सुपर-कॉन्सस' की) मंजिल है और उसके ऊपर समष्टि चेतन ('क्लेक्टिव कॉन्सस') की मंजिल। समष्टि चेतन की मंजिल के ठीक ऊपर ब्रह्म-चेतन ('कॉज्मिक कॉन्सस') का तल है। यद्यपि यह मकान सतमंजिला है, फिर भी हममें से अधिकांश लोग चेतन मन में ही जीते और मर जाते हैं। आत्मज्ञान का अर्थ है सात मंजिल की इसी व्यवस्था से पूर्णतया परिचित हो जाना। इसमें कुछ भी अनजाना रहा तो मनुष्य अपना मालिक कभी नहीं हो सकता।

चेतन मन की मंजिल में ही जीते रहने का नाम प्रमाद है। प्रमाद का अर्थ है मूर्छा, बेहोशी, निद्रा या सम्मोहित अवस्था। और साधना का लक्ष्य है इस प्रमाद को तोड़ना, इस मूर्छा से जागना। चूंकि हम एक ही मंजिल में जीते है और केवल उससे ही परिचित रहते हैं, हमारी अवस्था उन लोगों की-सी होती है जो सोए हुए होते हैं। यदि हम जागे हुए होते तो बाकी मंजिलों से अपरिचित रह जाना असम्भव होता। हम सोए हुए हैं, इसलिए हम जहाँ हैं वहीं जी लेते हैं। हमें और मंजिलों का पता नहीं चलता।

फ्रॉयड ने जिस अचेतन मन की बात की है वह उसका अनुभव नहीं है, केवल अनुमान है। इसलिए पश्चिम का मनोविज्ञान अभी भी योग नहीं बन पाया। मनोविज्ञान उस दिन योग बनेगा, जिस दिन वह अनुभव में रूपांतरित होगा।

---

१. जिस तरह रात बीतने पर वृक्ष के पीले पत्ते झड़ जाते हैं, उसी तरह मनुष्य-जीवन का भी एक-न-एक दिन अन्त आता ही है; ऐसा समझकर हे गौतम ! तू समय-मात्र का प्रमाद न कर।

ऊपर और नीचे फैली हुई मन की मंजिलों का हमें तब तक पता नहीं चलेगा जब तक हम अपनी मंजिल में सोए हुए हैं। इसलिए पहले हम अपने सोए हुए होने के तथ्य को ठीक से समझ लें जिससे जागने की यात्रा शुरू की जा सके। क्या आपने कभी खयाल किया कि आप सोए हुए आदमी हैं ? शायद नहीं, क्योंकि सोए हुए आदमी को इतना भी पता चल जाय कि मैं सोया हुआ हूँ तो जागने की शुरुआत हो जाती है। असल में इतनी बात का पता चलना कि मैं सोया हुआ हूँ, जागने की खबर है। सोए हुए का अनुभव भी जागने का अनुभव है, नींद का नहीं।

हम क्रोध करते हैं, गालियाँ बकते हैं, साँझ को क्षमा माँगते हैं और कहते हैं—माफ करें, मेरे मुँह से ऐसी बातें निकल गईं जिन्हें मैं नहीं चाहता था। क्या पूछा जा सकता है कि मैं नहीं चाहता था तो बातें कैसे निकल गईं ? क्या मैं जागा हुआ था या सोया हुआ ? जब-जब मैंने क्रोध किया है, तब-तब मुझे यह अनुभव हुआ है कि जो मुझे नहीं करना चाहिए वही मैं करता रहा हूँ। इससे जाहिर है कि मैं सोया हुआ आदमी हूँ। यदि सोया हुआ न होता तो मुझे इस बात का पता रहता कि मैं वही कर रहा हूँ जो मुझे नहीं करना चाहिए। हम पश्चात्ताप इसलिए करते हैं कि हमारे समस्त कार्य बेहोशी में होते हैं। जब होश का क्षण आता है तब पछतावा होता है। होश में जीनेवाले आदमी की जिन्दगी में पश्चात्ताप नहीं होता, क्योंकि वह जो भी करता है वह पूरी तरह समझ-बूझकर करता है। पछताता वह है जो सोया हुआ है।

अँगरेजी का एक मुहावरा है—'फॉलिंग इन लव'। मुहावरा इसलिए ठीक है कि हम प्रेम भी सोयी हुई हालत में करते हैं, प्रेम में मूर्छित हो जाते हैं। इसलिए प्रेमी-जन अक्सर कहते हैं कि मैंने प्रेम नहीं किया, हो गया ! हो गया का क्या मतलब है? चीजें नींद में ही होती हैं, जागने में की जाती हैं। आपने प्रेम किया है, या हो गया है ? अगर हो गया है तो आप बेहोश आदमी हैं। आप मशीन हैं, यंत्र हैं, आप पर चीजें घट रही हैं। आप उन्हें कर नहीं रहे, यही आपका प्रमाद है। आप जो भी कर रहे हैं, सोए हुए कर रहे हैं। प्रेम, घृणा, दोस्ती, दुश्मनी, क्रोध, क्षमा, प्रायश्चित्त—सब सोए हुए हो रहा है। आपको जिया जा रहा है। आपकी इस अवस्था का नाम प्रमाद है। मैं रात की नींद की बात नहीं कर रहा हूँ, दिन की नींद की बात कर रहा हूँ, जब कि हम जागे हुए भी सोए हुए होते हैं। कभी-कभी, किसी खतरे के क्षण में, थोड़ी देर हम जाग उठते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए हमारे मन में खतरे की भी इच्छा पैदा होती है, खतरे में भी थोड़ा रस आने लगता है, क्योंकि खतरे में हम जागते हैं। जुए का आकर्षण जागने के रस से ही आता है। हम हजार तरह के खतरे चुनते हैं, जिनमें हम क्षणभर को जाग पाते हैं। फिर नींद शुरू हो जाती है। इन आकस्मिक उपायों से कोई कभी पूरी तरह जाग नहीं सकता।

साधारण जन की बात तो दूर रही, आज का कलाकार भी सोया हुआ आदमी है। सच पूछिए तो जहाँ कहानी खत्म होनी चाहिए वहाँ खत्म न होकर वह कहीं और भटक जाती है, कहीं और पूरी होती है। कवि चाहता कुछ है, लिखता कुछ। इसका कारण यह है कि सचेतन कला अभी तक पैदा ही नहीं हुई, निर्वैयक्तिक कला का अभी तक जन्म ही नहीं हुआ। अभी तो सोए हुए आदमी कविता लिखते हैं। वे शुरू कुछ करते हैं और हो कुछ जाता है ! सोए हुए आदमी चित्र बनाते हैं, कहानियाँ रचते हैं, दुनिया चलाते हैं। सोए हुए आदमी का क्या भरोसा ? लेकिन कहानी की बात छोड़ दें। जिन्दगी में आप जो बनना चाहते थे, वह बन पाए ? शायद ही कोई ऐसा मिले जो कहे—मैं बन गया जो मैं बनना चाहता था।

हमें इस बात का साफ-साफ ज्ञान नहीं होता कि हम क्या बनना चाहते हैं। नींद में यह कैसे साफ हो सकता है ? पता ही नहीं चलता कि हमें क्या बनना है। एक धीमी-सी, सोयी हुई आकांक्षा होती है कि मैं यह बनना चाहता हूँ, साफ नहीं। साथ ही यह भी पता चलता रहता है कि मैं वह भी नहीं बन पा रहा हूँ जो मैं बनना चाहता था। मरते वक्त सभी को लगता है कि जिन्दगी बेकार गई, जो होना चाहते थे वह नहीं हो पाये--हाँलाकि मरता हुआ आदमी भी साफ-साफ नहीं कह सकता कि क्या होना चाहते थे।

हम जो तय करते हैं वह खो जाता है; जो नहीं तय करते वह हो जाता है। तय करके लौटते हैं कि आज पत्नी से झगड़ा नहीं करना है। पत्नी तय करके रखती है कि अब कलवाली साँझ फिर न आ जाय। फिर वे आमने-सामने आते हैं और कल की साँझ वापस लौट आती है। जो तय किया था वह खो जाता है ! यह हमारी सोयी हुई अवस्था है। महावीर ने इसे प्रमाद कहा है--प्रमाद, अर्थात्, सोए हुए होना। यदि यह स्मरण आ जाय कि मैं सोया हुआ हूँ तो खोज शुरू हो सकती है। इसलिए अप्रमाद का पहला सूत्र है इस बात की समझ कि मैं सोया हुआ हूँ, नींद का बोध। नींद को तोड़ने का पहला सूत्र है नींद को ठीक से पहचान लेना, यह जान लेना कि आप चाहे दूकान जाते हों या मन्दिर, आप हमेशा सोए हुए जाते हैं, सोए हुए मित्रता करते हैं, सोए हुए उठते-बैठते हैं। ध्यान रहे, कुछ प्रमादी धर्म को भी नींद में ही साधते हैं, नींद में ही मालाएँ फेरते हैं, नींद में ही व्रत करते हैं। धर्म सोए-सोए नहीं हो सकता। सोए-सोए सिर्फ अधर्म हो सकता है। इसलिए धर्म के नाम पर भी सिर्फ अधर्म ही होता है।

साधना गहराई है और सिद्धि एक ऊँचाई। साधना नीचे जाती है, सिद्धि ऊपर जाती है। जड़ें जितना ही नीचे उतरने लगती हैं, वृक्ष उतना ही आकाश को छूने लगते हैं। अगर वृक्ष को ऊपर जाना है तो जड़ को नीचे जाना ही पड़ता है। सीधे ऊपर जाने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए साधक को पहले अपनी ही गहराइयों

में उतरना पड़ता है ताकि वह सिद्धि के आकाश को छू सके। उसे चेतन से अचेतन में, अचेतन से ब्रह्म-अचेतन में जाना पड़ता है। जब वह चेतन से अचेतन में जाता है तब अचानक ऊपर का भी एक दरवाजा खुल जाता है—अतिचेतन का दरवाजा। जब वह समष्टि अचेतन में प्रवेश करता है तो साथ ही समष्टिगत चेतन का भी दरवाजा खुल जाता है। जब वह ब्रह्म-अचेतन में जाता है तब उसी समय ब्रह्मचेतन का दरवाजा खुल जाता है। वह जितना नीचे उतरता है उतना ही ऊँचा उठता जाता है। इसलिए ऊँचाई की फिक्र छोड़ दें, गहराई की फिक्र करें।

अपनी ही गहराइयों में हम कैसे उतरें ?

अगर कोई पूछे कि हम तैरना कैसे सीखें तो उसे हम क्या कहेंगे ? उसे हम कहेंगे कि तैरना शुरू करो। पहली बार जब कोई पानी में उतरता है तब बिना तैरना सीखे ही उतरता है। असल में बिना सीखे तैरने के लिए उतर जाने से ही सीखने की शुरूआत होती है। हाँ, इतनी ही सावधानी बरतें कि गहरे पानी में न उतरें।

तो आपसे मैं परम जागरण की आकांक्षा नहीं रखता हूँ। थोड़े-से पानी में उतरना शुरू करें। अपनी छोटी-छोटी क्रियाओं को जानना शुरू करें। छोटी-छोटी क्रियाओं के प्रति जागना शुरू करें। कपड़ा पहन रहे हों तो जागे हुए पहनें; जूते डाल रहे हों तो जागे हुए डालें; कुछ सुन रहे हों तो जागे हुए सुनें। इसके बाद उन क्रियाओं के प्रति जागें जिनके लिए पछताना पड़ता है। क्रोध, घृणा, अभद्रता आदि के प्रति जागें। अगर आप सुबह से उठकर साँझ तक जागने का प्रयोग करेंगे तो थोड़े ही दिनों में आप एकदम दूसरे आदमी हो जायँगे। आपका प्रमाद टूट जायगा। इसका प्रमाण क्या होगा कि आपका प्रमाद टूट गया ? इसका प्रमाण यह होगा कि नींद में भी आपका जागरण शुरू हो जायगा। जिस दिन जागरण में आपकी नींद टूटेगी उसी दिन आप नींद में भी सचेतन प्रवेश कर सकेंगे।

आप रोज सोते हैं। यदि आपकी उम्र साठ साल की है तो आपने बीस वर्ष सोकर बिताए। लेकिन आपको पता है कि नींद कब आती है, कैसे आती है ? क्या है नींद ? अपने जीवन की इतनी बड़ी घटना से भी आपका परिचय नहीं हुआ रहता। अभी आप न तो यह जानते हैं कि आप कब सोए, नींद का अँधेरा आपके ऊपर कैसे गिरा, आप नींद में कैसे डूबे और न यह कि सुबह नींद कैसे टूटी, कैसे विदा हो गई ? जिस दिन आप जागरण की घड़ियों में जाग जायँगे और जागने की क्रिया जागकर करने लगेंगे उस दिन आपका नींद में भी सचेतन प्रवेश होगा।

महावीर से किसी ने पूछा कि हम क्या करें ? महावीर ने उत्तर दिया, क्या करने की उतनी फिक्र मत करो, जो करते हो उसे होशपूर्वक करो। क्रोध को होशपूर्वक देखना कठिन है, इसलिए एक उपाय करें। क्रोध करने का अभिनय करें, स्वाँग

रचें। घर जाएँ तो तय करके जाएँ कि टूट पड़ना है किसी के ऊपर। पूरी तरह क्रोध करें तो आप देख पाएँगे क्रोध को ! इधर क्रोध चलेगा, उधर आप देखते रहेंगे कि क्रोध चल रहा है। अगर एक बार भी हम क्रोध का अभिनय कर सके तो फिर कभी क्रोध बिना अभिनय के नहीं होगा। अभिनय ही हो जायगा। तो जो चीजें गहरी हैं उनको अभिनय से शुरू करें। जो चीजें गहरी हैं यदि उनपर होशपूर्वक अभिनय करें तो आप जाग सकेंगे और अगर जागने के क्षणों में जागना आ जायगा तो फिर नींद के क्षणों में जागना शुरू हो जायगा। जिस दिन आप नींद में जाग जाएँगे, उस दिन आप अचेतन में प्रवेश करेंगे। कृष्ण ने गीता में यही बात कही है। रात में जब योगी सोते हैं तब भी वे जागते रहते हैं। अगर आप नींद में जागे हुए सो सके तो एक अद्भुत, चमत्कारपूर्ण घटना घटेगी—दूसरे दिन सुबह आप जैसी ताजगी का अनुभव करेंगे वैसी ताजगी का आपको कभी पता भी न रहा होगा। उस ताजगी का शरीर से कोई सम्बन्ध न होगा। बहुत गहरे में वह आपकी आत्मा की ताजगी होगी। आपके स्वप्न तिरोहित हो जायँगे, क्योंकि आप स्वप्नों के प्रति जाग जायँगे। ऐसा नहीं कि आपको बाद में पता चलेगा कि स्वप्न आए थे। जब स्वप्न आने लगेंगे तभी आपको इसकी जानकारी हो जायगी।

चेतन मन की क्रियाओं के प्रति जागने से अचेतन मन में प्रवेश होता है, अचेतन मन की क्रियाओं के प्रति जागने से समष्टि अचेतन में प्रवेश। स्वप्न अचेतन मन की ही क्रिया है। स्वप्न के प्रति जागते ही आप पाएँगे कि एक दरवाजा और खुल गया जो समष्टि अचेतन का दरवाजा है। इस समष्टिगत अचेतन की अपनी क्रियाएँ हैं जिनको धर्मों ने बड़ा महत्त्व दिया है। इस सामूहिक अचेतन से ही दुनिया के सभी मिथक पैदा हुए हैं। सृष्टि का जन्म, प्रलय की सम्भावना, परमात्मा का रूपरंग, आकार, नाद आदि का सम्बन्ध इसी अचेतन से है। नृत्य भी सामूहिक अचेतन से पैदा होता है, इसलिए नृत्य को समझने के लिए दूसरे की भाषा का ज्ञान अनिवार्य नहीं। जो फ्रांसीसी भाषा नहीं जानता वह भी पिकासो की पेंटिंग का आनन्द ले सकता है। चूँकि बहुत गहरे में हम सब एक हैं इसलिए दुनिया के सारे धर्मों के प्रतीक कई बातों में समान हैं। दुनिया की भिन्न-भिन्न भाषाओं में जो समानता है वह समष्टिगत अचेतन की समानता है। सागर की लहरों की तरह हम अलग-अलग हैं, लेकिन बहुत गहरे में हम परस्पर अभिन्न हैं।

समष्टिगत या सामूहिक अचेतन की क्रियाओं के प्रति जागने से ब्रह्म-अचेतन में प्रवेश होता है। ब्रह्म-अचेतन में उतरने का अर्थ प्रकृति में उतरना है। प्रकृति अर्थात् वह जो कृति के भी पहले था, अर्थात् प्री-क्रीएशन। जो सृष्टि के पहले था, जिससे सब पैदा हुआ, जो पैदा होने के पहले भी था वह है प्रकृति। जिसे ब्रह्म-अचेतन कहा जाता है वह है प्रकृति। उससे ही सब आया। चेतन और अचेतन मन तो मेरा है,

लेकिन समष्टि-अचेतन हमारा है, मेरा नहीं। ब्रह्म-अचेतन हमारा भी नहीं, सबका है। उसमें पत्थर, पहाड़, पशु-पक्षी, नदी-नाले सब सम्मिलित हैं। वह प्रकृति है। वहाँ जो उतर जाय उसके लिए आगे उतरने को नहीं रहता। वह अनन्त है, अथाह है, शून्य खाई है। उसमें उतरने की प्रक्रिया अप्रमाद है। जहाँ आप हैं वहीं से जागना शुरू करें। जिस दिन आप वहाँ जाग जाएँगे, उस दिन आपको नीचे के दरवाजे की कुंजी मिल जायगी। फिर वहाँ जागना शुरू करें और नीचे की कुंजी मिल जायगी। जब तक आप चेतन में हैं, तब तक आप अति-चेतन में नहीं जासकते, ऊपर नहीं बढ़ सकते। आप की जड़ों को अचेतन में उतरना ही पड़ेगा। जिस दिन आपकी जड़ें अचेतन में उतर जायँगी उस दिन आपकी शाखाएँ अति-चेतन में फैल जायँगी। आप जितना नीचे उतरेंगे अँधेरा उतना ही बढ़ता चला जायगा। ब्रह्म-अचेतन में, प्रकृति में पूर्ण अंधकार है, अंधकार ही अंधकार है। इसके विपरीत आप जितना ही ऊपर बढ़ेंगे प्रकाश उतना ही बढ़ता जायगा। वह जो ब्रह्म-चेतन है ब्रह्म है, वह पूर्ण प्रकाश है, प्रकाश ही प्रकाश है। लेकिन ऊपर जाने का रास्ता नीचे होकर जाता है। जो नीचे खाई है उसके द्वारा ही चोटी तक पहुँचा जाता है। साधना की यही सबसे बड़ी कठिनाई है। यही समझना सबसे ज्यादा कठिन हो जाता है कि ऊपर जाने के लिए नीचे जाने की आवश्कता होती है।

अतः जिसे धर्म के अनुभव में जाना है उसे पहले नीचे उतरना पड़ेगा। जिसे संत होना हो उसे बहुत गहरे अर्थों में पापी होना पड़ता है। जो व्यक्ति गहरे अर्थों में पापी होने से बच गया, वह गहरे अर्थों में संत नहीं हो सकता। नीत्से ने ठीक ही कहा है कि जिस वृक्ष को आकाश छूना है उसे अपनी जड़ें पाताल तक पहुँचाने की हिम्मत जुटानी पड़ती है।

इसलिए ऊपर की फिक्र छोड़ दें, नीचे की फिक्र करें और एक-एक कदम पर प्रमाद को तोड़ते चले जायँ। कहाँ से शुरू करेंगे? शुरू सदा वहीं से करना पड़ता है जहाँ आप हैं। जागने में जागना शुरू करना पड़ेगा। महावीर अपने भिक्षुओं से निरन्तर कहते थे—विवेक से उठो, विवेक से चलो, विवेक से बैठो। विवेक का अर्थ है 'होश', 'अवेयरनेस'। महावीर कहते हैं—जानते हुए चलो, होश में चलो। होश-पूर्वक जो भी किया जाता है वह सदा ठीक होता है। होशपूर्वक पुण्य ही किया जा सकता है, पाप नहीं। जो विवेक से जीता है वह गलती नहीं करता, गलती नहीं करने की कसम भी नहीं खाता। व्रत सिर्फ अंधे लेते हैं। आँखवाले लोग व्रत नहीं लेते। वे जिस ढंग से जीते हैं, वही व्रत है।

महावीर जब कहते हैं कि विवेक से चलो, तो इसका मतलब है कि चलने की क्रिया होशपूर्वक हो, अप्रमादी हो। पैर उठे तो जानो कि उठा। जमीन पर गिरे तो जानो कि गिरा। कोई भी क्रिया बेहोशी में न हो जाय। इसलिए महावीर से

जब किसी ने पूछा कि आप साधु किसे कहते हैं, तो उन्होंने यह नहीं कहा कि जो मुँह पर पट्टी बाँधता है उसे मैं साधु कहता हूँ। अगर महावीर ऐसा कहते तो दो कौड़ी के आदमी हो जाते ! उन्होंने यह भी नहीं कहा कि जो नंगा रहता है उसे मैं साधु कहता हूँ। अगर वे ऐसा कहते तो बड़े नासमझ सिद्ध होते ! उन्होंने कहा कि मैं 'सुरुता मुनि को साधु कहता हूँ। जो सोया हुआ नहीं है, उसे मैं मुनि कहता हूँ। जो सोया हुआ है, उसे मैं असाधु कहता हूँ—'सुत्ता अमुनि'। अगर आप जागकर जी रहे हैं तो आपकी जिन्दगी में साधुता उतर आयगी। अगर आप सोकर जी रहे हैं तो आपकी जिन्दगी में असाधुता के सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। आप सोये-सोये भी साधु बन सकते हैं, लेकिन तब वह साधुता बनी हुई—कृत्रिम—होगी और बने हुए साधु असाधुओं से भी बदतर होते हैं, क्योंकि उन्हें यह भ्रम पैदा हो जाता है कि वे साधु हैं। जब असाधु को साधु होने का भ्रम पैदा हो जाय तब जनम-जनम लग जायँगे इस भ्रम से छूटने में।

अप्रमाद साधना का सूत्र है। अप्रमाद साधना है। प्रत्येक क्रिया स्मरण-पूर्वक हो। एक भी क्रिया ऐसी न हो जो कि बेहोशी में हो रही हो। बस आपकी धर्म-यात्रा शुरू हो जायगी। जायें पाताल में ताकि पहुँच सकें मोक्ष में। उतरें गहरे ताकि छू सकें उँचाई को। जागने की कोशिश करें और जागने की कोशिश जब गहरी हो जाय तब रुक न जायँ, अन्यथा दूसरे चरण पर नींद पकड़ लेगी। स्मरण रखें कि यात्रा लम्बी है परन्तु असम्भव नहीं, कठिन है। नीचे-नीचे उतरते जायँ, ऊपर की फिक्र छोड़ दें। सात मंजिलों का यह मकान जिस दिन पूरा जान लिया जाता है, उस दिन फिर इसमें सात मंजिलें नहीं रह जातीं। बीच के सब परदे गिर जाते हैं। दीवाल हट जाती है और एक भवन रह जाता है। उस एक का अनुभव ही परमात्मा का अनुभव है ! उस एक का अनुभव ही मोक्ष का अनुभव है !



तृतीय खंड

प्रथम अध्याय

पंच नमोकार सूत्र

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।[1]

—पंतप्रति० सू० १

(१) जैसे सुबह सूरज निकले और कोई पक्षी आकाश में उड़ने के पहले अपने घोंसले के पास परों को तौले, सोचे, साहस जुटाए, वैसे ही महावीर की वाणी में प्रवेश के पहले दो क्षण सोच लेना जरूरी है। जैसे पर्वतों में हिमालय है या शिखरों में गौरी-शंकर के हिमाच्छादित शिखर को देखा जा सकता है, लेकिन जिन्हें चढ़ाई करनी हो और शिखर पर पहुँच कर ही शिखर को देखना हो, उन्हें बड़ी तैयारी की जरूरत है। दूर से भी देख सकते हैं महावीर को, लेकिन दूर से जो परिचय होता है वह वास्तविक परिचय नहीं है। महावीर में तो छलाँग लगाकर वास्तविक परिचय पाया जा सकता है।

बहुत बार ऐसा होता है कि हमारे हाथ में निष्पत्तियाँ रह जाती हैं, 'कंक्लुजन्स' रह जाते हैं और प्रतिक्रियाएँ खो जाती हैं। मंजिल रह जाती है, रास्ते खो जाते हैं। शिखर तो दिखाई पड़ता है, लेकिन वह पगडंडी दिखाई नहीं पड़ती जो वहाँ तक पहुँचाती है। ऐसा ही यह नमोकार मंत्र भी है। यह निष्पत्ति है। पच्चीस सौ वर्ष से लोग इसे दोहराते चले आ रहे हैं। यह शिखर है, लेकिन वह पगडंडी जो हमें नमोकार मंत्र तक पहुँचा दे, न मालूम कब की खो गई है। इसके पहले कि हम मंत्र पर बात करें, उस पगडंडी पर थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा, क्योंकि जब तक प्रकिया दिखाई न पड़े तब तक निष्पत्तियाँ व्यर्थ हैं और जब तक सीढ़ियाँ न दिखाई पड़े तब तक दूर दिखते हुए शिखरों का कोई भी मूल्य नहीं—वे स्वप्नवत् हो जाते हैं।

(२) १९३७ में तिब्बत और चीन के बीच बोकाम पर्वत की एक गुफा में ७१६ पत्थर के रिकार्ड मिले—पत्थर के। और वे रिकार्ड हैं महावीर से दस हजार साल पुराने और वैसे ही हैं जैसे ग्रामोफोन के रिकार्ड होते हैं। उनके ठीक बीचो-बीच छेद है और पत्थर पर गूव्ज बने हैं। रूस के एक बड़े वैज्ञानिक डॉ०सर्जिएव ने वर्षों के श्रम के बाद यह प्रमाणित किया है कि वे रिकार्ड ही हैं। किस यंत्र पर और किस सुई के माध्यम से वे पुनरुज्जीवित हो सकेंगे, अभी तक यह तय नहीं हो सका है। इसी प्रकार

---

१. ये पंच नमस्कार समस्त पापों के नाशक हैं।

जापान के एक पर्वत-शिखर पर पच्चीस हजार वर्ष पुरानी मूर्तियों का एक समूह है। ये मूर्तियाँ 'दोबु' कहलाती हैं। अब तक उन मूर्तियों को समझना सम्भव नहीं हुआ था; किन्तु जिस दिन हमारे यात्री अंतरिक्ष में गए, उसी दिन 'दोबु' मूर्तियों का रहस्य खुल गया। अंतरिक्ष में यात्रियों ने जिन वस्तुओं का उपयोग किया, वे ही इन मूर्तियों के ऊपर हैं। पत्थर में खुदे हैं। अब मानना ही पड़ता है कि पच्चीस हजार साल पहले आदमी ने अंतरिक्ष की यात्रा की थी और अंतरिक्ष या किन्हीं और ग्रहों से आदमी जमीन पर आता रहा है। आदमी जो जानता है वह पहली बार जान रहा है, ऐसी भूल में पड़ने का कारण नहीं है। आदमी बहुत बार जान लेता है और भूल जाता है। बहुत बार शिखर छू लिये गए हैं और खो गए हैं।

महावीर एक बहुत बड़ी संस्कृति के अन्तिम व्यक्ति हैं। उस संस्कृति का विस्तार कम से कम दस लाख वर्ष है। महावीर जैन-विचार और परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर हैं—चौबीसवें। आज इन सूत्रों को समझना इसलिए कठिन है कि वह पूरा-का-पूरा वातावरण जिसमें ये सूत्र सार्थक थे, आज कहीं भी नहीं है। हो सकता है कि तीसरे महायुद्ध के बाद जब सारी सभ्यता बिखर जायगी, लोगों के पास हवाई जहाज में उड़ने की याददाश्त भर रह जायगी। हवाई जहाज तो बिखर जायँगे, याददाश्त रह जायगी। यह याददास्त हजारों साल तक चलेगी और बच्चे हँसेंगे, कहेंगे कि कहाँ है हवाई जहाज? ऐसा मालूम होता है कि ये कहानियाँ हैं, पौराणिक कथाएँ हैं, मिथ हैं।

(३) चौबीस जैन तीर्थंकरों की ऊँचाई, शरीर की ऊँचाई आज बहुत काल्पनिक मालूम पड़ती है। केवल महावीर की ऊँचाई सामान्य आदमी की ऊँचाई है। शेष तेईसों तीर्थंकर बहुत ऊँचे थे। इतनी ऊँचाई हो नहीं सकती। अब तक लोग ऐसा ही सोचते थे। अब वैज्ञानिक कहते हैं कि जैसे-जैसे जमीन सिकुड़ती गई है वैसे-वैसे जमीन का गुरुत्वाकर्षण भारी होता गया है और जिस मात्रा में गुरुत्वाकर्षण भारी होता है, उसी मात्रा में लोगों की ऊँचाई कम होती जाती है। छिपकिली आज से दस लाख पहले हाथी से बड़ा जानवर थी। वह अकेली बची, उसकी जाति के अन्य सारे जानवर खो गए। अगर जमीन का गुरुत्वाकर्षण और सघन होता गया तो आदमी और छोटा होता चला जायगा। अगर आदमी चाँद पर रहने लगे तो उसकी ऊँचाई चौगुनीहो जायगी, क्योंकि चाँद पर चौगुना कम है गुरुत्वाकर्षण।

नमोकार को जैन-परम्परा ने महामंत्र कहा है। पृथ्वी पर दस-पाँच ही ऐसे मंत्र हैं जो नमोकार की हैसियत के हैं। असल में प्रत्येक धर्म के पास महामंत्र अनिवार्य है, क्योंकि इसके इर्दगिर्द ही सारी व्यवस्था, सारा भवन निर्मित होता है।

ये महामंत्र करते क्या हैं? इनका प्रयोजन क्या है?

आज ध्वनि-विज्ञान बहुत-से नए तथ्यों के करीब पहुँच रहा है। उसमें एक तथ्य

यह है कि इस जगत् में पैदा की गई कोई भी ध्वनि कभी भी नष्ट नहीं होती। वह अनन्त आकाश में संगृहीत होती चली जाती है, आकाश में भी सूक्ष्म तल पर गून्ज बन जाते हैं।

(४) अगर सद्भाव और मंगल-कामना से भरा हुआ कोई आदमी जल की एक मटकी को कुछ देर हाथ में लिये रहे तो उस मटकी का जल गुणात्मक रूप से परिवर्तित हो जाता है। रूसी वैज्ञानिक कामेनियोव और अमरीकी वैज्ञानिक डॉ० रुडॉल्फ किर ने अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध किया है कि ऐसे जल में रासायनिक परिवर्तन नहीं होता लेकिन गुणात्मक परिवर्तन अवश्य हो जाता है। अगर उस जल को बीजों पर छिड़का जाय तो वे जल्द अंकुरित होते हैं। उनमें बड़े फल लगते हैं, उनके पौधे ज्यादा स्वस्थ होते हैं। अगर रुग्ण, विक्षिप्त और 'नेगेटिव इमोशन' से भरे हुए व्यक्ति के हाथ में रखा गया जल बीजों पर छिड़का जाय तो बीज अंकुरित ही नहीं होते, या अंकुरित होते हैं तो रुग्ण अंकुरित होते हैं। यदि मंगल-अमंगल भावनाओं के कारण जल में यह रूपान्तरण हो सकता है तो हमारे चारों ओर फैले हुए आकाश में भी हो सकता है। किसी मंत्र की प्राथमिक आधारशिला यही है। मंगल भावनाओं से भरा हुआ मंत्र हमारे चारों ओर आकाश में गुणात्मक अन्तर पैदा करता रहता है। और उस मंत्र से भरा हुआ व्यक्ति भी जब आपके पास से गुजरता है तब आपमें तत्काल परिवर्तन हो जाता है।

(५) एक दूसरे रूसी वैज्ञानिक किरलियान ने हाई फ्रिक्वेंसी की फोटोग्राफी विकसित की है। अगर ऐसी फोटोग्राफी से मेरे हाथ का चित्र लिया जाय तो उससे मेरे हाथ का ही चित्र नहीं आता, इससे जो किरणें निकल रही हैं उनका भी चित्र आता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि अगर मैं निषेधात्मक विचारों से भरा हूँ तो मेरे हाथ के आसपास जो विद्युत् ऐटम्स हैं उनका चित्र अस्वस्थ, रुग्ण और अराजक होता है, मानों किसी पागल आदमी द्वारा खींची गई लकीरें हों। शुभ भावनाओं से भरे हुए व्यक्ति के हाथ के आसपास जो किरणें हैं उनका चित्र लयबद्ध, सुन्दर और सानुपातिक होता है। किरलियान का कहना है कि बहुत जल्द ही वह समय आनेवाला है जब किसी के बीमार होने के पहले ही हम यह बताने में समर्थ हो जायँगे कि वह बीमार होनेवाला है। शरीर पर बीमारी के उतरने के पहले विद्युत् के वर्तुल पर बीमारी उतर जाती है। इसके पहले कि आदमी मरे, उसके विद्युत् के वर्तुल का सिकुड़ना आरम्भ हो जाता है। इसके पहले कि कोई आदमी हत्या करे, उस विद्युत् के वर्तुल में ही हत्या के लक्षण दीख पड़ने लगते हैं।

प्रत्येक मनुष्य अपने आसपास एक आभामंडल लेकर चलता है। आप अकेले ही नहीं चलते, आपके आसपास एक विद्युत्-वर्तुल, एक इलेक्ट्रोडाइनैमिक फील्ड भी चलता है। यह आभामंडल पशुओं और पेड़-पौधों के भी आसपास होता है। रूसी

वैज्ञानिकों का कहना है कि जीव और अजीव में एक ही फर्क किया जा सकता है। जिसके आसपास आभामंडल है वह जीवित है, जिसके पास नहीं है वह मृत है। संयोग की बात है कि मृत्यु के बाद आभामंडल को विसर्जित होने में तीन दिन लगते हैं। जब तक अभामंडल चारों तरफ कायम है, तब तक व्यक्ति सूक्ष्म तल पर जीवित है। अभी सेतु कायम है, वापस लौटने का रास्ता बना है। जो व्यक्ति जितना जीवन्त होता है उसके आसपास उतना ही बड़ा आभामंडल होता है। यदि हम महावीर या कृष्ण या क्राइस्ट की मूर्ति के आसपास एक आभामंडल निर्मित करते हैं तो यह सिर्फ कल्पना नहीं है——वस्तुतः ऐसा आभामंडल तो होता ही है। अब तक तो ऐसे आभामंडल को वे ही देख सकते थे जिनके पास थोड़ी गहरी और सूक्ष्म दृष्टि होती थी, जो सन्त थे, मिस्टिक्स थे। लेकिन १९३० में एक अँग्रेज वैज्ञानिक ने रासायनिक प्रक्रिया निर्मित कर दी, जिससे प्रत्येक व्यक्ति उस यंत्र के माध्यम से दूसरे के आभामंडल को देख सकता है।

(६) जैसे आपके अँगूठे की छाप निजी है, वैसे ही आपका आभामंडल भी निजी है और वह आपके सम्बन्ध में वह सब-कुछ कह सकता है जो आप भी नहीं जानते, जो भविष्य में घटित होगा या जो अभी आपके गहन अचेतन मन में निर्मित हो रहा है। मंत्र इस आभामंडल को बदलने की प्रक्रिया है और प्रत्येक धर्म के पास एक महामंत्र है। जैन परम्परा के पास नमस्कार है। 'एसो पंच नमुक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो।' सब पापों का नाश कर दे, ऐसा महामंत्र है नमोकार। यह ठीक नहीं जँचता। नमोकार से हमारे पाप कैसे नष्ट होंगे? नमोकार से पाप सीधे नष्ट नहीं होता, लेकिन उससे आपके आसपास इलेक्ट्रोडाइनैमिक फील्ड रूपान्तरित होता है और पाप करना असम्भव हो जाता है।

नमोकार में नमन का भाव है, नमन अर्थात् समर्पण। अगर प्राणों में यह भाव सघन हो जाय कि मैं अरिहंतों को नमस्कार करता हूँ तो इसका क्या अर्थ होगा? अरिहंतों को नमस्कार करने का अर्थ है उनके चरणों में सिर रखना जो जानते हैं, उनके चरणों में आत्म-समर्पण करना जो पहुँच गए हैं।

(७) जीवन एक तरह का सन्तुलन निर्मित करता है। जिस देश में बड़े नास्तिक पैदा होने बन्द हो जाते हैं उस देश में बड़े आस्तिक भी पैदा होने बन्द हो जाते हैं। जब रूस में धर्म पहली बार व्यवस्थित रूप से नष्ट किया जा रहा था तभी छिपे मार्गों से आस्तिकता भी प्रकट हो रही थी।

(८) मिखायलोवा पन्द्रह वर्ष से रूस में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। वह सिर्फ ध्यान से किसी भी वस्तु को गतिमान कर देती है। लेकिन बहुत हैरानी की बात है कि अगर उसके आसपास सन्देहशील लोग हों तो उसे पाँच घंटे लग जाते हैं। किसी वस्तु को गति देने में अगर आस-पास मित्र या सहानुभूतिपूर्ण लोग हों तो वह

आधे घंटे में ही उसे हिला देती है। आसपास श्रद्धा से भरे हुए लोग हों तो उसे ऐसा करने में केवल पाँच मिनट लगते हैं। जब किसी वस्तु को हिलाने में उसे पाँच घंटे लगते हैं तो उसका कोई दस पौंड वजन कम हो जाता है, जब पाँच मिनट लगते हैं तो वजन कम नहीं होता। डॉ० वासिलिएव और कामिनिएव-जैसे चोटी के वैज्ञानिकों ने हजारों प्रयोग करके इस बात की घोषणा की है कि भिखायलोवा के प्रयोगों में सच्चाई है और उन्होंने ऐसे यंत्र विकसित किए हैं जिनके द्वारा यह अंकित हो जाता है कि भिखायलोवा के आसपास क्या घटित हो रहा है। जैसे ही भिखायलोवा ध्यान एकाग्र करती है वैसे ही उसके आसपास का आभामंडल सिकुड़कर एक धारा में बहने लगता है। जब भिखायलोवा किसी वस्तु को अपनी तरफ खींचती है उस समय उसके शरीर से जो ऊर्जा गिरती है (जिसके कारण उसका वजन कम हो जाता है), उसे संगृहीत किया जा सकता है। ऐसे रिसेप्टिव यंत्र तैयार किए जाते हैं कि वह ऊर्जा उन यंत्रों में प्रवेश कर जाती है और संगृहीत हो जाती है। फिर यदि उस यंत्र को इस कमरे में रख दिया जाय और आप कमरे के भीतर आएँ तो वह यंत्र आपको अपनी ओर खींचेगा। आपका मन होगा कि उसके पास जाएँ।

मंत्र की भी यही मूल आधारशिला है। मंत्र के शब्दों में भाव संगृहीत और समाविष्ट हो जाते हैं। जब कोई कहता है—नमो अरिहंताणम्, तब उसका अहंकार तत्काल विगलित हो जाता है। जिन-जिन लोगों ने इस जगत् में अरिहंतों की शरण में अपने को छोड़ा है, उस महाधारा में उनकी शक्ति सम्मिलित हो गई है। उनके चारों ओर एक और दिव्यधारा का लोक निर्मित हो गया है। **महामंत्र स्वयं के आसपास के आभामंडल को बदलने की कीमिया है।** अगर कोई व्यक्ति दिन-रात नमोकार में डूबता रहे तो अन्ततः वह एक दूसरा व्यक्ति ही हो जायगा।

पाँच नमस्कार हैं। अरिहंत का अर्थ होता है वह जिसके सारे शत्रु विनष्ट हो गए हैं, जिसके भीतर अब कुछ भी ऐसा नहीं जिससे उसे लड़ना पड़े। लड़ाई समाप्त हो गई। भीतर अब न तो क्रोध रहा और न काम, न लोभ न अहंकार। वे सब समाप्त हो गए जिनसे लड़ाई थी।

(९) अरिहंत शिखर है, जिसके आगे यात्रा नहीं। अरिहंत मंजिल है, जिसके आगे जाने की जरूरत नहीं। अद्भुत है यह बात भी कि इस महामंत्र ने किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिया। इसका कारण है कि जैन-परम्परा यह स्वीकार करती है कि अरिहंत इस परम्परा में ही नहीं हुए, अनेक परम्पराओं में हुए हैं। इसलिए अरिहंतों को नमस्कार है, किसी अरिहंत को नहीं। यह नमस्कार बड़ा विराट् है। सम्भवतः विश्व के किसी भी धर्म ने इतना सर्वाङ्गीण, इतना सर्वस्पर्शी महामंत्र विकसित नहीं किया। व्यक्ति का मानों खयाल भी नहीं है, केवल शक्ति पर—अरूप सत्ता पर—ध्यान है। अरिहंतों को नमस्कार।

लेकिन अरिहंत शब्द नकारात्मक है। इससे उस व्यक्ति का बोध होता है जिसके सभी शत्रु समाप्त हो गए। असल में इस जगत् में जो भी श्रेष्ठतम अवस्था है, उसे निषेध से ही प्रकट किया जा सकता है। इसका कारण है। सभी विधायक शब्दों में सीमा आ जाती है, निषेध में सीमा नहीं होती। 'नहीं' की कोई सीमा नहीं, 'है' की तो सीमा है। 'नहीं' बहुत विराट् है। इसलिए अरिहंत को परम शिखर पर रखा है।

(१०) चूँकि अरिहंत बहुत वायवीय और सूक्ष्म शब्द है, इसलिए ठीक दूसरे शब्द में विधायक का उपयोग किया गया है—'नमो सिद्धाणम्'। सिद्ध का अर्थ होता है वह जिसने पा लिया। अरिहंत का अर्थ होता है वह जिसने कुछ छोड़ दिया। जिसने खो दिया उसे सिद्ध के ऊपर रखा गया है। क्यों? सिद्ध अरिहंत से छोटा नहीं होता : सिद्ध वहीं पहुँचता है जहाँ अरिहंत पहुँचता है। फिर भी, भाषा में विधायक का स्थान दूसरा ही होगा। सिद्ध के सम्बन्ध में भी सिर्फ इतनी ही सूचना है कि पहुँच गए। कुछ और कहा नहीं गया, कोई विशेषण भी नहीं जोड़ा।

तीसरे सूत्र में कहा है—आचार्यों को नमस्कार।

(११) आचार्य उस व्यक्ति को कहते हैं जिसने केवल पाया ही नहीं, वरन् आचरण से भी प्रकट किया। आचार्य वह व्यक्ति है जिसका आचरण और ज्ञान एक है। ऐसा नहीं कि सिद्ध का आचरण ज्ञान से भिन्न होता है, लेकिन शून्य हो सकता है। ऐसा भी नहीं कि अरिहंत का आचरण भिन्न होता है। लेकिन अरिहंत इतना निराकार हो जाता है कि हो सकता है, उसका आचरण हमारी पकड़ में न आए। आचार्य से शायद निकटता मालूम पड़ती है, ज्ञान और आचरण के अर्थों में। आचार्य हमारी पकड़ में आता है, लेकिन जहाँ से हमारी पकड़ शुरू होती है, वहीं से खतरा शुरू होता है। खतरा यह है कि कोई आदमी आचरण ऐसा कर सकता है कि वह आचार्य मालूम पड़ने लगे। जहाँ से सीमाएँ बननी शुरू होती हैं वहीं से हमें दिखाई पड़ता है और जहाँ से हमें दिखाई पड़ता है वहीं से हमारे अंधे होने का डर है।

पर मंत्र का प्रयोजन यही है कि हम उनको नमस्कार करें जिनका ज्ञान और आचरण अभिन्न है।

(१२) आचरण बड़ी सूक्ष्म बात है और हम स्थूल बुद्धि के लोग हैं। आचरण को पकड़ पाना आसान नहीं। उदाहरणार्थ—महावीर का नग्न खड़ा हो जाना निश्चित ही लोगों को अच्छा नहीं लगा। गाँव-गाँव से उन्हें खदेड़कर भगाया गया। गाँव-गाँव में महावीर पर पत्थर फेंके गए। महावीर की नग्नता लोगों को भारी पड़ी, उन्होंने कहा कि यह आचरण-हीनता है! इसलिए मैं कहता हूँ कि आचरण को ठीक-ठीक पकड़ पाना मुश्किल है। महावीर का नग्न हो जाना निर्दोष आचरण है जिसका कोई हिसाब लगाना कठिन है। उनकी हिम्मत अद्भुत है। वे इतने सरल

हो गए हैं कि छिपाने को कुछ नहीं बचा है। ऐसा नहीं कि उन्होंने कपड़े छोड़े हैं। उनके कपड़े गिर गए हैं।

एक दिन राह से गुजरते समय एक झाड़ी में उनकी चादर उलझ गई। इसलिए कि झाड़ी के फूल गिर न जायँ, पत्ते टूट न जायँ, काँटों को चोट न लग जाय, उन्होंने आधी चादर फाड़कर वहीं छोड़ दी। आधी रह गई शरीर पर, फिर भी वह गिर गई। वह कब गिर गई, इसका महावीर को पता न चला। लोगों को पता चला कि महावीर नग्न खड़े हैं। आचरण सहना मुश्किल हो गया। आचरण के रास्ते सूक्ष्म हैं, किन्तु आचरण के सम्बन्ध में हमारे बँधे-बँधाए खयाल हैं।

चौथे चरण में उपाध्यायों को नमस्कार कहा गया है। उपाध्याय—अर्थात् आचरण ही नहीं, उपदेश भी। उपाध्याय जानता है, जानकर वैसा ही जीता है और जैसा वह जीता है और जानता है, वैसा ही बताता भी है।

(१३) ये चार स्पष्ट रेखाएँ हैं। लेकिन इन चार के बाहर भी कुछ जानने-वाले छूट सकते हैं, क्योंकि जाननेवालों का वर्गीकरण नहीं हो सकता। इसलिए पाँचवें चरण में एक सामान्य नमस्कार है—'नमो लोए सव्वसाहूणं'। लोक में जो भी साधु हैं उन सबको नमस्कार। कुछ ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो बहुत सरल हों और उपदेश देने में संकोच करें। हो सकता है कि वे आचरण को भी छिपाएँ। पर उनको भी हमारे नमस्कार पहुँचने चाहिए। ऐसी बात नहीं कि हमारे नमस्कार से उनको कुछ फायदा होगा। बात यह है कि हमारा नमस्कार हमें रूपान्तरित करता है। न अरिहंतों को फायदा होगा, न सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को ही। पर आपको फायदा जरूर होगा।

लेकिन हम अद्भुत लोग हैं। अगर अरिहंत भी सामने खड़ा हो जाय तो हम पहले इस बात का पता लगाएँगे कि वह अरिहंत है भी या नहीं? महावीर के बारे में भी लोग यही पता लगाते-लगाते जीवन नष्ट करते रहे। वे जाँच करने आते कि महावीर अरिहंत हैं या नहीं, तीर्थंकर हैं या नहीं। आप जाँच भी कर लेंगे और यह सिद्ध भी हो जायगा कि महावीर भगवान् नहीं हैं, तो आपको क्या मिलेगा? असली सवाल यह नहीं है कि महावीर भगवान हैं या नहीं। असली सवाल यह है कि आपको कहीं भगवान् दीख सकते हैं या नहीं—कहीं भी? पत्थरों में, पर्वत में? असली राज तो नमन में है, झुक जाने में है। वह जो झुक जाता है, उसके भीतर सब-कुछ बदल जाता है। महावीर सिद्ध हैं या नहीं, यह वे खुद सोचें और समझें। आपके लिए चिन्तित होने का कोई भी तो कारण नहीं है।

(१४) ध्यान में रख लें कि मंत्र आपके लिए है। मन्दिर में मूर्ति के चरणों में जब आप सिर रखते हैं तब सवाल यह नहीं होता कि वे चरण परमात्मा के हैं या नहीं। सवाल इतना ही होता है कि चरण के समक्ष झुकनेवाला सिर परमात्मा के

समक्ष झुक रहा है या नहीं। चरण तो निमित्त-मात्र हैं। लेकिन झुकने में पीड़ा होती है। अगर महावीर आएँ और आपके चरणों पर सिर रखें तो आपका चित्त बड़ा प्रसन्न होगा। फिर आप महावीर को पत्थर न मारेंगे। मारेंगे? लेकिन याद रहे, अगर महावीर आपके चरणों में सिर रख दें तो आपको इससे कोई लाभ न होगा। आपकी अकड़ और गहन हो जायगी।

महावीर ने अपने साधुओं से कहा हैं कि वे गृहस्थों को नमस्कार न करें। बड़ी अजीब-सी बात है। साधु को तो विनम्र होना चाहिए। लेकिन महावीर अपनी अगाध करुणा के कारण ही ऐसा कहते हैं ताकि गृहस्थ और गैर साधु में नमस्कार पैदा हो—साधु उनको नमस्कार न करे। यदि साधु गृहस्थों को नमस्कार करेगा तो इससे गृहस्थों की अस्मिता और अहंकार को प्रोत्साहन मिलेगा।

नमोकार नमन का सूत्र है। नमन है ग्राहकता। जैसे ही आप नमन करते हैं वैसे ही आपका हृदय खुलता है और आप भीतर किसी को प्रवेश देने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिसके चरणों में आपने सिर रखा, उसे आप भीतर आने में बाधा न डालेंगे, उसे निमंत्रण देंगे। लेकिन अगर भरोसा नहीं है तो नमन असम्भव है, और नमन असम्भव है तो समझ असम्भव है।

(१५-१६) मॉस्को यूनिवर्सिटी में १९६६ तक एक अद्भुत व्यक्ति था, डॉ० वासिलिएव। उसने एक अनूठा प्रयोग किया है जिसका नाम है कृत्रिम पुनर्जन्म—आर्टिफिशियल री-इनकार्नेशन। ई० जी० नामक यंत्र से पहले वह इस बात का पता लगाता था कि व्यक्ति कितनी गहरी निद्रा में है। जब व्यक्ति अचेतन मन की अतल गहराइयों में उतर आता तब वह उसे सुझाव देना शुरू करता। जिस व्यक्ति पर वह प्रयोग करता उसे—यदि वह व्यक्ति चित्रकार होता तो—बताता कि तुम पिछले जन्म में माइकेल एन्जेलो या वानगॉग थे : यदि वह व्यक्ति कवि होता तो उसे समझाता कि तुम पिछले जन्म में शेक्सपियर थे। तीस दिन में उस व्यक्ति का चित्त उस सुझाव को सचमुच ग्रहण कर लेता। उस साधारण-से चित्रकार में यह भरोसा हो जाता कि मैं माइकेल एन्जेलो हूँ। और जब उसके भीतर भरोसा हो जाता तब तत्काल वह विशेष चित्रकार बन जाता। वासिलिएव कहता है कि अगर हमें भरोसा दिला दिया जाय कि हम बड़े हैं तो हमारे चित्त की खिड़की बड़ी हो जाती है। इसलिए आनेवाले भविष्य में हम जीनियस निर्मित कर सकेंगे। सच तो यह है कि वासिलिएवोके अनुसार नब्बे प्रतिशत बच्चे प्रतिभा की क्षमता लेकर ही पैदा होते हैं, पर दुर्भाग्यवश हम उनकी खिड़की छोटी करते जाते हैं। माँ-बाप, स्कूल, शिक्षक—सब मिलकर उन्हें साधारण आदमी बना डालते हैं। कुछ जो हमारी तरकीबों से बच जाते हैं, वे जीनियस बन जाते हैं, बाकी नष्ट हो जाते हैं। पर उसका कहना है कि असली सूत्र है ग्राहकता। इतना ग्राहक हो जाना चाहिए चित्त कि उसे जो कहा जाय वह उसके भीतर प्रवेश कर जाय।

आप यह जानकर हैरान होंगे कि गहन सम्मोहन, निद्रा, ध्यान और श्रद्धा में ई० जी० नामक मशीन एक-सा ग्राफ बनाती है। श्रद्धा से भरा हुआ चित्त उसी शान्ति की अवस्था में होता है जिस शान्ति की अवस्था में वह गहन ध्यान में होता है। आपको टेलिपैथिक जगत् में प्रवेश कराने में मंत्र उपयोगी सिद्ध होता है। अगर आप हृदय से अपने को छोड़ पाएँ और उस गहराई से कह पाएँ जहाँ सब आपकी अचेतना में डूब जाता है—

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्वसाहूणं' ।

तब आप अपने अनुभव से कह पाएँगे—'एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।'



द्वितीय अध्याय

धम्मो लोगुत्तमो

केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।[1]

—पंचप्रति० संथारा० सू०

(१) महावीर ने कहा है कि जिसे पाना हो उसे देखना शुरू करना चाहिए, क्योंकि हम उसे ही पा सकते हैं जिसे हम देखने में समर्थ हो जायँ। जिसे हमने देखा नहीं, उसे पाने का भी कोई उपाय नहीं। जिसे खोजना हो, उसकी भावना करनी प्रारम्भ कर लेनी चाहिए, क्योंकि इस जगत् में हमें वही मिलता है, जिसके लिए हम अपने हृदय में जगह बना लेते हैं। यदि स्वयं में अरिहंत को निर्मित करना हो, कभी सिद्ध को पाना हो, किसी क्षण स्वयं भी केवली बन जाना हो तो उसे देखने, उसकी भावना करने, उसकी आकांक्षा और अभीत्सा की ओर चरण उठाना जरूरी है।

(२) जो मंगल है, उसकी कामना स्वाभाविक है। हम वही चाहते हैं जो मंगल है। अरिहंत मंगल है, सिद्ध मंगल है, साहू मंगल है। कवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलम्। जिन्होंने स्वयं को जाना और पाया, उनके द्वारा निरूपित धर्म मंगल है।

अरिहंता मंगल।
सिद्धा मंगलं।
साहू मंगलं।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

इनमें सिर्फ मंगल का भाव है। जो भी मंगल है, उसका भाव गहन हो जाय तो उसकी आकांक्षा शुरू हो जाती है— आकांक्षा को पैदा नहीं करना पड़ता। मंगल की धारणा को पैदा करना पड़ता है। आकांक्षा मंगल की धारणा के पीछे छाया की भाँति चली आती है। धारणा पतंजलि योग के आठ अंगों में कीमती अंग है जहाँ से अन्तर्यात्रा शुरू होती है। धारणा, ध्यान, समाधि। छठा सूत्र है धारणा, सातवाँ ध्यान और आठवाँ समाधि। मंगल की यह धारणा पतंजलि योग का छठा सूत्र है और महावीर के योगसूत्र का पहला। महावीर का मानना यह है कि धारणा से सब शुरू हो जाता है। धारणा जैसे ही हमारे भीतर गहन होती है, वैसे ही हमारी चेतना रूपान्तरित होती है। न केवल हमारी, वरन् उसकी भी जो हमारे पड़ोस में

---

१. केवलीप्ररुपित अर्थात् आत्मज्ञ-कथित धर्म लोकोत्तम है।

बै ा है। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि आप अपनी ही धारणाओं से प्रभावित नहीं होते, आपके निकट धारणाओं के जो प्रवाह हैं उनसे भी होते हैं। इसलिए महावीर ने कहा है कि अज्ञानी से दूर रहना मंगल है, ज्ञानी के निकट रहना मंगल है। चेतना जिसकी स्वस्थ है उसके सान्निध्य में रहना मंगल है। जिस वातावरण में धारणाएँ शुभ हों उसमें रहना हितकर है।

(३) रूस के एक विचारक का नाम है डॉ० सिलोव। उनके यांत्रिक आविष्कारों से पता चलता है कि पड़ोसी की धारणाएँ भी हमें प्रभावित किए बिना नहीं रहतीं। उनका कहना है कि जो धारणा एक के मन में पैदा हुई, उसके वर्तुल आसपास फैल जाते हैं और दूसरों को पकड़ लेते हैं। आपको शायद पता नहीं कि आपको जो क्रोध हुआ है वह आपका नहीं है। शायद वह आपके पड़ोसी का है।

(४) जिस राष्ट्र के हाथ में धारणा को प्रभावित करने के मौलिक सूत्र आ जाएँगे, उस राष्ट्र को अणु की शक्ति से हराया नहीं जा सकता। सच तो यह है कि जिनके हाथ में अणु बम हों, उनको भी धारणा से ऐसा प्रभावित किया जा सकता है कि वे उन्हें अपने ऊपर ही फेंक लें। यदि कोई हवाई जहाज बम फेंकने आ रहा हो तो उसके चालक को प्रभावित किया जा सकता है कि वह वापस लौट जाय और अपनी ही राजधानी पर बम गिरा दे। इसलिए नामोर नामक विचारक का कहना है कि धारणा की शक्ति ही अब युद्ध में आखिरी अस्त्र सिद्ध होने जा रही है। वैज्ञानिक धारणा की शक्ति पर काम करने में जुटे हैं। स्टालिन-जैसे लोगों की उत्सुकता तो इस शक्ति के विनाशकारी पक्ष की ओर थी, पर महावीर-जैसे लोग इसके निर्माण और सृजनवाले पक्ष में ही दिलचस्पी रखते थे। इसलिए उनकी मंगल की धारणा है। महावीर ने कहा है—भूलकर भी, कभी स्वप्न में भी कोई बुरी धारणा मत करना, क्योंकि उसका परिणाम बुरा ही होता है।

आप राह से गुजर रहे हैं। आपके मन में खयाल भर आता है कि इस आदमी की हत्या कर दूँ। आपने कुछ किया नहीं, बस खयाल किया या मन में सोचा कि इस दुकान से अमुक चीज चुरा लूँ। आपने न हत्या की और न चोरी, लेकिन क्या आप निश्चिन्त हो सकते हैं कि राह में किसी हत्यारे या चोर ने आपकी धारणा न पकड़ ली होगी?

(५) माँ अपने बच्चे के जीने की कामना करती है, कहती है कि वह बड़ा हो, जिए। लेकिन किसी क्षण क्रोध में वह यह भी कह देती है कि वह जनमते ही मर जाता तो ठीक था। बेचारी माँ को पता नहीं है कि चार दफा उसने शुभ की कामना की है और एक दफा अशुभ की भी। उसकी सभी शुभ कामनाएँ इस अशुभ कामना के कारण विषाक्त हो उठी हैं, कट गई हैं। उसे जानना चाहिए कि मनुष्य की कोई भी धारणा व्यर्थ नहीं जाती।

(६) महावीर अपने साधुओं से कहते हैं कि चौबीस घंटे मंगल की कामना में डूबे रहो—उठते-बैठते, साँस लेते-छोड़ते। स्वभावतः मंगल की कामना शिखर से शुरू करनी चाहिए। इसलिए वे कहते हैं कि अरिहंत मंगल हैं। जिनके समस्त आन्तरिक रोग समाप्त हो गए, वे मंगल हैं। सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं। जिन्होंने जाना, उन्हें जैन-परम्परा में केवली कहते हैं। जानने की दिशा में वे उस जगह पहुँच जाते हैं जहाँ जाननेवाला भी नहीं रह जाता, जानी जानेवाली वस्तु भी नहीं रह जाती—सिर्फ जानना रह जाता है, केवल ज्ञानमात्र रह जाता है। जो केवल ज्ञान को उपलब्ध हो गया और वहाँ पहुँच गया जहाँ ज्ञान-मात्र रह गया है और जहाँ न कोई जाननेवाला बचा, न जानी जानेवाली वस्तु बची, उसे केवली कहते हैं!

जैन-परम्परा कहती है कि जिस चीज का भी स्रोत होता है, वह कभी न कभी चुक जाती है, चुक ही जायगी, कितना भी बड़ा स्रोत क्यों न हो। सूर्य भी चुक जायगा एक दिन।

(७) लेकिन महावीर कहते हैं कि चेतना अनन्त है, यह कभी चुक नहीं सकती। यह स्रोतरहित है। इसमें जो प्रकाश है वह किसी मार्ग से नहीं आता। वह बस, है— 'इट जस्ट इज'। कहीं से आता नहीं, अन्यथा एक दिन वह भी चुक जायगा। सागर भी चम्मचों से उलीचकर सुखाए जा सकते हैं। एक चम्मच थोड़ा तो काम कर ही जाती है। महावीर कहते हैं कि चेतना स्रोतरहित है, इसलिए उन्होंने ईश्वर को मानने से इनकार कर दिया, क्योंकि अगर हम ईश्वर को मानते हैं तो ईश्वर स्रोत हो जाता है और हम सब उसी के स्रोत से जलनेवाले दीए हो जाते हैं जो कभी-न-कभी चूक जाएँगे।

इसमें सन्देह नहीं कि महावीर ने आत्मा को जितनी प्रतिष्ठा दी, उतनी प्रतिष्ठा इस पृथ्वी पर किसी अन्य व्यक्ति ने कभी नहीं दी। उन्होंने इतनी प्रतिष्ठा दी कि यह कहने में संकोच न किया कि **परमात्मा अलग नहीं, आत्मा ही परमात्मा है। इसका स्रोत अलग नहीं, यह** ज्योति ही स्वयं स्रोत है। भीतर जलनेवाला जो जीवन है, वह कहीं से शक्ति नहीं पाता। वह स्वयं ही शक्तिमान् है। वह न तो किसी के द्वारा निर्मित है और न किसी के द्वारा नष्ट हो सकता है। वह स्वयं में समर्थ और सिद्ध है। जिस दिन ज्ञान उस सीमा पर पहुँचता है, जहाँ हम स्रोतरहित प्रकाश को उपलब्ध होते हैं, उसी दिन हम मूल को उपलब्ध होते हैं। जैन-परम्परा ऐसे ही व्यक्ति को केवली कहती है। ऐसा व्यक्ति कहीं भी पैदा हो सकता है। वह क्राइस्ट हो सकता है, बुद्ध, कृष्ण या लाओत्से हो सकता है। इसलिए इस सूत्र में यह नहीं कहा गया कि महावीर मंगलम् या कृष्ण मंगलम्। कहा गया—'केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।' जो केवल ज्ञान को उपलब्ध हो गए, उनके द्वारा जो प्ररूपित धर्म है, वह मंगल है।

यदि मंगल की यह धारणा प्राणों की अतल गहराइयों में बैठ जाय तो अमंगल की सम्भावना कम हो जाती है। जो जैसी भावना करता है, धीरे-धीरे वह वैसा ही हो जाता है। जो हम माँगते हैं, वह हमें मिल जाता है। लेकिन हम सदा गलत माँगते हैं। यही हमारा दुर्भाग्य है। हम उसी की तरफ आँख उठाकर देखते हैं जो हम होना चाहते हैं। अगर आप किसी राजनीतिज्ञ के आस-पास भीड़ लगाकर इकट्ठे हो जाते हैं तो यह सिर्फ इस बात की सूचना नहीं है कि किसी नेता का पदार्पण हुआ है। गहन रूप से यह इस बात की सूचना है कि आप कहीं राजनीतिक पद पर होना चाहते हैं। हम उसी को आदर देते हैं जो हम होना चाहते हैं। अगर आप किसी अभिनेता के पास भीड़ लगाकर खड़े हो जाते हैं तो यह आपकी भीतरी आकांक्षा की खबर देती है। आप भी वही हो जाना चाहते हैं। अगर महावीर ने कहा कि कहो--

अरिहंता मंगलं।
सिद्धा मंगलं।
साहू मंगलं।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

तो वे इस बात पर बल दे रहे हैं कि तुम यह कह ही तब पाओगे जब तुम अरिहंत, सिद्ध और साधु होना चाहोगे। या जब तुम यह कहना शुरू करोगे तब तुम्हारे अरिहंत होने की यात्रा शुरू हो जायगी। और बड़ी से बड़ी यात्रा बड़े छोटे कदम से शुरू होती है। धारणा पहला कदम है।

कभी आपने सोचा कि आप क्या होना चाहते हैं ?

जो आप होना चाहते हैं वह सचेतन में न सही, पर अचेतन में तो अवश्य ही घूमता रहता है। उसी के प्रति आपके मन में आदर पैदा होता है जो आप होना चाहते हैं। जो आप होना चाहते हैं, उसी के सम्बन्ध में आपके मन में चिन्तन के वर्तुल बनते हैं। वही आपके स्वप्नों में उतर आता है, आपकी साँसों में समा जाता है।

(८) मंगल-भावना और खून के कणों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मेडिकल साइंस कहती है कि आपके स्वास्थ्य की रक्षा का मूल आधार रक्त में सफेद कणों की अधिकता है। मंगल-भावना से भरे व्यक्ति के पास बैठने पर इन सफेद कणों में १५०० सफेद कण तत्काल बढ़ जाते हैं। जो व्यक्ति आपके प्रति दुर्भाव रखता है, उसके पास जाकर १६०० कम हो जाते हैं।

(९) अमरीकी वैज्ञानिक बेक्सटर ने सिद्ध किया है कि पौधे अपने मित्रों को पहचानते हैं और अपने शत्रुओं को भी। वे अपने मालिक को पहचानते हैं और अपने माली को भी। अगर मालिक मर जाता है तब उनकी प्राणधारा क्षीण हो

जाती है और वे बीमार हो जाते हैं। बेक्सटर ने यह भी सिद्ध किया है कि पौधों में स्मरण-शक्ति होती है। जब आप अपने गुलाब के पौधे के पास जाकर प्रेम से खड़े हो जाते हैं तब वह कल फिर उसी समय आपकी प्रतीक्षा करता है। बेक्सटर का यह भी कहना है कि जिन पौधों के प्रति हममें प्रेम का भाव होता है वे हमारी ओर बड़ी पॉजिटिव भावनाएँ छोड़ते हैं। उसने अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन को सुझाव दिया है कि शीघ्र ही हम मरीजों को खास-खास तरह के पौधों के पास ले जाकर स्वस्थ करने में समर्थ हो सकेंगे। पौधों के पास अपना हृदय है। माना कि वे अशिक्षित हैं, लेकिन उनके पास हृदय है। आदमी बहुत शिक्षित होता चला जाता है, लेकिन हृदय खोता चला जाता है।

(१०) धर्म शब्द का जैन-परम्परा में वह अर्थ नहीं है जो अंग्रेजी के 'रिलीजन' का है या उर्दू के 'मजहब' का। मत, पंथ या क्रीड को मजहब कहते हैं और जोड़ने को 'रिलीजन'। अर्थात् अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द का अर्थ करीब-करीब वही है जो योग का है। वह जिस सूत्र से बना है वह है 'रिलिगेयर' जिसका अर्थ होता है जोड़ना—आदमी को परमात्मा से जोड़ना। लेकिन जैन-चिन्तन परमात्मा के लिए जगह ही नहीं रखता। इसलिए आप यह जानकर हैरान होंगे कि जैन योग का अर्थ अच्छा नहीं मानते। वे कहते हैं कि केवली अयोगी होता है, योगी नहीं। महावीर को कुछ भूल से भरे लोग अपनी नासमझी में महायोगी कहते हैं। महावीर कहते हैं कि धर्म का लक्ष्य जोड़ना नहीं है किसी से, जो गलत है उससे टूटना है, अलग होना है—अयोग, संसार से अयोग। योग बल देता है परमात्मा से मिलन पर, स्वरूप की उपलब्धि पर। किन्तु महावीर कहते हैं कि स्वरूप तो उपलब्ध ही है; जो हमें पाना है, वह हमें मिला ही हुआ है। सिर्फ हम गलत चीजों से चिपके खड़े हैं, इसलिए दिखाई नहीं पड़ता। जरूरत है कि गलत को छोड़ दें, अयुक्त हो जायँ। इसलिए जैन-परम्परा में अयोग का वही मूल्य है जो हिन्दू परम्परा में योग का है। महावीर कहते है कि वस्तु का जो स्वभाव है, 'नेचर' है, वही धर्म है। महावीर की दृष्टि में धर्म का वही अर्थ है जो लाओत्से के 'ताओ' का है।

(११) वस्तु का जो स्वभाव है, जो उसकी स्वयं की परिणति है, वही धर्म है। अगर कोई व्यक्ति किसी से प्रभावित हुए बिना सहज आचरण कर पाए तो वह धर्म को उपलब्ध हो जाता है। इसलिए प्रभाव को महावीर अच्छी बात नहीं मानते। किसी से भी प्रभावित होना बँधना है। पूर्णतया अप्रभावित हो जाना ही स्वयं हो जाना है। इस निजता को—स्वयं होने को—महावीर धर्म कहते हैं। जब कोई व्यक्ति केवल ज्ञान-मात्र या चेतना-मात्र रह जाता है, तब वह जैसे जीता है, वही धर्म है।

महावीर कहते हैं कि जब कोई धुआँ नहीं है तब अग्नि अपने धर्म में है, जब

चेतना बिलकुल शुद्ध होती है और पदार्थ का कोई प्रभाव नहीं होता और न शरीर का पता होता है, तब चेतना अपने धर्म में होती है। महावीर कहते हैं कि प्रत्येक का अपना धर्म होता है। अग्नि का अपना है, जल का अपना है, पदार्थ का अपना है। अपने धर्म में शुद्ध हो जाना आनन्द है, अशुद्ध रहना दुख है। अपने स्वभाव में चले जाना धार्मिक हो जाना है। वे कहते हैं—

अरिहंता लोगुत्तमा।
सिद्धा लोगुत्तमा।
साहू लोगुत्तमा।
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

अरिहंत उत्तम है लोक में, सिद्ध उत्तम है लोक में, साधु उत्तम है लोक में, केवली-प्ररूपित धर्म उत्तम है लोक में। लेकिन मंगल कह देने के बाद उत्तम कहने की क्या जरूरत है? कारण है हमारे भीतर। हम इतने नासमझ हैं कि जो उत्तम नहीं है, उसे भी हम मंगलरूप मान सकते हैं। हमारी वासनाएँ ऐसी हैं कि जो योग में निकृष्ट है, वे उसी की ओर बहती हैं।

रामकृष्ण कहा करते थे कि चील आकाश में भी उड़े तो यह मत समझना कि उसका ध्यान आकाश में है। हमारी वासनाएँ चील की तरह नीचे देखती हैं। उनका ध्यान कचरों पर या घर में पड़े मांस पर लगा होता है।

महावीर के 'उत्तम' शब्द का अर्थ स्पष्ट है। अरिहंत उत्तम हैं। वे जीवन के शिखर हैं, श्रेष्ठ हैं, पाने और चाहने योग्य हैं।

(१२) जब महावीर कहते हैं 'अरिहंता लोगुत्तमा', तब लोग इसे समझ नहीं पाते। उन्हें क्या पता कि अरिहंत कौन हैं, सिद्ध और साधु कौन हैं? वे मजबूरी में इन्हें मान लेते हैं, यद्यपि अपने भीतर उन्होंने वैसी कोई अनुभूति नहीं जानी जैसी अरिहंतो, सिद्धों और साधुओं को उपलब्ध होती है। अपनी मजबूरी को ही वे धर्म की संज्ञा देते रहे हैं। जैन धर्म में पैदा हो जाना उनकी मजबूरी है, इसमें उनका कोई कृत्य नहीं है। पर्युषण भी उनकी मजबूरी है, उनका मन्दिर जाना, उपवास करना, व्रत करना—सब मजबूरी है। उनमें कहीं कोई स्फुरण, कोई सहज भाव नहीं होता। वे मन्दिर की ओर अपने पैरों को घसीटे जाते हैं। मन्दिर जाना, मानों एक मजबूरी है, काम है। प्रफुल्लता नहीं होती उनके चरणों में। वैसा नृत्य भी नहीं होता जैसा सिनेमागृह जाने में होता है।

(१३) हो सकता है, नमोकार आपके आस-पास पढ़ा जा रहा हो, लेकिन आपके भीतर उसका कोई प्रवेश नहीं हो पाता। जिन्होंने उसके प्रवेश की तैयारी नहीं की, वे अगर सोचते हों कि क्षण में उसका प्रवेश हो जायगा तो वे भूल में हैं, हताश होंगे। जो व्यक्ति निरन्तर इस सूत्र को खयाल में रखता है कि 'अरिहंत मंगल हैं,

लोक में उत्तम हैं', वह भले ही इसे यों ही दुहराता रहा हो, फिर भी उसे निराश होना नहीं पड़ता। यदि वह तोते की नाईं इसे रटता भी है तो उसके चित्त पर निशान बनते हैं, ग्रून्ज निर्मित होते हैं जो किसी भी प्रकाश के क्षण में सक्रिय हो सकते हैं। जिसने निरन्तर कहा है कि अरिहंत लोक में उत्तम हैं, उसने अपने भीतर एक धारा प्रवाहित की है। जब वह अरिहंत होने के विपरीत जाने लगेगा तब उसके भीतर कोई उससे कहेगा कि तुम जो कर रहे हो वह उत्तम नहीं है, लोक में श्रेष्ठ नहीं है। सिर्फ पुनरुक्ति भी हमारे चित्त में रेखाएँ छोड़ जाती है, ऐसी रेखाएँ जो किसी भी क्षण सक्रिय हो सकती हैं। जानकर, समझकर कहा गया लाभप्रद तो होता ही है, न समझकर कहा हुआ सूत्र भी लाभदायी होता है।

(१४) महावीर ने जिस परम्परा-धारा का उपयोग किया है उसमें श्रेष्ठतम स्थान मनुष्य की शुद्ध आत्मा को मिला है। उन्होंने मनुष्य की ही शुद्ध आत्मा को परमात्मा माना है। इसलिए उनके हिसाब से इस जगत् में जितने लोग हैं, उतने भगवान् हो सकते हैं; जितनी चेतनाएँ हैं, वे सभी भगवान् हो सकती हैं। दुनिया के सारे धर्मों में भगवान् की जो धारणा है वह ऐरिस्टोकैटिक है—वह सिर्फ एक सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान् की धारणा है। महावीर की धारणा डेमोक्रैटिक है—प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से भगवान् है। वह जाने-न जाने, पाये-न पाये, फिर भी वह भगवान् है। और किसी-न-किसी दिन वह, जो उसमें छिपा है, प्रकट होकर रहेगा, सम्भावना सत्य बनकर रहेगी। अतः कहने की जरूरत नहीं है कि महावीर अनन्त भगवत्ताओं को मानते हैं। जिस दिन सारा जगत् अरिहंत तक पहुँच जाय, उस दिन जगत् में अनन्त भगवान् होंगे। महावीर का मतलब भगवान् से है—उससे है जिसने अपने स्वभाव को पा लिया। स्वभाव भगवान् है।

भगवान् की यह धारणा अनूठी है। महावीर के अनुसार न कोई जगत् को बनानेवाला है और न जगत् को चलानेवाला। वे कहते हैं कि कोई बनानेवाला नहीं है—बनाने की धारणा ही बचकानी है। बचकानी इसलिए है कि इससे कुछ हल नहीं होता। हम कहते हैं कि जगत् को भगवान् ने बनाया। फिर सवाल खड़ा हो जाता है कि भगवान् को किसने बनाया ? हम जवाब देते हैं कि भगवान् ने जगत् को बनाया, लेकिन भगवान् को किसी ने नहीं बनाया। महावीर कहते हैं कि जब यह मानना ही पड़ता है कि भनवान् को किसी ने नहीं बनाया तो फिर सारे जगत् को ही अनबना—अनक्रिएटेड—मानने में कौन-सी अड़चन है ? अड़चन एक ही थी मन को कि बिना बनाए कोई चीज कैसे बनेगी ? फिर नास्तिक के पास जो उत्तर है वह तथाकथित ईश्वरवादी के पास नहीं है। नास्तिक पूछता है कि तुम्हारे भगवान् ने सृष्टि क्यों की ? ईश्वरवादी के लिए यह बड़ा कठिन प्रश्न है। उसे मानना पड़ता है कि ईश्वर में जगत् को बनाने की वासना उठी। जब भगवान् तक में वासना

उठती है, चाह है, तब आदमी को वासना और चाह से मुक्त कैसे किया जा सकता है ?

ईश्वरवादी दिक्कत में रहता है। उसको स्वीकार करना पड़ता है कि ईश्वर में वासना और चाह है। और तब अनेक अनर्गल बातें उसे स्वीकार करनी पड़ती हैं। उसे मानना पड़ता है कि ब्रह्मा ने स्त्री को जन्म दिया और वह उसका पिता हो गया। फिर उसने अपनी बेटी को चाहा और सम्भोग के लिए आतुर हो गया। परिणामस्वरूप वह अपनी बेटी के पीछे भागने लगा। बेटी अपने पिता से बचने के लिए गाय बन गई। वह बैल हो गया। तब बेटी उससे बचने के लिए कुछ और हो गई, तो वह भी कुछ और हो गया। बेटी जो-जो होती चली गई, वह उसी-उसी जाति का होता चला गया। अगर ब्रह्मा भी चाह में ऐसा भाग रहा होता तो आपका सिनेमाघरों में जाना बिलकुल ब्रह्मस्वरूप है, आप बिलकुल ठीक चले जा रहे हैं। स्त्री फिल्म अभिनेत्री हो गई तो आप फिल्म-दर्शक हो गए। फिर सारा जगत् वासना का फैलाव हो गया।

महावीर ने इस धारणा को जड़ से काट दिया। उन्होंने कहा कि अगर लोगों को भगवान् बनाना है तो भगवान् की इस धारणा को अलग करो। उन्होंने कहा कि अगर पहले भगवान् में भी चाह रख दोगे तो फिर आदमी की चाह को शून्य करने का कारण क्या बचेगा ? जगत् अनिर्मित है, अनबना है। किसी ने बनाया नहीं है इसे। विज्ञान के लिए भी यही तर्कयुक्त मालूम पड़ता है, क्योंकि जगत् में कोई चीज बनायी नहीं मालूम पड़ती और न कोई चीज नष्ट होती मालूम पड़ती है—सिर्फ रूपान्तरित होती मालूम पड़ती है। इसलिए महावीर ने पदार्थ की जो परिभाषा की है, वह इस जगत् की सर्वाधिक वैज्ञानिक परिभाषा है। उन्होंने 'मैटर' के लिए एक अद्भुत शब्द का प्रयोग किया है —'पुद्गल'। ऐसा शब्द जगत् की किसी भी भाषा में नहीं है। 'पुद्गल' का अर्थ है—जो बनता और मिटता रहता है और फिर भी है। जो प्रतिपल बन रहा है, मिट रहा है और है, नदी की नाईं। नदी भागी जा रही है, चली जा रही है, फिर भी है। 'पुद्गल' का अर्थ है 'बिकमिंग', वह जो प्रतिपल जन्म ले रहा है और प्रतिपल मर रहा है, फिर भी कभी न तो निर्मित होता है और न समाप्त होता है। चलता रहता है, गत्यात्मक है।

(१५) महावीर ने कहा कि यह जगत् पुद्गल है। इसमें सभी चीजें सदा से हैं; वे बन रही हैं, मिट रही हैं; न कोई चीज कभी समाप्त होती है और न निर्मित होती है। इसलिए निर्माता का प्रश्न नहीं उठता और न परमात्मा में वासना की कल्पना ही तर्कयुक्त है।

सारे धर्म परमात्मा को जगत् के पहले रखते हैं। महावीर परमात्मा को जगत् के अन्त में रखते हैं। सारे धर्म परमात्मा को कारण मानते हैं, महावीर उसे परिणाम

कहते हैं। महावीर का अरिहंत अंतिम मंजिल है। व्यक्ति भगवान् तब होता है जब वह वहाँ पहुँच जाता है जिसके आगे और कोई यात्रा नहीं है। दूसरे धर्मों का भगवान् आरम्भ है, वहाँ है जहाँ दुनिया शुरू होती है। महावीर का भगवान् वहाँ है जहाँ दुनिया समाप्त होती है। सब कहते हैं कि दुनिया को बनानेवाला भगवान् है; महावीर कहते हैं कि दुनिया को पार कर जानेवाला भगवान् है। दुनिया का भगवान् बीज की तरह है, महावीर का भगवान् फूल की तरह।

महावीर यह नहीं कहते कि शास्त्र में लिखा हुआ धर्म लोकोत्तम है। वेदों को माननेवाला कहता है कि उनमें प्ररूपित धर्म ही लोक में उत्तम है। बाईबिल और कुरान को माननेवाले लोग बाइबिल तथा कुरान में प्ररूपित धर्म को ही लोकोत्तम मानते हैं। लेकिन महावीर कहते हैं--केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो। नहीं, शास्त्र में कहा हुआ धर्म लोकोत्तम नहीं है। केवल ज्ञान के क्षण में जो झरता है वही श्रेष्ठ है, जीवन्त है। महावीर ने कभी नहीं कहा कि शास्त्रों में प्ररूपित धर्म लोकोत्तम है। ऐसा भी नहीं कहा कि मेरे शास्त्र में कहा हुआ धर्म श्रेष्ठ है। उन्होंने खुद कोई शास्त्र निर्मित नहीं किया। केवलिप्ररूपित जो धर्म है वह शास्त्र में लिख लिया गया है। इसलिए जैन उस शास्त्र को सिर पर वैसे ही ढोये चलते हैं जैसे कोई कुरान या गीता को ढोता है। यह महावीर के प्रति ज्यादती है। उन्होंने कभी कोई शास्त्र निर्मित नहीं किया, कभी कुछ नहीं लिखवाया। उनके मरने के सैकड़ों वर्ष बाद उनके वचन लिखे गए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि महावीर बराबर मौन रहे। अतः उनकी जो वाणी है वह कही हुई नहीं है, सुनी हुई है। महावीर का जो धर्म-प्ररूपण है वह मौन सम्प्रेषण है, टेलिपथिक ट्रांसमिशन है। बात पुराण-जैसी जरूर लगती है, लेकिन उसे वैज्ञानिक आधार मिलते चले जा रहे हैं। महावीर जब बोलते थे तब वे बोलते नहीं थे, बैठते थे। न तो वे होंठ का उपयोग करते थे और न कंठ का। उनके अन्तर-आकाश में ध्वनि जरूर गूँजती थी।

(१६) मैं कहता हूँ कि महावीर बोले नहीं, सुने गए। वे मौन बैठे और पास बैठे लोगों ने उन्हें सुना। जो जिस भाषा में उन्हें समझ सकता था, उसने उस भाषा में ही सुना और समझा। वहाँ पशु भी इकट्ठे थे और पौधे भी खड़े थे। कथा कहती है कि उन्होंने भी सुना। बेक्सटर भी तो कहता है कि पौधों के भाव होते हैं और वे समझते हैं आपकी भावनाएँ। पौधों को प्रेम करनेवाला व्यक्ति जब दुखी होता है तब वे भी दुखी होते हैं और जब उसके घर में उत्सव मनाया जाता है तब वे प्रफुल्लित होते हैं। जब घर में कोई मर जाता है तब वे मातम मनाते हैं; जब उनका प्रेमी उनके पास खड़ा होता है तब उनमें आनन्द की धाराएँ बहती हैं। अचेतन पर जो वैज्ञानिक प्रयोग किए जा रहे हैं उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि अपने अचेतन में हम कोई भी भाषा समझ सकते हैं। यदि आपको गहन रूप से सम्मोहित किया जाय,

इतना बेहोश किया जाय कि आपको अपना कोई पता न रह जाय, तो आपसे किसी भी भाषा में बात की जा सकती है और आप उसे समझ लेंगे।

(१७) चेक वैज्ञानिक डॉ० राज डेक का कहना है कि हम महासागर से निकले हुए छोटे-छोटे द्वीपों की भाँति हैं। ऊपर से अलग-अलग, किन्तु जमीन पर, अपनी अतल गहराइयों में, परस्पर जुड़े हुए। ऊपर हमारी भाषाएँ पृथक्-पृथक् हैं। लेकिन हमारे अचेतनकी भाषा एक है। गहरे उतर जायँ तो पशुओं और मनुष्यों की भी भाषा एक है, अचेतन की गहराइयों में हम पौधों से भी जुड़े हुए हैं और हमारा अचेतन मनुष्यों की ही भाषा नहीं समझता, पशु-पक्षियों और पौधों की बोली भी सुनता-समझता है। अतः आनेवाले बीस वर्षों में विज्ञान बताएगा कि महावीर ने निःशब्द विचार-संचरण का जो प्रयोग किया था वह पुराण-कथा-मात्र नहीं है। इस पर काम तेजी से चल रहा है और स्पष्ट होती जा रही है बहुत-सी अँधेरी गलियाँ जो पहले साफ न थीं। इसका अर्थ यह भी हुआ कि अगर हमें किसी व्यक्ति को दूसरी भाषा सिखानी हो तो उसके चेतन का नहीं, प्रत्युत अचेतन का सहारा उपयुक्त होगा। राज डेक कहता है कि चेतन रूप से सिखाने में आप श्रम का दुरुपयोग करते हैं, व्यर्थ की परेशानियाँ मोल लेते हैं। वह ठीक कहता है कि चेतन रूप से जो भाषा आप दो साल में सीखेंगे, उसे ही बलोरिया के डॉ० लॉरेन्जो आपको सम्मोहित हालत में बीस दिन में सिखा सकते हैं। उनका कहना है कि जब कोई व्यक्ति सचेतन रूप से सुनता है तब उसका ऊपरी मन सुनता है, इसलिए वे कहते हैं कि ऊपरी मन को तो लगा दो संगीत सुनने में और भीतरी मन के द्वार से सुनो वह जो सुनना चाहिए। इस तरह दो साल का कोर्स बीस दिन में ही पूरा किया जा सकता है।

बात क्या है ? बात कुल इतनी ही है कि नीचे गहरे में हमारी बहुत सारी क्षमताएँ छिपी पड़ी हैं। आप अपने घर से यहाँ तक आ गए। अगर आप पैदल चल कर आए हों, तो क्या आप बता सकते हैं कि रास्ते में कितने घर और खम्भे मिले ? आप कहेंगे क्या मैं कोई पागल हूँ जो इनकी गिनती करता ? लेकिन आपको बेहोश करके पूछा जाय तो आप इनकी संख्या बता सकते हैं। जब आप आ रहे थे इधर तब आपका ऊपरी मन आने में लगा था और नीचे का मन सब-कुछ अंकित करता जा रहा था। पानी के ऊपर निकला हुआ जो द्वीप है, उसे इसका कुछ भी पता नहीं है, लेकिन नीचे जो जुड़ी हुई भूमि का विस्तार है, उसे सब पता है।

(१८) चूँकि महावीर बोले नहीं, इसलिए उनका धर्म बहुत व्यापक नहीं हो पाया, बहुत लोगों तक नहीं पहुँच पाया। यदि वे बोलते तो सबकी समझ में आता। उनके न बोलने के कारण केवल वे ही समझ पाए जो उतने गहरे जाने को तैयार थे। इसलिए महावीर के वक्त जो श्रेष्ठतम लोग थे, केवल वे ही उनको सुन पाए—वे श्रेष्ठतम लोग चाहे पौधों में हों, या पशु-पक्षियों में, या मनुष्यों में। महावीर को

सुनने के पहले प्रशिक्षण से, ध्यान की प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता था ताकि आपका वाचाल मन शान्त हो जाय और आपकी गहन आत्मा महावीर के सामने आ जाय। संवाद हो सके उस आत्मा से। इसलिए महावीर की वाणी को पाँच सौ वर्ष तक फिर लिखा नहीं गया। तब तक लिखा नहीं गया, जब तक ऐसे लोग मौजूद थे जोम हावीर के शरीर के गिर जाने ने बाद भी महावीर के सन्देश लेने में समर्थ थे। जब ऐसे लोग भी समाप्त होने लगे तब घबराहट फैली और तब महावीर-वाणी को संगृहीत करने की कोशिश की गई। इसलिए जैनों का एक वर्ग—दिगम्बर—महावीर की किसी भी वाणी को विश्वसनीय नहीं मानता। उनका कहना है कि चूँकि वह उन लोगों के द्वारा संगृहीत हुई है जो दुविधा में पड़ गए थे, इसलिए वह प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। श्वेताम्बरों के पास भी जो शास्त्र हैं, वे भी पूर्ण नहीं हैं।

लेकिन महावीर की पूरी वाणी को कभी भी पुनः पाया जा सकता है। उसके पाने का ढंग यह नहीं है कि महावीर के ऊपर लिखी गई किताबों में उसे खोजा जाय। उसके पाने का बस एक ही रास्ता है । ऐसा ग्रुप, ऐसा स्कूल कायम किया जाय जिसमें थोड़े-से लोग, जो चेतना को गहराई तक ले जा सकें, महावीर से आज भी सम्बन्ध स्थापित कर सकें। महावीर ने कहा है कि वही धर्म उत्तम है जो तुम केवली से सम्बन्धित होकर जान सको, बीच में शास्त्र से सम्बन्धित होकर नहीं। केवली से कभी भी सम्बन्धित हुआ जा सकता है। शास्त्र बाजार में मिल जाते हैं, किन्तु केवली से सम्बन्धित होना हो तो बड़ी गहरी कीमत चुकानी पड़ती है। स्वयं के भीतर बहुत-कुछ रूपान्तरित करना पड़ता है। महावीर कहते थे, बिना कीमत चुकाए कुछ भी नहीं मिलता और जितनी बड़ी चीज पानी हो, उतनी ही बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।

इसलिए जब वे बार-बार कहते हैं कि अरिहंत उत्तम हैं, सिद्ध उत्तम हैं, साधु उत्तम हैं, केवली-प्ररूपित धर्म उत्तम है, तब वे यह कह रहे हैं कि इतने उत्तम को पाने के लिए सब-कुछ निछावर करने की तैयारी रखना, सब-कुछ खोना पड़ेगा, स्वयं को भी। जब भी कोई स्वयं को खोने को तैयार होता है तब वह केवली-प्ररूपित धर्म से सीधे संयुक्त हो जाता है। वही धर्म जो जाननेवाले से सीधे मिलता हो अथवा बिना मध्यस्थ के प्राप्त होता हो, श्रेष्ठ है।



तृतीय अध्याय

शरण की स्वीकृति

केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।[1]

—प्रचप्रति० संधारा० सू०

(१) कृष्ण ने गीता में कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । (१८.६६) "हे अर्जुन ! तू सभी धर्मो को छोड़कर एक मेरी ही शरण में आ।" कृष्ण जिस युग में बोल रहे थे वह युग अत्यन्त सरल एवं मृदुल श्रद्धा का युग था। किसी को ऐसा न लगा कि कृष्ण अहंकार की बात कह रहे हैं कि तू सब छोड़कर मेरी ही शरण में आ। वस्तुतः इससे ज्यादा अहंकारग्रस्त घोषणा दूसरी नहीं हो सकती। लेकिन बुद्ध और महावीर तक आते-आते आदमी की चित्त-दशा में बहुत फर्क हो जाता है। इसलिए जहाँ हिन्दू-चिन्तन 'माम् एकम् शरणम् व्रज' को केन्द्र मानकर खड़ा है, वहाँ बुद्ध और महावीर को अपनी दृष्टि में आमूल परिवर्तन करना पड़ा। महावीर ने नहीं कहा कि तुम सब छोड़करमेरी शरण में आ जाओ। बुद्ध ने भी ऐसी बात नहीं कही। जो महावीर और बुद्ध का सूत्र है वह साधक की ओर से है, सिद्ध की ओर से नहीं। अरिहंत, सिद्ध और केवली-प्ररूपित धर्म को स्वीकार करता हूँ—यह दूसरा छोर है शरणागत का। दो ही छोर हो सकते हैं। चाहे तो सिद्ध कहे कि मेरी शरण में आओ या साधक कहे कि मैं आपकी शरण में आता हूँ।

(२) हिन्दू और जैन-विचार में यही मौलिक भेद है। हिन्दू-विचार में सिद्ध कहता है, आओ मेरी शरण में; जैन-विचार में साधक कहता है कि मैं आपकी शरण में आता हूँ। इससे पता चलता है कि जहाँ कृष्ण का युग श्रद्धा का युग था, वहीं महावीर का युग बड़े तर्क का युग था। यदि महावीर कहते कि मेरी शरण में आ जाओ, तो लोगों को तत्काल लगता कि वे बड़े अहंकारी हैं।

बुद्ध की परम्परा में भी ऐसा ही सूत्र है—बुद्धम् शरणम् गच्छामि, संघम् शरणम् गच्छामि, धम्मम् शरणम् गच्छामि। फिर भी महावीर और बुद्ध के सूत्र में जो थोड़ा फर्क है उसे खयाल में ले लेना जरूरी है। यह भेद 'गच्छामि' और 'पवज्जामि' का भेद है, यद्यपि दोनों एक-से मालूम पड़ते हैं। जब कोई कहता है—बुद्धम् शरणम्

---

१. केवली-प्ररूपित (अर्थात् आत्मज्ञ-कथित) धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

गच्छामि, तब वह पहला कदम उठाता है। जब कोई कहता है--अरिहंते शरणम् पवज्जामि, तब वह शरण जाने की अन्तिम स्थिति में है, वह अन्तिम कदम उठाता हैं। जब कोई कहता है कि शरण में आता हूँ, तब वह बीच से लौट भी सकता है। यह भी हो सकता है कि यह उसकी यात्रा का प्रारम्भ हो, यात्रा पूरी न हो या उसके बीच में व्यवधान हो जाय—यात्रा के मध्म में ही कोई तर्क द्वारा समझाकर वापस लौटा दे, कारण कि तर्क शरण में जाने का नितान्त विरोधी है।

(३) महावीर का सूत्र है--अरिहंत की शरण स्वीकार करता हूँ। इससे लौटना नहीं हो सकता। यह 'प्वाइंट ऑफ नो रिटर्न' है। यदि 'शरण में जाता हूँ' कहें तो इसमें अभी काल का व्यवधान होगा, समय लगेगा शरण तक पहुँचते-पहुँचते। आज जो कहता है कि शरण में जाता हूँ, वह हो सकता है कि कितने जन्मों के बाद शरण में पहुँचे। अपनी-अपनी गति और अपनी-अपनी मति पर निर्भर होगा यह। लेकिन 'स्वीकार करता हूँ' की खूबी यह है कि यह 'सडेन जम्प' है, समग्र छलाँग है। 'स्वीकार करता हूँ'--अर्थात् स्वयं को तत्काल अस्वीकार करता हूँ क्योंकि शरण स्वीकार करता हूँ। अगर आप अपने को स्वीकार करते हैं तो शरण को स्वीकार नहीं कर सकेंगे। शरण की स्वीकृति अहंकार की हत्या है। चेतना में धर्म का विकास अहंकार के विसर्जन से शुरू होता है।

कृष्ण के युग में सत्य को उपलब्ध कर लेना जितना आसान था उतना महावीर के युग में नहीं। हमारे युग में सत्य को उपलब्ध कर लेना अत्यधिक कठिन है। आज न तो सिद्ध कह सकता है कि मेरी शरण में आ और न साधक कह सकता है कि मैं आपकी शरण में आता हूँ। महावीर चुप रह गए। आज अगर साधक किसी सिद्ध की शरण जाए और सिद्ध मौन रहे तो साधक समझेगा कि अच्छा है, मौन सम्मति का लक्षण है। मतलब कि साधक की दृष्टि में सिद्ध अहंकारी है। आश्चर्य नहीं कि कुछ दिनों बाद साधक से सिद्ध को ही कहना पड़े कि मैं आपकी शरण में आता हूँ, मुझे स्वीकार कीजिए। शायद साधक तभी यह मानने को तैयार होगा कि यह आदमी ठीक है।

शरण की स्वीकृति का मूल्य क्या है, इसे हम दो-तीन दिशाओं से समझने की कोशिश करें।

(४) पहले तो शरीर के समर्पण को ही समझने की कोशिश करें। भारतीय योग में शवासन का प्रयोग शरीर के पूर्ण समर्पण का प्रयोग है। शवासन का अर्थ है पूर्ण सर्मपित शरीर की दशा, जब आदमी ने अपने शरीर को बिलकुल छोड़ दिया हो, जब उसने अपने शरीर को पूरी तरह 'रिलैक्स' कर दिया हो। यह बहुत ही अद्भुत वैज्ञानिक सत्यों से भरा हुआ प्रयोग है। बल्गेरियन डॉक्टर लोज़ानोव का कहना है कि जब हम पृथ्वी के साथ समानान्तर लेट जाते हैं तब जगत् की शक्ति हममें सहज ही प्रवेश कर जाती है। जब हम खड़े होते हैं तब शरीर ही खड़ा नहीं होता, भीतर

अहंकार भी इसके साथ खड़ा हो जाता है। जब हम लेट जाते हैं तब हमारा अहंकार भी लेट जाता है। हमारे डिफेन्स के तत्त्व गिर जाते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि मनुष्य की बुद्धि विकसित हुई है उसके खड़े होने से। यह सच है। सभी पशु पृथ्वी के समानान्तर जीते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि आदमी का पैर पर खड़ा हो जाना ही उसकी तथाकथित बुद्धि का विकास है। लेकिन साथ ही जीवन के अन्तरतम से, जागतिक शक्तियों से, उसके सब गहरे सम्बन्ध शिथिल और क्षीण हो गए हैं। उसे लेटकर वह सम्बन्ध पुनः स्थापित करना पड़ता है। इसलिए अगर मन्दिरों में मूर्तियों के सामने, गिरजाघरों में, मस्जिदों में लोग झुककर जमीन पर लेट जाते हैं तो उसका वैज्ञानिक कारण है। लेटने पर हमारा डिफेन्स टूट जाता है, हमारी अकड़ छूट जाती है। जब कोई समर्पण कर देता है तब वह अपने को सब भाँति छोड़ देता है, ऐसे ही जैसे कोई नदी की धार में अपने को छोड़ दे और धार बहाने लगे; तैरे नहीं, बहने दे। तो शरणागति बहाव है, फ्लोट करना है, और जैसे ही कोई बहता है, वैसे ही चित्त के सभी तनाव छूट जाते हैं।

(५) शरणागति आन्तरिक आकृति को बदलने की चेष्टा है। जब आप खड़े होते हैं तो आपके भीतर की चित्ताकृति खास किस्म की होती है और जब आप पृथ्वी पर लेट जाते हैं तब वह कुछ और होती है। चित्त की भी विशेष आकृतियाँ होती हैं। अगर कोई परिपूर्ण भाव से कह सके कि मैं अरिहंत की शरण आता हूँ, सिद्ध की शरण आता हूँ, धर्म की शरण आता हूँ, तो यह भाव उसकी आन्तरिक आकृति को बदल देता है और आन्तरिक आकृति के बदलते ही उसके जीवन में रूपान्तरण शुरू होता है। आपके अन्तर में आपकी चेतना भी रूप लेती है। आप जिस तरह के भाव करते हैं, आपकी चेतना उसी तरह का रूप ग्रहण करती है।

(६) विनित्री दोजनोव नामक एक चेक किसान जमीन से चार फुट ऊपर उठ जाता है और दस मिनट तक जमीन से चार फुट ऊपर गुरुत्वाकर्षण के पार रुका रह जाता है। वैज्ञानिकों द्वारा की गई जाँच-पड़ताल से जाहिर है कि यह कोई धोखा नहीं है। विनित्री का कहना है कि इस उठने का रहस्य उसके समर्पण-भाव में है। मैं परमात्मा से कहता हूँ कि मैं तेरे हाथ में अपने को सौंपता हूँ, तेरी शरण आता हूँ। मैं अपनी ताकत से ऊपर नहीं उठता, उसकी ताकत से ऊपर उठता हूँ। जब तक मैं रहता हूँ, मेरा अहंकार रहता है, तब तक मैं ऊपर नहीं उठ पाता।

शरणागति का अर्थ ही पूर्ण समर्पण है।

क्या परमात्मा पर सर्वस्व छोड़ देने पर जीवन के साधारण नियम भी अपना काम करना छोड़ देते हैं? जमीन अपनी कशिश छोड़ देती है? अगर जमीन अपनी कशिश छोड़ देती है तो क्या आश्चर्य होगा कि यदि व्यक्ति अरिहंत की शरण जाए तो सेक्स की कशिश उसके भीतर से छूट जाए, जीवन के सामान्य नियम छूट जाएँ,

शरीर की माँग—भूख, प्यास आदि—छूट जाए? अगर जमीन कशिश छोड़ सकती है, अगर प्रकृति का एक नियम टूट सकता है, तो सब नियम टूट सकते हैं।

यह भी स्मरण रहे कि सिद्धासन में बैठना शरीर में पिरामिड की ही आकृति पैदा करना है। बुद्ध और महावीर की सारी मूर्तियाँ जिस आसन में हैं, वह पिरामिडिकल है। जमीन पर दोनों पैर का आधार बड़ा हो जाता है और ऊपर सब छोटा होता जाता है; सिर पर शिखर हो जाता है, एक त्रिकोण बन जाता है। ऐसे आसन को सिद्धासन कहते हैं। क्यों? क्योंकि इस आसन में सरलता से प्रकृति के नियम अपना काम छोड़ देते हैं और प्रकृति के ऊपर परमात्मा के जो गहन सूक्ष्म नियम हैं, वे भी काम नहीं करते।

(७) शरणागति की अपनी आकृति है, अहंकार की अपनी आकृति। अहंकार को हम सदा खड़ा हुआ ही सोच सकते हैं। शरण का भाव लेट जाने का भाव है, किसी विराट् शक्ति के समक्ष अपने को छोड़ देने का भाव है।

महावीर ने बारह वर्षों में केवल तीन सौ पैंसठ दिन भोजन किया। ग्यारह वर्ष बिलकुल नहीं। फिर भी महावीर से ज्यादा स्वस्थ शरीर खोजना मुश्किल है। महावीर के पीछे चलनेवाले व्यक्ति इसके रहस्य को समझ नहीं पाए। इस सम्बन्ध में राबर्ट पावलिता द्वारा किए गए कुछ प्रयोग बड़े प्रासंगिक हैं। उसने बरफिलाव नामक व्यक्ति को तीन सप्ताह के लिए सम्मोहित रखा और सम्मोहन की अवस्था में उसे बार-बार झूठा भोजन दिया। बरफिलाव की जाँच के लिए डॉक्टर नियुक्त किए। वे रोज आते और बताते कि बरफिलाव का शरीर और भी स्वस्थ होता चला जा रहा है। उसको जो शारीरिक तकलीफ थी, वह पाँच दिन के बाद विलीन हो गई, उसका शरीर पूर्ण स्वस्थ हो गया। सातवें दिन के बाद शरीर की सामान्य क्रियाएँ भी बन्द हो गईं। उसका वजन बढ़ गया।

इस प्रयोग के बाद महावीर को समझना आसान होगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि जिन लोगों को भी उपवास करना हो, वे तथाकथित जैन साधुओं के उपवास के पागलपन में न पड़ें। उन्हें कुछ भी पता नहीं है। वे सिर्फ भूखे मरवा रहे हैं, अनशन को उपवास कह रहे हैं। उपवास की तो कोई और ही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। और अगर इस भाँति प्रयोग किया गया तो वजन नहीं गिरेगा। परन्तु महावीर का वह सूत्र खो गया। सम्भव है, राबर्ट पावलिता-जैसे लोग उस सूत्र को फिर से पैदा कर लें। लेकिन हम अभागे लोग धर्म की बातों और विवादों में इतना समय नष्ट करते और करवाते हैं कि सार्थक बातों को करने के लिए समय और सुविधा नहीं बच रहती।

पावलिता का प्रयोग बेहोश और सम्मोहित आदमी पर किया गया है। महावीर तो पूर्ण जाग्रत पुरुष थे। वे उन जाग्रत लोगों में से थे जो निद्रा में भी जाग्रत रहे। तो महावीर का सूत्र क्या था?

(८) असल में सम्मोहन में और महावीर के सूत्र में एक आन्तरिक सम्बन्ध है। सम्मोहित व्यक्ति बेहोशी में विवश होकर समर्पित हो जाता है, उसका अहंकार खो जाता है। महावीर जानकर उस अस्मिता और अहंकार को खो देते हैं और समर्पित हो जाते हैं। अगर आप होशपूर्वक भी, जागे हुए भी समर्पित हो सकें और कह सकें कि 'अरिहंत शरणम् पवज्जामि' तो आप उसी रहस्य-लोक में प्रवेश कर जाएँगे जहाँ रेजलिव और पावलिता प्रयोग करता है।

ध्यान रहे, मनुष्य के चित्त में जब तक अहंकार है तब तक भय होता है। भय और अहंकार एक ही ऊर्जा के नाम हैं। अहंकारी अत्यन्त भयातुर होता है। महावीर कहते हैं कि अभय तो वही हो सकता है जो समर्पित है, शरणागत है। जिसने अपने को छोडा उसके भय का कोई कारण नहीं रहा।

(९) यह सूत्र शरणागति का है। इस सूत्र के साथ नमोकार पूरा हो जाता है। नमस्कार से शुरू होकर वह शरणागति पर पूरा होता है और इस अर्थ में नमोकार पूरे धर्म की यात्रा बन जाता है।

शरणागति का पहला सम्बन्ध उस आन्तरिक ज्यामिति से है जो आपके भीतर की चेतना की आकृति बदलती है। दूसरी बात––आप प्रकृति के साधारण नियमों के बाहर चले जाते हैं, किसी गहन अर्थमें आप दिव्य हो जाते हैं। और तीसरी बात––शरणागति आपके जीवन–द्वारों को परम ऊर्जा की तरफ खोल देती है। विश्व-ऊर्जा के स्रोतों की ओर स्वयं को खोलना हो तो शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

(१०) इसलिए अहंकारी व्यक्ति दीन-से-दीन व्यक्ति है जिसने अपने को समस्त स्रोतों से तोड़ लिया है, जो सिर्फ अपने पर ही भरोसा कर रहा है। उसका जीवन सिर्फ सड़ने का एक क्रम होगा, मरने की एक प्रक्रिया होगा। रस पाता है फूल अपनी जड़ों से, सूर्य से, चाँद-तारों से। अगर फूल समर्पित है तो प्रफुल्लित हो जाता है। सब द्वारों से उसे रोशनी और प्रकाश मिलता है। जीवन-ऊर्जा के परम स्रोतों की तरफ अपने को खोलना ही शरणागति है।

(११) अगर आप से भी ऊर्जा प्रवाहित हो जाती है, तो क्या परम शक्ति के प्रति समर्पित होकर आप उसकी ऊर्जा को अपने में समाविष्ट नहीं कर सकते ? ऊर्जा के प्रवाह हमेशा दोनों तरफ होते हैं। जो ऊर्जा आपसे बह सकती है, वह आपकी तरफ भी बह सकती है। अगर गंगा सागर की तरफ बहती है तो क्या सागर गंगा की तरफ नहीं बह सकता ? **यह शरणागति सागर को गंगा की गंगोत्री की तरफ बहाने की प्रक्रिया है।** शरणागति कहती है लड़ो मत, गिर जाओ और तुम पाओगे कि जिसकी शरण में तुम गिर गए हो, उससे तुमने कुछ खोया नहीं, पाया है। ईसा मसीह ने कहा है कि जो भी अपने को बचाएगा वह मिट जायगा, किन्तु धन्य हैं वे जो अपने को मिटा देते हैं, क्योंकि उनको मिटाने की फिर किसी में सामर्थ्य नहीं है !

वह जो अमृत तथा जीवन का अनन्त रहस्य-स्रोत है चारों तरफ, उसके प्रतीक-शब्द हैं अरिहंत, सिद्ध, साधु आदि। ये उस स्रोत की आकृति हैं हमारे पास। परमात्मा तो निराकार में खड़ा है।

(१२) लेकिन आकार में भी परमात्मा की छवि बहुत बार दिखाई पड़ती है—कभी किसी महावीर में, कभी किसी बुद्ध या क्राइस्ट में। लेकिन हम उस निराकार को पहचान नहीं पाते और उस आकृति में कोई-न-कोई दोष निकाल लेते हैं। कहते हैं—क्राइस्ट की आकृति थोड़ी कम लम्बी है, यह परमात्मा की नहीं हो सकती। महावीर को तो बीमारी पकड़ती है, ये परमात्मा कैसे हो सकते हैं? आपको खयाल नहीं कि आप **आकृति** की भूलें निकाल रहे हैं और आकृति के भीतर जो मौजूद था, उससे चूके जा रहे हैं। आप वैसे आदमी हैं जो दीए की मिट्टी की भूलें निकालता है और उसकी देदीप्यमान ज्योति की ओर दृक्पात नहीं करता। दीये की निराकार स्रोतरहित ज्योति ही मुख्य है, न कि दीये की मिट्टी, उसकी आकृति। लेकिन हम यह नहीं देखते कि कृष्ण ने क्या कहा, हम इसकी फिक्र करते हैं कि उनकी वाणी में व्याकरण की भूलें तो न थीं! वे शास्त्र-सम्मत बातें करते हैं अथवा नहीं! जब तक हम दीये की नाप-जोख करते हैं तब तक ज्योति बिदा हो जाती है और हम मरे हुए दीयों को हजारों साल तक पूजते रहते हैं। मरे हुए दीयों का हम बड़ा आदर करते हैं। इस जगत् में जिन्दा तीर्थंकर का उपयोग नहीं होता, सिर्फ मुर्दा तीर्थंकर का उपयोग होता है, क्योंकि मुर्दा तीर्थंकर के साथ भूल-चूक निकालने की सुविधा नहीं रह जाती। अगर आप महावीर के साथ रास्ते में चलते हों और महावीर थककर वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगें तो आपको शक होगा और आप कहेंगे—'अरे, महावीर तो कहते थे कि भगवान् अनन्त ऊर्जा, अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य है! कहाँ गई अनन्त ऊर्जा? ये तो थक गए! दस मील चले और पसीना निकल आया!' असल में दीया थकता है। महावीर जिस अनन्त ऊर्जा की बात कर रहे हैं, वह ज्योति की बात है। दीए तो सभी के थक जायँगे और गिर जायँगे।

(१३) लेकिन हम दीये की भूलों पर ही ध्यान क्यों देते हैं? हम यह इसलिए करते हैं कि हमें शरणागति से बचने का कोई बहाना मिल सके। आकृति के दोष कारण बनकर हमें शरण में जाने से रोक सकें। बुद्धिमान् वह है जो कारण खोजता है शरण में जाने के लिए; बुद्धिहीन वह है जो कारण खोजता है शरण से बचने के लिए। दोनों प्रकार के कारण खोजे जा सकते हैं। महावीर जिस गाँव से गुजरते हैं उस गाँव के सभी लोग उनके भक्त नहीं हो जाते। उस गाँव में भी उनके शत्रु होते ही हैं और वे भी अकारण नहीं होते होंगे। वे कहते होंगे कि अगर महावीर सर्वज्ञ हैं तो वे उस घर के सामने भिक्षा क्यों माँगते हैं जिसमें कोई है ही नहीं? यदि ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति सर्वज्ञ होता है—महावीर खुद ऐसा ही कहते थे—तो उन्हें पता होना

ही चाहिए कि घर में कोई भी नहीं है । नहीं, वे सर्वज्ञ नहीं हैं । बस, बात यहीं खत्म हो गई, शरण से रुकने का उपाय हो गया। जिन्हें कारण ढूँढ़ना होगा वे यह भी कहते होंगे कि शास्त्रों में तीर्थंकरों के कई लक्षण वर्णित हैं, जिनमें एक लक्षण यह है कि जहाँ-जहाँ तीर्थंकरों के चरण जाते हैं वहाँ-वहाँ से घृणा का भाव तिरोहित हो जाता है, शत्रुता का भाव मिट जाता है। यदि महावीर तीर्थंकर होते तो उनके कान में कोई कीलें कैसे ठोक पाता ? कान में कीलें तो बहुत दूर से नहीं ठोकी जा सकतीं, बहुत पास आना पड़ता है। यदि महावीर के पास आकर भी शत्रुता का भाव बच रहता है तो बात गड़बड़ है, संदिग्ध है मामला, महावीर तीर्थंकर नहीं हैं ! मगर महावीर तीर्थंकर हैं या नहीं, इससे आप क्या पा लेंगे ? हाँ, उसकी शरण जाने से आप बच सकेंगे, बस इतना ही । ऐसा प्रतीत होता है कि आपके शरण जाने से महावीर को कुछ मिलनेवाला है, जो आपने रोक लिया ! भूल रहे हैं आप । शरण जाने से आपको ही कुछ मिल सकता था, जो आप चूक गए !

अगर आपको शरण नहीं जाना है तो आप कारण खोज ही लेंगे न जाने के । और अगर आपको शरण जाना है तो पत्थर की मूर्ति में भी आप कारण खोज सकते हैं जाने के । मजा यह है कि शरण में जाएँ तो पत्थर की मूर्ति भी आपके लिए उसी परम स्रोत का द्वार खोल देगी, शरण न जाएँ तो खुद महावीर सामने खड़े रहेंगे और वह द्वार बन्द रहेगा । **धार्मिक आदमी मैं उसे कहता हूँ जो कहीं भी शरण जाने का कारण खोजता ही रहता है ।**

(१४) अगर ईसा मसीह सूली पर चमत्कार दिखा दें और तब आप उनकी शरण में जाएँ, तो, ध्यान रखना, यह शरणागति नहीं है । इसमें कारण ईसा मसीह हैं, आप नहीं । यह सिर्फ चमत्कार को नमस्कार है, इसमें कोई शरणागति नहीं है । शरणागति तो तब होती है जब कारण आप हों, ईसा मसीह या बुद्ध या महावीर का चमत्कार नहीं । इस फर्क को ठीक से समझ लें, नहीं तो सूत्र का राज़ चूक जायगा। **शरणागति उसी मात्रा में गहन होती है जिस मात्रा में शरणागति जाने का कोई कारण नहीं होता ।** अगर कारण होता है तो वह सौदा हो जाती है, शरणागति नहीं रह जाती : अगर बुद्ध मुर्दे को जिला रहे हैं तो उसे नमस्कार करना ही पड़ेगा । इसमें खूबी आपकी नहीं है, इसमें तो कोई भी नमस्कार कर लेगा । परन्तु जब महावीर-जैसा आदमी आपके सामने खड़ा हो जाता है, जिसमें कोई चमत्कार नहीं है, जिसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो आपका ध्यान खींचे या जिससे आपको तत्काल लाभ दिखाई दे, जिसमें कुछ भी ऐसा नहीं जो आपके सिर पर पत्थर की चोट-जैसा प्रमाण बन जाय, और आप उसकी शरण चले जाते हैं, तब आपके भीतर क्रान्ति घटित होती है, आपका अहंकार विलीन होने लगता है। सब तर्क, सब प्रमाण, सब चालाकी की बातें अहंकार के ईर्द-गिर्द हैं ।



चतुर्थ अध्याय

धर्म का परम सूत्र : अहिंसा और स्वभाव

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥[1]

—दश० अ० १ गा० १

(१) महावीर कहते हैं कि धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। जीवन में आनन्द की जो भी सम्भावना है वह धर्म के द्वार से ही प्रवेश करती है। जीवन में सौन्दर्य के जो फूल खिलते हैं वे धर्म की जड़ों में पोषित होते हैं। जीवन में जो भी दुख है वह किसी-न-किसी रूप में धर्म से च्युत हो जाने में या अधर्म में संलग्न हो जाने में है। महावीर की दृष्टि में धर्म का अर्थ है—जो मैं हूँ उस होने में ही जीना, जो मैं हूँ उससे जरा भी च्युत न होना।

जो मेरा अस्तित्व है उससे बाहर जाते ही मेरे दुख का प्रारम्भ हो जाता है। दुख का प्रारम्भ इसलिए हो जाता है कि जो मैं नहीं हूँ, उसे कितना ही चाहूँ तब भी वह मेरा नहीं हो सकता। जो मैं नहीं हूँ, उसे मैं कितना ही बचाना चाहूँ, उसे मैं बचा नहीं सकता। वह खोएगा ही। मैं केवल उसे ही पा सकता हूँ जिसे मैंने किसी गहरे अर्थ में सदा से पा रखा है। मैं केवल उसका ही मालिक हो सकता हूँ जिसका मैं जाने-न-जाने अभी भी मालिक हूँ। मृत्यु जिसे मुझसे छीन नहीं सकेगी, वही केवल मेरा है। रुग्ण हो जायगा सब-कुछ, नष्ट हो जायगा सब-कुछ, फिर भी जो विलीन नहीं होगा, वही मेरा है। गहन अंधकार छा जाए, अमावस आ जाए जीवन में चारों तरफ, फिर भी जो अँधेरा न होगा, वही मेरा प्रकाश है। लेकिन हम स्वयं को खोजते हैं उसमें जो हम नहीं हैं, वहीं से विफलता और विवाद जनमता है, निराशा उत्पन्न होती है। इस जगत् में बहुत कम लोग हैं जो स्वयं को चाहते हैं।

(२) हम स्वयं को पा सकते हैं और कुछ पा नहीं सकते। सिर्फ दौड़ सकते हैं। सत्य केवल एक है और वह यह कि मैं स्वयं के अतिरिक्त इस जगत् में और कुछ भी नहीं पा सकता। हाँ, पाने की कोशिश कर सकता हूँ, श्रम कर सकता हूँ, आशा बाँध सकता हूँ। पाने के स्वप्न देख सकता हूँ। अधर्म का अर्थ है—स्वयं को छोड़कर

---

१. **धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। (कौन सा धर्म ?) अहिंसा, संयम और तप। जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।**

और कुछ भी पाने का प्रयास। अधर्म का अर्थ है—स्वयं को छोड़कर 'अन्य' पर दृष्टि। सच पूछिए तो हमारी दृष्टि सदा दूसरे पर लगी होती है, यहाँ तक कि हम अपनी शक्ल भी देखते हैं तो वह भी दूसरे के लिए। धर्म तो स्वयं को सीधा चाहने से उत्पन्न होता है, क्योंकि धर्म का अर्थ है—स्वभाव, 'दि अल्टीमेट नेचर'।

(३) सार्त्र ने कहा है कि 'दि अदर इज हेल', अर्थात् वह जो दूसरा है वही नर्क है हमारा। 'दूसरा नर्क है,' महावीर यह सीधे नहीं कहते, क्योंकि इतना कहने में भी दूसरे को चाहने की आकांक्षा और फिर विफलता छिपी है। दूसरा नर्क इसीलिए मालूम पड़ता है कि हमने दूसरे को स्वर्ग मानकर खोज की। हम दूसरे के पीछे गए मानों वहाँ—उसके पास—स्वर्ग है। सार्त्र कहता है कि दूसरा नर्क है, क्योंकि उसमें स्वर्ग खोजने की कोशिश की गई है। जब स्वर्ग नहीं मिलता तो वह व्यक्ति नर्क मालूम पड़ता है। महावीर नहीं कहते कि दूसरा नर्क है। यह जानना कि दूसरा नर्क है, दूसरे में स्वर्ग को मानने से दिखाई पड़ता है। अगर मैंने दूसरे से कभी सुख नहीं चाहा तो मुझे दूसरे से कभी दुख नहीं मिल सकता। हमारी अपेक्षाएँ ही दुख बनती हैं। अपेक्षाओं का भ्रम जब टूटता है तब निराशा हाथ लगती है। इसलिए दूसरा नर्क नहीं है। चूँकि तुमने दूसरे को स्वर्ग माना, इसलिए दूसरा नर्क हो जाता है। लेकिन तुम तो स्वयं स्वर्ग हो।

स्वयं को स्वर्ग मानने की जरूरत नहीं है। स्वयं का स्वर्ग होना स्वभाव है।

महावीर का वक्तव्य बहुत पॉजिटिव है। वे कहते हैं धर्म मंगल है, स्वभाव मंगल है, स्वयं का होना मोक्ष है और स्वयं को मानने की जरूरत नहीं है कि मोक्ष है। ध्यान रहे, मानना हमें वहीं पड़ता है जहाँ नहीं होता। कल्पनाएँ हमें वहीं करनी होती हैं जहाँ कि सत्य कुछ और है। स्वयं को सत्य, धर्म या आनन्द मानने की जरूरत नहीं है। स्वयं में है मोक्ष—यह तब दिखाई पड़ना शुरू होता है, जब ध्यान की धारा दूसरे से हट जाती है और स्वयं पर लौट आती है।

(४) महावीर की यह घोषणा कि धर्म मंगल है, कोई परिकल्पनात्मक सिद्धान्त नहीं है और न यह कोई दार्शनिक वक्तव्य है। जिस अर्थ में हीगल, कांट या बर्ट्रेंड रसेल दार्शनिक हैं, उस अर्थ में महावीर दार्शनिक नहीं हैं। महावीर का यह वक्तव्य सिर्फ एक अनुभव, एक तथ्य की सूचना है। महावीर सोचते नहीं कि धर्म मंगल है, वे जानते हैं कि धर्म मंगल है। अगर पश्चिम में किसी दार्शनिक ने यह कहा होता तो दूसरा वक्तव्य होता—क्यों? ह्वाई? लेकिन महावीर का दूसरा वक्तव्य ह्वाई का नहीं, ह्वाट का उत्तर देता है। वे कहते हैं—धर्म मंगल है। कौन सा धर्म? अहिंसा संजमो तवो। यदि अरस्तू ऐसा कहता तो वह तत्काल बताता कि मैं धर्म को मंगल क्यों कहता हूँ। महावीर कोई कारण नहीं देते। वस्तुतः अनुभूति के लिए कोई प्रमाण नहीं होता, सिद्धान्तों के लिए तर्क और प्रमाण होते हैं।

(५) महावीर-जैसे लोग प्रमाण नहीं देते, सिर्फ वक्तव्य देते हैं। उनके वक्तव्य वैसे ही वक्तव्य हैं जैसे आइंस्टीन के या किसी और वैज्ञानिक के। अगर हम आइंस्टीन से पूछते कि पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से मिलकर क्यों बना है, तो वह कहता कि क्यों का सवाल नहीं है, हम इतना ही कह सकते हैं कि वह बना है, ऐसा हुआ है। विज्ञान दूसरे के, अर्थात् पर के, सम्बन्ध में वक्तव्य देता है, धर्म स्वयं के सम्बन्ध में।

क्या आपको पता है कि जब भी आपके जीवन में कोई दुख आता है तो दूसरे के द्वारा ही आता है? चिन्ता भीतर से नहीं, बाहर से आती मालूम पड़ती है। क्या कभी आप भीतर से चिन्तित हुए हैं? आपकी चिन्ता का केन्द्र सदा बाहर रहा है। वह धन हो, बीमार मित्र हो, टूटती हुई दुकान हो, हारा हुआ चुनाव हो, कुछ भी हो—वह सदा दूसरा ही होता है।

(६) कभी-कभी ऐसा लगता है कि दूसरा सुख का भी कारण बनता है। इस भ्रान्ति का टूट जाना जरूरी है। इसी से सब उपद्रव शुरू होते हैं। ऐसा तो लगता ही है कि दूसरा दुःख का कारण है, लेकिन ऐसा भी लगता है कि दूसरों से सुख मिल सकता हैं। सुख भी दूसरों से आते मालूम पड़ते हैं। ध्यान रखें कि दूसरों से दुख मिलने का कारण यही है कि हम दूसरों से सुख की आशा करते हैं। दूसरों से दुख आता ही इसलिए है कि हमने उनसे एक भ्रान्ति का सम्बन्ध बना रखा है और समझ रखा है कि उनसे सुख आ सकता है। सुख का आना सदा भविष्य में होता है।

क्या कभी आपने जाना कि दूसरे से सुख आ रहा है? सदा ऐसा लगता है कि आएगा, आता कभी नहीं। जिस मकान के लिए लालसा थी और कभी लगता था कि उसके मिल जाने से सुख मिलेगा, उसके मिलते ही सुख गायब हो जाता है। जब तक वह नहीं मिलता तब तक सुख की सम्भावना रहती है। यही बात अन्य चीजों पर भी लागू होती है। जिस दिन आपकी सभी मनोकामनाएँ पूरी हो जायँगी उस दिन पृथ्वी कितनी दुखी हो जायगी! इसलिए जिस मुल्क में सुख की जितनी सुविधाएँ बढ़ती हैं उसमें उतना ही दुख भी बढ़ता है। गरीब मुल्क कम दुखी होते हैं। मेरे इस कथन से आपको थोड़ी हैरानी होगी, लेकिन यह न भूलें कि गरीब कम दुखी होता है, क्योंकि अभी उसकी आशाओं का पूरा का पूरा जाल जीवित है—अभी वह अपनी आशाओं में जी सकता है, वह अभी सपने देख सकता है।

वर्तमान में सदा दुख है दूसरे के साथ। दूसरे के साथ सुख होता है सिर्फ भविष्य में। अगर सारा भविष्य नष्ट हो जाय और जो-जो भविष्य में मिलना चाहिए वह आपको अभी, इसी क्षण मिल जाय, तो आप सिवा आत्महत्या करने के कुछ भी नहीं कर सकेंगे। इसलिए जितना सुख बढ़ता है, उतनी आत्महत्याएँ बढ़ती

हैं। महावीर अपने घर में जितने दुखी हुए, उनके घर के सामने भीख माँगनेवाला भिखारी भी उतना दुखी न था। महावीर का दुख इस बात से पैदा हुआ है कि उस युग में जो भी मिल सकता था वह मिला हुआ था। उनके लिए कोई भविष्य नहीं बचा था। जब भविष्य न बचे तो सपने कहाँ खड़ा कीजिएगा ? जब भविष्य न बचे तो कागज की नाव किस सागर में चलाइएगा ? भविष्य के सागर में ही चलती है कागज की नाव। अगर भविष्य न बचे तो किस भूमि पर ताशों का भवन बनाइगा ? अगर ताशों का भवन बनाना हो तो भविष्य की नींव चाहिए।

(७) हमें भी अनुभव है, लेकिन हम पीछे लौटकर नहीं देखते। हम आगे ही देखे चले जाते हैं। जो आदमी आगे ही देखे चला जाता है, वह कभी धार्मिक नहीं हो सकेगा। उसे अनुभव से कोई लाभ न होगा। भविष्य में कोई अनुभव नहीं है, अनुभव तो अतीत में है। आदमी की स्मृति भी बहुत अद्भुत है ! उसे खयाल नहीं रहता कि जिस कपड़े को शो-विण्डो में देखकर उसे कितनी गुदगुदी मालूम पड़ी थी, वही जब उसके शरीर पर होता है तब उसमें कोई क्रान्ति घटित नहीं होती, कोई स्वर्ग उतर नहीं आता ! वह उतना का उतना ही दुखी रहता है। हाँ, अब दूसरी दुकान की शो-विण्डो में उसका सुख लटक जाता है। अब दूसरी दुकान की शो-विण्डो उसकी नींद खराब कर देती है। पीछे लौटकर अगर देखें तो आप पाएँगे कि आपने जिन-जिन सुखों की कामना की भी वे सभी दुख सिद्ध हो गए। आप एक भी ऐसा सुख नहीं बता सकते जिसकी आपने कामना की थी और जो मिलने पर सचमुच सुख सिद्ध हुआ हो। आश्चर्य है कि आदमी फिर भी वही पुनरुक्ति किए चला जाता है और कल के लिए पहली-जैसी योजनाएँ बनाता है। वह जिस गड्ढे में कल गिरा था, आज फिर उसी की तलाश करता है। ऐसा नहीं कि वह केवल कल ही गिरा था। वह रोज-रोज गिरता है, फिर भी उसकी भ्रान्ति नहीं टूटती।

(८) असल में दूसरा पटकता है तो हम हँसते हैं, लेकिन हम अपने को ही पटकते चले जाते हैं। जिन्दगी भर ऐसा ही चलता है और आखिर में दुख के घाव के अतिरिक्त हमारी कोई उपलब्धि नहीं होती। घाव ही घाव रह जाते हैं।

इतना हम जानते हैं कि अधर्म अमंगल है और अधर्म का मतलब समझ लेना—दूसरे में सुख पाने की आकांक्षा। दुख ही अमंगल है। और कोई अमंगल नहीं। जब भी दुख मिले तो आप जानना कि आपने दूसरे से कहीं सुख पाना चाहा था। अगर मैं अपने शरीर से ही सुख पाना चाहूँ तो भी मुझे दुख ही मिलेगा—कल बीमारी आयगी, शरीर रुग्ण होगा, बूढ़ा होगा, परसों मरेगा। यह शरीर जो इतना निकट मालूम होता है, पराया है। महावीर कहते थे कि जिससे भी दुख मिले, जानना कि वह और है, वह तुम नहीं हो।

(६) सुख अपरिचित है, क्योंकि हमारा सारा परिचय 'पर' से है, दूसरे से

है। सुख सिर्फ कल्पना में ही एक अनुभव है। लेकिन दुख, जो कि अनुभूत है, हम भुलाए जाते हैं और सुख, जो कि कल्पना है, हमें खींचे चला जाता है। महावीर का यह सूत्र इस पूरी बात को बदल देना चाहता है। धर्म मंगल है। आनन्द की तलाश स्वभाव में है। आपके जीवन में कभी अगर आनन्द की कोई छोटी-मोटी किरण उतरी होगी, तो वह तभी उतरी होगी जब आप जाने-अनजाने किसी भाँति एक क्षण के लिए स्वयं से संबद्ध होंगे।

(१०) एक पत्नी को बदलकर दूसरी पत्नी के साथ जो क्षण भर का सुख मिलता है, वह सिर्फ बदलाहट का सुख है। बदलाहट का सुख भी सिर्फ इसलिए कि दो चीजों के बीच से क्षण भर के लिए आपको अपने भीतर से गुजरना पड़ता है। अनिवार्य है कि जब मैं एक से टूटूँ और दूसरे से जुड़ूँ, तो टूटने और जुड़ने के बीच में जो गैप या अन्तराल है, उसमें कहीं तो रहूँगा। उसमें मैं अपने में रहूँगा। वही अपने में रहने का क्षण प्रतिफलित होगा और लगेगा कि दूसरे से सुख मिला। सभी बदलाहट अच्छी लगती है। बस, बदलाहट का—यानी 'चेन्ज' का—जो सुख है, वह क्षण भर के लिए अचानक अपने से गुजर जाने का सुख है। इसलिए आदमी शहर से जंगल भागता है, भारत से यूरप जाता है और यूरप से भारत आता है।

(११) सभी बदलाहटें आपके भीतर एक ऐसी स्थिति ला देती हैं कि आपको अनिवार्यरूपेण कुछ देर के लिए अपने भीतर से गुजरना पड़ता है। उसका ही प्रतिबिम्ब आपको सुख मालूम पड़ता है। अपने भीतर से क्षण भर गुजरते ही यदि आप सुखी हो जाते हैं तो जो सदा अपने भीतर जीने लगता है, उसके सुख की क्या सीमा होगी।

आधा सत्य हमारे पास है कि 'दूसरा' ही दुख है। कामना दुख है, वासना भी दुख है, क्योंकि कामना और वासना सदा दूसरे की तरफ दौड़ानेवाले होते हैं। वासना का अर्थ है—दूसरे की तरफ दौड़ती हुई चेतन-धारा, भविष्य की ओर उन्मुख जीवन की नौका। अगर दूसरा दुख है तो उसकी ओर ले जानेवाला जो सेतु है, वह नर्क का सेतु है। उसको महावीर वासना कहते हैं। वही बुद्ध के लिए तृष्णा है।

वासना का न दौड़ना आत्मा का हो जाना है। आत्मा उस शक्ति का नाम है जो अपने में खड़ी है। अहिंसा, संयम और तप दौड़ती हुई ऊर्जा को ठहराने की विधियों के नाम हैं। धर्म के दो रूप हैं। धर्म स्वभाव है और धर्म विधि है स्वभाव तक पहुँचाने की। धर्म का जो आत्यन्तिक रूप है वह है स्वभाव, स्वधर्म। चूँकि हम स्वभाव से भटक गए हैं, इसलिए यह कहने की जरूरत पड़ती है। स्वस्थ व्यक्ति चिकित्सक से नहीं पूछता कि मैं स्वस्थ हूँ या नहीं।

(१२) धर्म का परम सूत्र है स्वभाव।

अहिंसा धर्म की आत्मा है, केन्द्र है। तप धर्म की परिधि है और संयम केन्द्र को

परिधि से जोड़नेवाला सेतु है। अहिंसा आत्मा है, तप शरीर है और संयम प्राण है, यह दोनों को जोड़ता है, साँस है। साँस टूट जाय तो शरीर होगा, आत्मा भी होगी, लेकिन आप न होंगे। संयम टूट जाय तो तप हो सकता है, अहिंसा भी हो सकती है, लेकिन धर्म नहीं हो सकता।

महावीर की दृष्टि में अहिंसा धर्म की आत्मा है। अगर हम महावीर से पूछें कि एक ही शब्द में यह बतला दें कि धर्म क्या है, तो वे कहेंगे—अहिंसा। दूसरे लोग कहेंगे—परमात्मा, आत्मा, सेवा, ध्यान, समाधि, योग, पूजा, प्रार्थना, आदि-आदि। लेकिन महावीर के लिए धर्म का पर्याय है अहिंसा। पर महावीर की अहिंसा वह बचकानी अहिंसा नहीं है जो उनके माननेवाले समझते रहे हैं।

(१३) धर्म की परिभाषा स्वभाव है। महावीर यह नहीं कहेंगे कि दूसरे को सुख देना ही धर्म है, क्योंकि इससे दूसरा आ खड़ा होता है। महावीर कहते हैं कि धर्म तो वहीं है जहाँ दूसरा है ही नहीं। दूसरे को दुख मत दो—यह भी महावीर की परिभाषा नहीं हो सकती, कारण महावीर मानने को तैयार नहीं कि हम दूसरे को दुख दे सकते हैं, जब तक दूसरा लेना ही न चाहे। यह भ्रान्ति है कि मैं दूसरे को दुख दे सकता हूँ। यह भ्रान्ति इस पर खड़ी है कि मैं दूसरे से दुख पा सकता हूँ। मैं दूसरे से सुख पा सकता हूँ, मैं दूसरे को सुख दे सकता हूँ—ये सब भ्रान्तियाँ एक ही आधार पर खड़ी हैं। क्या कोई महावीर को दुख दे सकता है? नहीं, आप महावीर को दुख नहीं दे सकते, क्योंकि वे दुख लेने को तैयार नहीं हैं। आप उसी को दुख दे सकते हैं जो दुख लेने को तैयार हो। आप यह जानकर हैरान होंगे कि आप हमेशा दुख लेने को उत्सुक रहते हैं। अगर कोई आदमी आपकी चौबीसों घंटे प्रशंसा करे तो आपको सुख नहीं मिलेगा, लेकिन अगर वह एक गाली दे दे तो आप आजीवन दुखी रहेंगे। कोई आपकी बरसों सेवा करे, आपको सुख नहीं मिलेगा, लेकिन एक दिन वह आपके खिलाफ एक शब्द बोल दे तो आप बेहद दुखी हो जायँगे, उसकी सारी सेवा व्यर्थ हो जायगी। इससे क्या सिद्ध होता है?

(१४) इससे यही सिद्ध होता है कि आप सुख लेने को उतना आतुर नहीं हैं जितना दुख लेने को। यानी आपकी उत्सुकता जितनी दुख लेने में है, उतनी सुख लेने में नहीं है। अगर मुझे किसी ने उन्नीस बार नमस्कार किया और एक बार नमस्कार नहीं किया, तो उन्नीस बार के नमस्कार से मैंने जितना सुख नहीं लिया है, उससे अधिक दुख एक बार के नमस्कार न करने से ले लेता हूँ। आश्चर्य है! हम दुख के लिए जो इतने संवेदनशील हैं, उसका कारण क्या है? उसका कारण यह है कि हम दूसरों से सुख चाहते हैं। इतना ज्यादा कि वही चाह हमारे दुख का द्वार बन जाती है। महावीर नहीं कह सकते कि अहिंसा का अर्थ है दूसरे को दुख न देना। दूसरे को कौन दुख दे सकता है अगर दूसरा लेना न चाहे तो? जो लेना

चाहता है उसको कोई न भी दे तो भी वह ले लेगा--यह भी मैं आपसे कह देना चाहता हूँ।

(१५) जितने दुख आपको मिल रहे हैं, उनमें से ९९ प्रतिशत आपके आविष्कार हैं। जरा सोचें, किस-किस तरह आप आविष्कार करते हैं दुख का ! असल में बिना दुखी हुए आप रह नहीं सकते। दुख भी जीने के लिए काफी बहाना है ! देखते हैं न कि दुखी लोग कितने रस से जीते हैं और अपने दुख की कथा कितने रस से कहते हैं और उसे किस प्रकार बढ़ा-चढ़ाकर सुनाते हैं ! यदि सुई लग जाय तो तलवार से कम नहीं लगती वह उन्हें !

(१६) वे अपनी सारी इन्द्रियों को चारों तरफ सजग रखते हैं एक ही काम के लिए कि कहीं से दुख आ रहा हो तो चूक न जाएँ, उसे जल्दी से ले लें। कहीं अवसर न खो जाय ! यही दुख हमारे जीने की वजह है।

तो महावीर की अहिंसा का अर्थ यह नहीं है कि दूसरे को दुख मत देना। महावीर तो कहते हैं कि दूसरे को न तो कोई दुख दे सकता है और न कोई सुख दे सकता है। महावीर की अहिंसा का यह भी अर्थ नहीं है कि दूसरे को मार मत डालना। महावीर भलीभाँति जानते हैं कि इस जगत् में कौन किसको मार सकता है ? मृत्यु असम्भव है।

(१७) लेकिन महावीर के पीछे चलनेवालों ने अत्यन्त साधारण परिभाषाओं का ढेर इकट्ठा कर लिया है। क्या अहिंसा का अर्थ यही है कि मुँह में पट्टी बाँध ली जाय ? अहिंसा का अर्थ यही है कि रात में पानी न पिया जाय ? यह सब ठीक है; मुँह पर पट्टी बाँधने में या पानी छानकर पीने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन इस भ्रम में न रहिए कि आप किसी को मार सकते हैं। किसी को दुख मत दीजिए, लेकिन इस भ्रम में भी न रहिए कि आप किसी को दुख दे सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि आप जाएँ और मार-पीट करें (क्योंकि मार तो कोई सकता नहीं)। मैं आप से यह नहीं कह रहा हूँ। महावीर की अहिंसा का अर्थ यह नहीं है। महावीर के लिए अहिंसा वही अर्थ रखती है जो बुद्ध के लिए तथाता रखती थी। तथाता का अर्थ है 'टोटल ऐक्सेप्टिबिलिटी'। जो जैसा है, वह वैसा ही हमें स्वीकार है। हम उसमें कुछ हेर-फेर नहीं करेंगे। मान लीजिए कि एक चींटी चल रही है रास्ते पर। हम कौन हैं जो उसके रास्ते में किसी तरह का हेर-फेर करने जाएँ ? शायद वह अपने बच्चों के लिए भोजन जुटाने में लगी है। हो सकता है, योजनाओं का उसका निजी जगत् हो। महावीर कहते हैं कि मैं अपनी ओर से उसके बीच में न आऊँ। जरूरी नहीं है कि मैं ही चींटी पर पैर रखूँ तो वह मरे। चींटी खुद मेरे पैर के नीचे आकर मर सकती है। यह चींटी जाने और उसकी योजना जाने। योजना छोटी नहीं है, यह जन्मों-जन्मों की है, कर्मों का विस्तार है। चींटी के अपने कर्मों और फलों

की लम्बी यात्रा है। मैं किसी की यात्रा में किसी भी कारण बाधा न बनूँ। मैं चुपचाप अपनी पगडंडी पर चलता रहूँ। मैं ऐसा हो जाऊँ जैसे हूँ ही नहीं।

(१८) महावीर की अहिंसा का यही गहनतम अर्थ है—मैं ऐसा हो जाऊँ जैसे मैं हूँ ही नहीं। मेरी उपस्थिति कहीं प्रगाढ़ न हो जाय, मेरा होना कहीं किसी के होने में जरा-सा भी अड़चन और व्यवधान न बने। मैं जीते जी मर जाऊँ।

अपनी उपस्थिति का अनुभव करवाना ही, महावीर की दृष्टि में हिंसा है। जब मैं चाहूँगा कि आप मेरी उपस्थिति का अनुभव करें तो मैं यह भी चाहूँगा कि आपकी उपस्थिति का मुझे पता न चले। मेरी उपस्थिति का आपको पता चले, यह तभी हो सकता है जब मैं आपकी उपस्थिति को ऐसे मिटा दूँ जैसे आप हैं ही नहीं। हम सबकी कोशिश यही होती है कि दूसरे की उपस्थिति मिट जाय और हमारी उपस्थिति कायम रहे, लोगों को महसूस हो—यही हिंसा है।

अहिंसा इसके विपरीत है। दूसरा उपस्थित हो और इतनी अच्छी तरह उपस्थित हो कि मेरी उपस्थिति से उसकी उपस्थिति में कोई बाधा न पड़े। अहिंसा का गहन अर्थ यही है—अनुपस्थित व्यक्तित्व। चाहे हम हीरे का हार पहन कर खड़े हो गए हों या हमने लाखों के वस्त्र डाल रखे हों या हम नग्न खड़े हो गए हों—हमारी कोशिश यही है कि दूसरा अनुभव करे कि मैं हूँ। मैं चैन से बैठने नहीं दूँगा। आपको मानना ही पड़ेगा कि मैं हूँ। छोटे-छोटे बच्चे भी ऐसी हिंसा में निष्णात होना शुरू हो जाते हैं और मेहमानों के सामने अपने होने की घोषणा किए बिना नहीं रहते। इसका कारण यह है कि हमारा पूरा-का-पूरा आयोजन, हमारा पूरा समाज, हमारी पूरी संस्कृति अहंकार पर निर्मित है, अधर्म की नींव पर खड़ी है।

(१९-२०) अहिंसक वह है जो परिवर्तन के लिए जरा भी चेष्टा नहीं करता। उसके लिए जो हो रहा है, वह ठीक है। जीवन रहे तो ठीक, मृत्यु आ जाए तो ठीक। हमारी हिंसा किस बात से पैदा होती है ? इससे कि जो हो रहा है वह नहीं, जो हम चाहते हैं वह हो। इसलिए जिस युग में परिवर्तन की जितनी ज्यादा आकांक्षा भरती है, वह युग उतना ही हिंसक होता चला जाता है।

(२१) महावीर की अहिंसा का अर्थ यह है कि जो है, उसके लिए हम राजी हैं। कोई बदलाहट नहीं करनी है। आपने चाँटा मार दिया, ठीक है, हम राजी हैं। हमें अब कुछ भी नहीं करना है, बात समाप्त हो गई। हमारा कोई प्रत्युत्तर नहीं है। जीजस कहते हैं, दूसरा गाल सामने कर दो। महावीर इतना भी नहीं कहते, क्योंकि दूसरा गाल सामने करना भी एक उत्तर है। महावीर कहते हैं कि करना ही हिंसा है, कर्म ही हिंसा है, अकर्म अहिंसा। तुम चुपचाप गुजरते जाना। पानी में लहर उठती है, उसे मिटानी नहीं पड़ती, वह अपने आप मिट जाती है। इस जगत् में जो

तुम्हारे चारो तरफ हो रहा है, उसे होने देना--वह अपने आप उठेगा और गिर जायगा। उसके उठने और गिरने के नियम हैं। तुम बीच में व्यर्थ मत आना।

(२२) लाओत्से ने कहा है कि श्रेष्ठतम सम्राट् वह है जिसकी प्रजा को पता ही नहीं चलता कि वह है भी या नहीं। महावीर की अहिंसा का अर्थ है--ऐसे हो जाओ कि तुम्हारे होने का पता ही न चले।

लेकिन हमारी सारी चेष्टा यह दिखाने में लगी है कि हम भी कुछ हैं। हम चाहते हैं कि सारी दुनिया का ध्यान हम पर ही केन्द्रित रहे, सभी हमें देखें। यही हिंसा है। पूरे वक्त हमारा यह चाहना कि ऐसा हो, ऐसा न हो, हिंसा है। यदि हम दौड़ रहे हैं कि वह मकान मिले, वह धन-यश और पद मिले, तो हमें हिंसा से गुजरना ही पड़ेगा। वासना हिंसा के बिना नहीं हो सकती। इसलिए समझिए कि आदमी जितना वासनाग्रस्त है, वह उतना ही हिंसक भी है; वह जितना वासनामुक्त है, उतना ही अहिंसक भी। यदि आपमें मोक्ष पाने की वासना है तो आपकी अहिंसा भी हिंसक हो जायगी। बहुत-से लोगों की अहिंसा हिंसक है। अहिंसा भी हिंसक हो सकती है। **जो मोक्ष की वासना से अहिंसा के पीछे जायगा, उसकी अहिंसा हिंसक हो जायगी।** इसलिए तथाकथित अहिंसक साधकों को अहिंसक नहीं कहा जा सकता।

महावीर कहते हैं कि पाने को कुछ भी नहीं है। जो पाने योग्य है, वह पाया ही हुआ है। बदलने को कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह जगत् अपने ही नियमों से बदलता रहता है। क्रान्ति करने का कोई कारण नहीं है, क्रान्ति होती ही रहती है। कोई क्रान्ति-वान्ति करता नहीं, क्रान्ति होती ही रहती है। लेकिन क्रान्तिकारी को ऐसा लगता है कि वह क्रान्ति कर रहा है। उसका यह दावा उस तिनके के दावे की तरह है जो संयोग से सागर की एक बड़ी लहर पर चढ़ जाता है और कहता है कि लहर मैंने ही उठाई है!



पंचम अध्याय

जीवेषणा और महावीर की अहिंसा

अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ।[1]

—सू० श्रु० १, अ० ११, गा० १०

(१) हिंसा पैदा ही क्यों होती है ? हिंसा जन्म के साथ ही क्यों जुड़ी है ? जिसे हम जीवन कहते हैं, वह हिंसा का ही तो विस्तार है । ऐसा क्यों ? पहली बात, और अत्यधिक आधारभूत बात—वह है जीवेषणा । जीने की जो आकांक्षा है, उससे ही हिंसा जन्म लेती है । अकारण भी हम जीने को आतुर हैं । जीवन से कुछ फलित न भी होता हो तो भी जीना चाहते हैं । जीने का एक अत्यन्त पागल और विक्षिप्त भाव है हमारे मन में । मरने के आखिरी क्षण तक भी हम जीना ही चाहते हैं, दूसरे के जीवन के मूल्य पर भी जीना चाहते हैं । जीवेषणा की इस विक्षिप्तता से ही हिंसा के सब रूप जन्म लेते हैं ।

(२) महावीर यही पूछते हैं कि जीना क्यों है ? बड़ा गहन सवाल उठाते हैं । सृष्टि किसने रची, मोक्ष कहाँ है—ये सवाल शायद इतने गहरे नहीं हैं । महावीर पूछते हैं—जीना ही क्यों है ? इसी प्रश्न से महावीर का सारा चिन्तन और सारी साधना निकलती है ।

महावीर कहते हैं कि जीने की यह बात ही पागलपन है । जीने की इस आकांक्षा से जीवन बचता हो, ऐसा नहीं है, केवल दूसरों के जीवन को नष्ट करने की दौड़ पैदा होती है । जीवन बच जाता, तो भी ठीक था । बचता भी नहीं है । अन्ततः मौत ही हाथ लगती है । महावीर कहते हैं कि ऐसे जीवन के पागलपन को मैं छोड़ता हूँ जिसके लिए मैं दूसरों के जीवन को नष्ट करने के लिए तैयार होता हूँ और अपना बचा भी नहीं पाता । **जो व्यक्ति जीवेषणा छोड़ देता है, वही अहिंसक हो सकता है ।** जब उसमें जीने का कोई आग्रह नहीं रहता, तब वह किसी के विनाश के लिए भी राजी नहीं होता ।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि महावीर मरने की आकांक्षा रखते थे । फ्रॉयड कहता था कि जिन लोगों की जीवेषणा रुग्ण हो जाती है, वे फिर मृत्यु की आकांक्षा

---

१. अहिंसा को ही शास्त्रकथित शाश्वत धर्म समझना चाहिए ।

से भर जाते हैं। लेकिन फ्रॉयड की समझ उतनी गहरी नहीं है जितनी महावीर की है। महावीर कहते हैं कि **आत्महत्या करनेवाला भी जीवेषणा से ही पीड़ित रहता है।**

(३) इसे थोड़ा समझना पड़ेगा। कभी आपने किसी ऐसे आदमी को आत्महत्या करते देखा है जिसकी जीवेषणा नष्ट हो गई हो? नहीं। मैं किसी स्त्री को चाहता हूँ और जब वह नहीं मिलती तो मैं आत्महत्या के लिए तैयार हो जाता हूँ। अगर वह मुझे मिल जाय तो मैं आत्महत्या न करूँ। मैं चाहता हूँ कि बड़े सम्मान, यश और इज्जत के साथ जीऊँ। मेरी इज्जत चली जाती है, प्रतिष्ठा मिट जाती है, तो मैं आत्महत्या करने को तत्पर हो जाता हूँ। मेरी प्रतिष्ठा वापस लौट आए तो मैं मौत के आखिरी किनारे से वापस लौट सकता हूँ। महावीर कहते हैं कि यह मृत्यु की आकांक्षा नहीं है, जीवन का प्रबल आग्रह है कि मैं इस ढंग से जीऊँ। अगर यह ढंग मुझे नहीं मिलता तो मैं मर जाऊँगा। मैं इस स्त्री, इस धन, इस भवन, इस पद के साथ ही जीऊँगा, अन्यथा नहीं। जीने की आकांक्षा ने एक विशिष्ट आग्रह पकड़ लिया है।

महावीर इस जगत् में अकेले चिन्तक हैं जिन्होंने कहा कि मैं तुम्हें मरने की भी आज्ञा दूँगा, अगर तुममें जीवेषणा बिलकुल न हो।

(४) महावीर ने संथारा की आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि किसी व्यक्ति में अगर जीवन की आकांक्षा शून्य हो गई हो, तो वह मृत्यु में प्रवेश कर सकता है। लेकिन पहले वह भोजन और पानी छोड़ दे--भोजन और पानी छोड़कर भी आदमी ९० दिन तक नहीं मरता। जितनी भी आत्महत्याएँ की जाती हैं, वे क्षण के आवेश में की जाती हैं। क्षण खो जाय तो आत्महत्या नहीं हो सकती।

महावीर ध्यानपूर्वक मर जाने की आज्ञा देते हैं और कहते हैं कि भोजन-पानी छोड़ देना ९० दिन। अगर उस आदमी में थोड़ी भी जीवेषणा होगी तो वह भाग खड़ा होगा। अगर जीवेषणा बिलकुल न होगी तो वह ९० दिन रुक सकेगा। फ्रॉयड को माननेवाले मनोवैज्ञानिक कहेंगे कि महावीर में कहीं-न-कहीं आत्महत्यावाले तत्त्व अवश्य थे। लेकिन मैं आपसे कहता हूँ कि बात ऐसी नहीं है। असल में जिस व्यक्ति में जीवेषणा नहीं है, उसमें मरने की भी एषणा न होगी। मृत्यु की एषणा जीवेषणा का दूसरा पहलू है (विरोधी नहीं, उसी का अंग है)। इसलिए महावीर ने मृत्यु की कोई चेष्टा नहीं की। महावीर के अनुसार संथारा का अर्थ आत्महत्या नहीं, बल्कि जीवेषणा का इतना खो जाना है कि पता ही न चले और व्यक्ति शून्य में लीन हो जाय। आत्महत्या की इच्छा नहीं, क्योंकि जहाँ तक इच्छा है, वहाँ तक जीवन की भी इच्छा होगी। मृत्यु की इच्छा में ही जीवन की इच्छा भी छिपी होती है। महावीर कोई आत्मघाती नहीं हैं, संसार के सबसे बड़े आत्मज्ञानी हैं।

(५) लेकिन यह बात जरूर है कि अनेक आत्मघाती उनके विचार में उत्सुक हुए

और उन्होंने महावीर के पीछे एक ऐसी परम्परा खड़ी की जिसका महावीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवन की आकांक्षा के त्याग से ये लोग महावीर के करीब नहीं आए, मरने की आकांक्षा के कारण ये उनके निकट आए। जो मरने की इच्छा से आए, वे महावीर की परम्परा में बहुत अग्रणी हो गए। स्वभावतः जो मरने को तैयार है, उसको नेता होने में कोई असुविधा नहीं होती। पर इससे महावीर के विचार को आज की दुनिया में पहुँचने में बड़ी कठिनाई हो गई, क्योंकि ऐसा मालूम पड़ने लगा कि महावीर का चिन्तन आत्मपीड़कों के लिए है, उनके लिए है जो अपने को सतानेवाले हैं। लेकिन महावीर के खिले हुए कमल-जैसे शरीर को देखकर ऐसा नहीं लगता कि इस आदमी ने अपनी जड़ों के साथ ज्यादती की होगी। महावीर रंच-मात्र भी आत्मपीड़क न थे। लेकिन उनके पीछे आत्मपीड़कों की लम्बी परम्परा इकट्ठी हो गई, यह जरूर सच है।

(६) महावीर की दृष्टि में जो स्वयं को सताता है वह भी दूसरे को सताता है, क्योंकि वह अपने में दो हिस्से कर लेता है। वह शरीर को सताने लगता है, जो कि वस्तुतः दूसरा है। यह शरीर, जो मेरे आसपास है, उतना ही दूसरा है मेरे लिए, जितना आपका शरीर जो जरा दूर है। मेरा यह शरीर उतना ही दूसरा है जितना आपका शरीर। फर्क सिर्फ इतना है कि अपने शरीर को सताते वक्त कोई कानूनी बाधा नहीं पड़ेगी, कोई नैतिकता बाधा नहीं बनेगी। इसलिए जो होशियार हैं वे सताने का मजा अपने ही शरीर को सताकर लेते हैं। लेकिन सताने का मजा एक ही है। जिसकी हम गर्दन दबा पाते हैं, लगता है कि हम उसके स्वामी हो गए।

महावीर कहते थे कि जब तक मैं जीवन के लिए पागल हूँ तब तक अपने अंधेपन में देख न पाऊँगा, क्योंकि दूसरे के जीवन को नष्ट करने के लिए ही आतुर हो गया हूँ। और जीवन के लिए पागल होना व्यर्थ है, क्योंकि जीवन का बचना असम्भव है। जन्म के साथ ही मृत्यु प्रवेश कर जाती है। इसलिए महावीर कहते हैं कि जीवन के लिए इतनी आकांक्षा ही हिंसा बन जाती है। इसे समझना है। इसे समझते ही जीवेषणा शून्य होने लगती है और जब जीवेषणा शून्य होने लगती है तब मृत्यु की इच्छा पैदा नहीं होती, मृत्यु का स्वीकार पैदा होता है।

महावीर मृत्यु को स्वीकार करते हैं। **मृत्यु को स्वीकार करना अहिंसा है;** मृत्यु को अस्वीकार करना हिंसा। जब मैं अपनी मृत्यु अस्वीकार करता हूँ तो मैं दूसरे की मृत्यु को स्वीकार करता हूँ और जब मैं अपनी मृत्यु को स्वीकार करता हूँ तो मैं सबके जीवन को स्वीकार करता हूँ। अगर मैं अपने जीवन को स्वीकार करता हूँ तो मैं दूसरे के जीवन को इनकार करने के लिए तैयार हूँ। और जब मैं अपनी मृत्यु को परिपूर्ण भाव से स्वीकार करता हूँ तब मैं किसी के जीवन को चोट पहुँचाने के लिए जरा भी उत्सुक नहीं रह जाता। उसके जीवन को भी चोट पहुँचाने के लिए उत्सुक

नहीं रह जाता जो मेरे जीवन को चोट पहुँचाता है। मेरे जीवन को चोट पहुँचा कर कोई क्या कर सकता है ? मृत्यु तो होने ही वाली है, वह सिर्फ निमित्त बन सकता है। अगर कोई आपकी हत्या भी कर जाय तो वह सिर्फ निमित्त है, कारण नहीं। कारण तो मृत्यु है, जो जीवन के भीतर ही छिपी है। जो होने ही वाला था, उसमें वह सहयोगी हो गया। इसलिए उस पर नाराज होने की भी कोई जरूरत नहीं।

महावीर कहते हैं कि मृत्यु को अंगीकार करो, इसलिए नहीं कि मृत्यु कोई महत्त्वपूर्ण चीज है, बल्कि इसलिए कि वह बिलकुल ही मामूली चीज है। जब जीवन ही साधारण और महत्त्वहीन है तब फिर मृत्यु महत्त्वपूर्ण कैसे हो सकती है ? आप जितना मूल्य जीवन को देते हैं, उतना ही मूल्य मृत्यु में स्थापित हो जाता है और ध्यान रहे कि जितना मूल्य मृत्यु में स्थापित हो जाता है, उतने ही आप मुश्किल में पड़ जाते हैं। महावीर कहते हैं कि जब जीवन का कोई मूल्य नहीं तब मृत्यु का भी मूल्य समाप्त हो जाता है। जिसके चित्त में न जीवन का मूल्य है और न मृत्यु का, क्या वह आपको मारने जायगा ? क्या वह आपको सताने में रस लेगा ?

(७) जिसके लिए जीवन ही निर्मूल्य है, उसके लिए महल का कोई मूल्य होगा ? जीवन का मूल्य शून्य हुआ कि सारे विस्तार का मूल्य शून्य हो जाता है, सारी माया ढह जाती है। जितना लगता था कि जीवन को बचाऊँ, उतना मृत्यु से बचने का सवाल उठता था। जीवेषणा इसलिए बाधा है कि इसके चक्कर में आप वास्तविक जीवन की खोज से वंचित रह जाते हैं।

(८) महावीर कहते हैं कि जीवेषणा जीवन की वास्तविक तलाश से हमें वंचित कर देती है। वह सिर्फ मरने से बचने का इन्तजाम बन जाती है, अमृत को जानने का नहीं। महावीर मृत्युवादी नहीं हैं। वे जीवेषणा की इस दौड़ को रोकते ही इसलिए हैं कि हम उस परम जीवन को जान सकें जिसे बचाने की कोई जरूरत नहीं है—जो बचा ही हुआ है।

(९) हिंसा दूसरे को भयभीत करती है। आप अपने को बचाते हैं, दूसरे में भय पैदा करके। महावीर कहते हैं कि सिर्फ अहिंसक ही अभय को उपलब्ध हो सकता है। जिसने अभय नहीं जाना, वह अमृत को कैसे जानेगा ? भय को जाननेवाला मृत्यु को ही जानता रहता है।

महावीर की अहिंसा का आधार है जीवेषणा से मुक्ति। जीवेषणा से मुक्ति मृत्यु की एषणा से भी मुक्ति हो जाती है।

लाओत्से ने जिसे 'टोटल ऐक्सेप्टिबिलिटी' कहा है, उसे ही महावीर ने अहिंसा कहा है। जिसे सब स्वीकार है, वह हिंसक कैसे हो सकेगा ?

(१०) जितने जोर से हम अपने को बचाना चाहते हैं, हमारा वस्तुओं का बचाव उतना ही प्रगाढ़ हो जाता है। जीवेषणा 'मेरे' का फैलाव बनती है। यह

मेरा है, ये मेरे पिता हैं, यह मेरी माँ है, यह मेरी पत्नी है, यह मकान मेरा है, यह धन मेरा है—हम 'मेरे' का एक जाल खड़ा करते हैं अपने चारों तरफ। उसे इसलिए खड़ा करते हैं कि उसके भीतर ही हमारा 'मैं' बच सकता है। अगर मेरा कोई भी नहीं तो मैं निपट अकेला महसूस करके बहुत भयभीत हो जाऊँगा। कोई मेरा है तो सहारा है, सुरक्षा है। इसलिए जितनी ज्यादा चीजें आप इकट्ठी कर लेते हैं, आपकी अकड़ उतनी ही ज्यादा बढ़ जाती है।

(११) इस 'मेरे' के फैलाव को महावीर हिंसा कहते हैं। उनकी दृष्टि में परिग्रह हिंसा है। उनका वस्तुओं से कोई विरोध नहीं है, पर इससे जरूर प्रयोजन है कि आपका उनमें कितना मोह है, किस हद तक आपने उन वस्तुओं को अपनी आत्मा बना लिया है।

(१२) मालकियत के लिए हम इतने उत्सुक हैं कि अगर जिन्दा आदमी के हम मालिक न हो सके तो उसे मारकर भी मालिक होना चाहते हैं।

(१३) हमारे जीवन की अधिकतर हिंसा इसीलिए है। जब कोई अपनी पत्नी का मालिक होता है तब वह स्त्री तो प्रायः नब्बे प्रतिशत मर ही जाती है। बिना मारे मालिक होना मुश्किल है। अहिंसक की कोई मालकियत नहीं हो सकती। अगर कोई अपनी लँगोटी पर भी मालकियत बताता है तो वह हिंसक है। महल मेरा है और लँगोटी मेरी है, दोनों के मूल में मालकियत का भाव है और मालकियत हिंसा है। इस लँगोटी पर भी गरदनें कट सकती हैं।

(१४) एक जैन साधु ने मेरे एक मित्र से 'अपने' महावीर को उस महावीर से भिन्न कहा है जिसके सम्बन्ध में मैं बोलता रहा हूँ। 'अपने' महावीर! महावीर पर भी मालकियत! यानी हिंसा को हम वहाँ तक भी नहीं छोड़ेंगे, कहेंगे कि यह धर्म मेरा है, यह शास्त्र मेरा है, जहाँ-जहाँ 'मेरा' है, वहाँ-वहाँ हिंसा है। इसे ऐसा समझ लें कि अहिंसा सूत्र है आत्मा को जानने का, क्योंकि जब 'मेरे' का सारा भाव गिर जाता है तब फिर 'मैं' ही बचता है, और कोई नहीं बचता। बचता है निपट 'मैं'। और तभी व्यक्ति यह जान पाता है कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा। तब रहस्य के सारे द्वार खुल जाते हैं।

महावीर ने अकारण ही अहिंसा को परम धर्म नहीं कहा है। परम धर्म कहा है इसलिए कि इस कुंजी से जीवन के रहस्य के सारे द्वार खुल सकते हैं।

(१५) महावीर ने कहा है कि आग्रह हिंसा है और अनाग्रह अहिंसा। इसी कारण उन्होंने जिस विचार-सरणी को जन्म दिया है, उसका नाम है अनेकान्त। अनेकान्त अहिंसा का ही फैलाव है विचार के जगत् में। अनेकान्त की दृष्टि कोई दूसरा व्यक्ति न दे सका, क्योंकि अहिंसा की दृष्टि को कोई दूसरा व्यक्ति इतनी गहनता में न तो समझ सका और न समझा सका। अनेकान्त महावीर से पैदा हुआ।

(१६) वे कहते हैं कि विचार की सम्पदा को भी अपना मानना हिंसा है, क्योंकि जब भी आप किसी विचार को अपना कहते हैं, तभी आप सत्य से च्युत हो जाते हैं। जब भी मैं कहता हूँ कि यह विचार मेरा है इसलिए ठीक है, तभी मैं सत्य से विलग हो जाता हूँ।

(१७) जब हम कहते हैं कि यही है सत्य, तब हम यह नहीं कहते कि जो हम कह रहे हैं वह सत्य है, असल में हम कहते हैं कि जो कह रहा है, वह सत्य है। जब हम सत्य हैं, तब हमारे विचार सत्य होंगे ही। जगत् में जितने विवाद हैं वे सत्य के विवाद नहीं हैं, 'मैं' के विवाद हैं। महावीर से अगर कोई बिलकुल विपरीत बात भी कहता तो वे कहते—यह भी ठीक हो सकता है। ज्ञात इतिहास के पृष्ठों में यह आदमी अकेला है जो अपने विरोधी को भी ठीक कहता है।

(१८) महावीर को इस बात का पता है कि ऐसी कोई भी चीज नहीं हो सकती जिसमें सत्य का कोई अंश न हो। नहीं तो वह होती ही कैसे ? स्वप्न भी सही है, क्योंकि स्वप्न होता तो है। स्वप्न में क्या होता है वह सत्य भले न हो, लेकिन स्वप्न होता है, इतना तो सत्य है ही। असत्य का तो कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। इसलिए महावीर ने किसी का विरोध नहीं किया। इसका अर्थ नहीं कि महावीर को सत्य का पता न था। महावीर को सत्य का पता था। लेकिन उनका चित्त इतना अनाग्रहपूर्ण था कि वे अपने सत्य में विपरीत सत्य को भी समाविष्ट कर लेते थे। वे कहते थे कि सत्य इतनी बड़ी घटना है कि वह अपने से विपरीत को भी समाविष्ट कर सकता है। सत्य बहुत बड़ा है, सिर्फ असत्य छोटे-छोटे होते हैं। उनकी सीमा होती है। यही वजह है कि महावीर के विचार बहुत दूर तक, ज्यादा लोगों तक नहीं पहुँच सके। सभी लोग निश्चित वक्तव्य चाहते हैं, कोई सोचना नहीं चाहता। सब लोग उधार चाहते हैं। महावीर इतनी निश्चितता किसी को नहीं देते।

(१९) वे कहते हैं कि दूसरा भी सही है। आग्रह मत करो, अनाग्रही हो जाओ। इसलिए महावीर ने किसी सिद्धान्त का आग्रह नहीं किया। उन्होंने हर वक्तव्य के सामने स्यात् लगा दिया—'परहैप्स'। महावीर को पता है कि मोक्ष है, लेकिन उनको यह भी पता है कि अहिंसक वक्तव्य स्यात् के साथ ही हो सकता है। महावीर को यह भी पता है कि स्यात् कहने से शायद आप समझने को ज्यादा आसानी से तैयार हो जायँगे। अगर महावीर कहते कि मोक्ष है, तो वे जितनी अकड़ से कहते, आपके भीतर तत्काल उतनी ही अकड़ प्रतिध्वनित होती और कहती—कौन कहता है कि मोक्ष है ? मोक्ष नहीं है, बिलकुल नहीं है। अगर कोई महावीर के प्रतिद्वंद्वी गोशालक के पास जाता तो गोशालक कहता—महावीर गलत हैं, मैं सही हूँ। वही आदमी महावीर के पास आता तो महावीर कहते—गोशालक

सही हो सकता है। अगर आप ही होते तो सोचिए, आप गोशालक के पीछे जाते कि महावीर के पीछे ? मेरा खयाल है कि आप गोशालक के पीछे जाते। जिन्होंने देखा कि अनाग्रहपूर्ण होना बड़े साहस की बात है, वे अत्यन्त बुद्धिमान् लोग ही महावीर के पास आ सके। मैं बुद्धिमान् उसे कहता हूँ जो सत्य के सम्बन्ध में अनाग्रहपूर्ण है। महावीर की अहिंसा का जो अन्तिम प्रयोग है, वह अनाग्रहपूर्ण विचार है—अर्थात् विचार भी मेरे नहीं हैं। जिस विचार के साथ आप 'मेरे' लगा देंगे, उसमें आग्रह जुड़ जायगा।



षष्ठ अध्याय

समस्वरता और सम्यगाजीव

जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।[1]

—दश० चू० १, गा० ४

एक मित्र ने पूछा है कि महावीर रास्ते से गुजरते हों और किसी प्राणी की हत्या हो रही हो तो महावीर क्या करेंगे ? किसी स्त्री के साथ बलात्कार की घटना घट रही हो तो महावीर क्या करेंगे ? क्या वे ऐसा व्यवहार करेंगे जैसे कि वे अनुपस्थित हों ?

इस सम्बन्ध में थोड़ी-सी बातें समझ लेनी चाहिए ।

एक तो यह कि हत्या में हम जो देख पाते हैं, वह महावीर को दिखाई न देगा। जो महावीर को दिखाई पड़ेगा उसे हम देखने में असमर्थ होंगे। इस भेद को समझ लेना जरूरी है। हम सोचेंगे कि कोई मारा जा रहा है। लेकिन महावीर जानते हैं कि जीवन का जो भी तत्त्व है वह मारा नहीं जा सकता, वह अमृत है। दूसरी बात—किसी की हत्या होते देख हम सोचते हैं कि मारनेवाला ही जिम्मेवार है, जबकि महावीर कहेंगे कि जो मारा जा रहा है वह भी बहुत गहरे अर्थों में जिम्मेवार है; हो सकता है कि वह केवल अपने ही किए गए किसी कर्म का प्रतिफल पा रहा हो।

(१) हमें मारनेवाला दोषी और मारा जानेवाला हमेशा निर्दोष मालूम पड़ता है। हमारी दया और करुणा उसी की तरफ बहेगी जो मारा जा रहा है। महावीर के लिए ऐसा जरूरी न होगा। उनकी दृष्टि बहुत गहरी है और वे जानते हैं कि कोई भी कर्म अपने में पूरा नहीं है। हो सकता है कि जो मार रहा है वह केवल एक प्रतिकर्म पूरा कर रहा हो, क्योंकि इस जगत् में कोई अकारण नहीं मारा जाता। किसी का मारा जाना उसके ही कर्मों के फल की शृंखला का हिस्सा होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि जो मार रहा है वह जिम्मेवार या दोषी नहीं है। लेकिन हमारे और महावीर के देखने में फर्क पड़ेगा। जब भी हम देखते हैं कि कोई मारा जा रहा है, तो सोचते हैं कि निश्चित ही पाप हो रहा है, बुरा हो रहा है, कारण कि हमारी दृष्टि बहुत सीमित है। महावीर की दृष्टि इतनी सीमित

---

१. जब मनुष्य संयमी होता है, तब पूज्य बनता है; परन्तु जब संयम से च्युत होता है तब अपूज्य बन जाता है।

नहीं। वे देखते हैं जीवन की अनन्त शृंखला को और जानते हैं कि यहाँ प्रत्येक कर्म पीछे से जुड़ा है ओर आगे से भी। हम जिन्दगी को अंधकार और प्रकाश में तोड़ देते हैं। महावीर ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें पता है कि पृथ्वी पर अच्छे और बुरे का चुनाव नहीं है, कम बुरा और ज्यादा बुरा का ही चुनाव है। वे जानते हैं कि इस जीवन में चौबीस घंटे अनेक तरह की हत्याएँ हो रही हैं। जब आप चलते हैं, साँस लेते हैं, भोजन करते हैं, तब भी आप हत्या कर रहे होते हैं। जब आपकी पलक झपकती है, तब हत्या हो गई होती है। लेकिन जब कभी कोई किसी की छाती में छुरा भोंकता है, तभी हमें हत्या दिखाई पड़ती है।

(२) महावीर देखते हैं कि जीवन की जो व्यवस्था है वह हिंसा पर ही खड़ी है। यहाँ चौबीस घंटे प्रतिपल हत्या ही हो रही है। मेरे एक मित्र का खयाल है कि महावीर जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ अनेक-अनेक मीलों तक बीमार लोग तत्काल चंगे हो जाते थे। मेरे मित्र को बीमारी के पूरे रहस्यों का पता नहीं है! जब आप बीमार होते हैं तो अनेक कीटाणु आपके भीतर जीवन पाते हैं। अगर महावीर के आने से आप भले-चंगे हो जायँगे तो हजारों कीटाणु तत्काल मर जायँगे। इस-लिए महावीर इस झंझट में पड़ने से रहे। यह ध्यान रखना और यह भी कि आप कुछ विशिष्ट हैं, ऐसा महावीर नहीं मानते। यहाँ प्रत्येक प्राण का मूल्य बराबर है, हर प्राण का मूल्य है। आप उतने मूल्यवान नहीं हैं जितना आप सोचते हैं। आपके शरीर में जब किसी रोग के कीटाणु पलते हैं तब उन्हें पता भी नहीं होता कि आप भी हैं! आप सिर्फ उनका भोजन होते हैं।

महावीर के लिए जीवेषणा ही हिंसा है, हत्या है। वह जीवेषणा किसकी है, इसका सवाल नहीं उठता। जो जीना चाहता है, वह हत्या करेगा। ऐसा भी नहीं कि जो जीवेषणा छोड़ देता है, उससे हत्या बन्द हो जाती हो। जब तक वह जिएगा तब तक उससे हत्या होती रहेगी।

ज्ञान-प्राप्ति के बाद महावीर चालीस वर्ष जीवित रहे। उन चालीस वर्षों में जब वे चले होंगे तो कोई जरूर मरा होगा, उठे होंगे तो कोई जरूर मरा होगा, यद्यपि वे इतने संयम से जीवन यापन करते थे कि रात एक ही करवट सोते थे, दूसरी करवट नहीं लेते थे। लेकिन साँस तो लेनी ही पड़ती है और कोई-न-कोई मरता ही है। हम कह सकते हैं कि वे कूदकर मर क्यों नहीं गए? अपने को समाप्त ही क्यों न कर दिया? लेकिन जब अपने को समाप्त करेंगे तब उनके शरीर में पलनेवाले जीवों का क्या होगा? इसलिए हिंसा का सवाल उतना आसान नहीं जितना कि आपकी आँखें देखती हैं। अगर महावीर किसी पहाड़ से कूदकर अपने को मार देते तो उनके शरीर में पलनेवाले सात करोड़ जीवन भी नष्ट हो जाते।

हत्या प्रतिपल चल रही है। प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, इसलिए जब उस

पर हमला होता है तब उसे लगता है कि हत्या हो रही है। बाकी समय हत्या नहीं होती। अगर जंगल में जाकर आप शेर का शिकार करते हैं तो यह आपके लिए खेल है और जब शेर आप का शिकार करता है तब आप उसे हत्या कहते हैं। आपके लिए वह जंगली जानवर है और आप बहुत सभ्य जानवर हैं! और मजा यह कि शेर आपको तब तक नहीं मारेगा जब तक उसे भूख न लगी हो।

(३) गैर-अनिवार्य हिंसा कोई जानवर नहीं करता, सिवा आदमी को छोड़ कर। लेकिन हमारी हिंसा हमें हिंसा मालूम नहीं पड़ती। जो जितना हमारे निकट पड़ता है, उसकी हत्या हमें उतनी ही ज्यादा महसूस होती है। मुसलमान मर रहा हो तो जैनी को तकलीफ नहीं होती! जैनी मर रहा हो तो हिन्दू को तकलीफ नहीं होती! अपने परिवार का कोई मर रहा हो तो तकलीफ होती है, दूसरे परिवार का कोई मर रहा हो तो सहानुभूति दिखाई जाती है।

(४) 'मैं' केन्द्र है सारे जगत् का। अपने को बचाने के लिए मैं सारे जगत् को दाँव पर लगा सकता हूँ। यही हिंसा है, यही हत्या है। महावीर जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, उसमें वह हत्या दिखाई नहीं पड़ती जो आपको हत्या दिखाई पड़ गई है। इसलिए महावीर के लिए हत्या का प्रश्न बहुत जटिल है। आप किसको बलात्कार कहते हैं? पृथ्वी पर सौ में ९९ मौकों पर बलात्कार ही हो रहा है, लेकिन बलात्कार का क्या मतलब? पति करता है तो बलात्कार नहीं होता, लेकिन अगर पत्नी की इच्छा न हो तो पति उसके साथ जो भी करता है वह बलात्कार है। दूसरे की इच्छा के बिना कुछ करना ही बलात्कार है। हम सब दूसरे की इच्छा के बिना बहुत कुछ कर रहे हैं। सच तो यह है कि दूसरे की इच्छा को तोड़ने की ही चेष्टा में सारा मजा है। जबर्दस्ती से अहंकार की जो तृप्ति होती है वह सहज में कहाँ होती है!

अगर महावीर से पूछते तो वे कहते कि जहाँ-जहाँ अहंकार चेष्टा करता है, वहाँ-वहाँ बलात्कार हो जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री के साथ रास्ते में बलात्कार करता है तब सदा बलात्कार करनेवाला ही हमें जिम्मेवार मालूम पड़ता है। लेकिन हम भूल जाते हैं कि स्त्री बलात्कार करवाने के लिए कितनी चेष्टाएँ करती है। अगर पुरुष को इसमें रस आता है कि वह स्त्री को जीत ले तो स्त्री को भी इसमें रस आता है कि वह किसी को इस हालत में ला दे!

(५) हमें खयाल नहीं आता कि इस जगत् में किसी को जिम्मेवार ठहराना इतना आसान नहीं। दूसरा भी जिम्मेवार हो सकता है और दूसरे की जिम्मेवारी गहरी और सूक्ष्म भी हो सकती है। महावीर जब देखेंगे तब पूरा देखेंगे और उस पूरे देखने में और हमारे देखने में फर्क पड़ेगा। महावीर की जो दृष्टि है वह टोटल है, पूर्ण है।

(६) जब बलात्कार की घटना हो रही हो उस समय महावीर केवल द्रष्टा रहेंगे या कुछ करेंगे भी ? मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि महावीर कुछ भी न करेंगे। जो होता होगा, उसे वे होने देंगे। आप उस अवस्था में पच्चीस बातें सोचेंगे, तब करेंगे। लेकिन महावीर से कुछ होगा, सोचेंगे वे नहीं। जो हो जायगा, वह हो जायगा। महावीर लौटकर भी नहीं सोचेंगे कि मैंने क्या किया, क्योंकि उन्होंने कुछ किया नहीं। इसलिए महावीर कहते हैं कि पूर्ण कृत्य कर्म का बन्धन नहीं बनता—टोटल ऐक्ट कोई बन्धन नहीं लाता। कुछ उनसे होगा कि नहीं, इसे हम प्रिडिक्ट नहीं कर सकते। हम कह नहीं सकते कि वे क्या करेंगे। महावीर भी नहीं कह सकते पहले से कि मैं क्या करूँगा। हमारे विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है। जितनी गहरी नासमझी होगी, हमारे कार्य उतने ही अधिक सुनिश्चित होंगे। जैसे-जैसे जीवन-चेतना विकसित होती है, वैसे-वैसे मनुष्य के कार्य-कलाप मुक्त और अनिश्चित होते जाते हैं। साधारण आदमी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह कल सुबह क्या करेगा। महावीर या बुद्ध के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। वे क्या करेंगे, यह बहुत अज्ञात और रहस्यपूर्ण है। उनकी पूर्ण दृष्टि में न जानें क्या दिखाई पड़ जायगा। पर वे सोचकर कुछ करने नहीं जायँगे। वहाँ दिखाई पड़ेगा और यहाँ कृत्य घटित हो जायगा। और उसका दायित्व महावीर पर बिलकुल न होगा। अगर वे किसी की हत्या में रुकावट डालेंगे भी तो यह नहीं कहेंगे कि मैंने किसी की हत्या होने न दी। वे कहेंगे कि मैंने देखा था हत्या हो रही थी और मैंने यह भी देखा था कि इस शरीर ने बाधा डाली थी। मैं साक्षी था इस घटना का।

महावीर गहरे में साक्षी ही बने रहेंगे, बलात्कार के भी और बलात्कार के रोके जाने के भी। तभी वे बाहर होंगे कर्म के। विचार से, वासना और इच्छा से किया गया कर्म फल लाता है। महावीर जो भी करते हैं वह प्रयोजन-रहित, लक्ष्य-रहित, फल-रहित, विचार-रहित और शून्य से निकला हुआ कर्म होता है। शून्य से जब कर्म निकलता है तब वह भविष्यवाणी के बाहर हो जाता है। मैं नहीं कह सकता कि महावीर क्या करेंगे। अगर आपने महावीर से पूछा होता तो महावीर भी नहीं कह सकते थे कि मैं क्या करूँगा।

(७) प्रश्न है कि हम पूछना क्यों चाहते हैं? हम पूछना इसलिए चाहते हैं कि अगर हमें पक्का पता चल जाय कि महावीर क्या करेंगे, तो वही हम भी कर सकते हैं। लेकिन ध्यान रहे, महावीर हुए बिना आप वही नहीं कर सकते। हाँ, वही करते हुए मालूम पड़ सकते हैं। यही तो उपद्रव हुआ है। महावीर के पीछे उनके अनुयायियों की लम्बी कतार खड़ी है और वे महावीर की नकल कर रहे हैं। परन्तु इस नकल से आत्मा का कोई अनुभव नहीं उपजता। उनके-जैसे व्यक्तियों

की अनुकृति नहीं हो सकती। लेकिन सभी परम्पराएँ यही काम कर रही हैं और इसी से दुनिया में सारे धर्मों के झगड़े खड़े होते हैं। हम कर्मों से ज्ञान को नापते हैं, यहीं भूल हो जाती है। कर्म ज्ञान से पैदा होते हैं और ज्ञान कर्म से बहुत बड़ी घटना है।

महावीर ने जो भी किया वह खास-खास स्थितियों में किया। कृष्ण और क्राइस्ट की स्थितियाँ उन स्थितियों से अलग थीं। आपकी स्थितियाँ भी अलग हैं। फिर भी, आप शास्त्रों में खोजते हैं कि इन-इन स्थितियों में महावीर ने क्या किया, ताकि आप भी वैसा ही कर सकें। पर यह न भूलें कि न तो आज वह स्थिति है और न आप महावीर हैं। महावीर ने कभी लौटकर यह नहीं देखा कि किसने क्या किया था, वैसा ही मैं भी करूँगा। इसलिए ठीक से समझें तो महावीर जो कर रहे हैं वह कृत्य नहीं है, ऐक्ट नहीं हैं। वह घटना है, कोई नियमबद्ध बात नहीं। वह नियममुक्त चेतना से घटी हुई स्वतंत्र घटना है। इसलिए उसमें कर्म का भी बन्धन नहीं है। महावीर से जरूर कुछ होगा, लेकिन क्या होगा, यह नहीं कहा जा सकता। कर्म उसका नाम नहीं है, वह घटना है। इसलिए मैं कोई उत्तर नहीं दे सकता कि महावीर क्या करेंगे।

(८) जीवन प्रतिपल बदल रहा है। वह भागती हुई फिल्म की भाँति है, चल-चित्र की भाँति। वह डाइनैमिक है, उसमें सब बदल रहा है—सारा जगत् बदला जा रहा है। हर बार नई स्थिति है और हर बार नई स्थिति में महावीर नए ढंग से प्रकट होंगे। अगर महावीर आज हों तो जैनियों को जितनी कठिनाई होगी, उतनी किसी और को न होगी। जैन सिद्ध करेंगे कि यह आदमी—महावीर—गलत है। वे महावीर की २५०० साल पहलेवाली जिन्दगी उठाकर जाँच करेंगे कि यह आदमी वैसे ही कर रहा है कि नहीं कर रहा है; जबकि एक बात पक्की है कि महावीर वैसा नहीं कर सकते, क्योंकि वैसी स्थिति नहीं है। सब बदल गया है। इसलिए महावीर को जैन लोग स्वीकार न कर सकेंगे। यही बुद्ध और कृष्ण के साथ होगा। होने का कारण है। हम कर्मों को पकड़कर बैठ जाते हैं। परन्तु कर्म तो राख की तरह हैं, धूल की तरह हैं। वृक्षों के सूख गए पत्तों से वृक्ष नहीं नापे जा सकते। वृक्ष में प्रतिपल नए अंकुर आ रहे हैं। वे ही वृक्ष के जीवन हैं। सब कर्म आपके सूखे पत्ते हैं। वे बाहर गिर जाते हैं। वृक्ष का सम्बन्ध तो प्राण की सतत धारा से है जहाँ नए पत्ते प्रतिपल अंकुरित हो रहे हैं। और नए पत्ते कैसे अंकुरित होंगे, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वृक्ष सोच-सोचकर पत्ते नहीं निकालता। वृक्ष से पत्ते निकलते हैं। सूरज कैसा होगा, हवाएँ कैसी होंगी, वर्षा कैसी होगी, चाँद-तारे कैसे होंगे, यह इन सब पर निर्भर करेगा। उन सबसे—समग्र से—पत्ते निकलेंगे।

महावीर-जैसे लोग समग्र में जीते हैं। कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे क्या करेंगे। हो सकता है, जिस पर बलात्कार हो रहा है उसे डाँटें-डपटें। फिर भी कुछ नहीं कहा जा सकता।

(९) जिन्दगी बहुत जटिल है। यहाँ जो पिट रहा है, यह जरूरी नहीं कि वह पिटने के योग्य हो और जो पीट रहा है, यह भी जरूरी नहीं कि वह गलत ही कर रहा हो। महावीर जैसे व्यक्ति किसी भी घटना को उसकी पूरी जटिलता में देखते हैं। इसलिए वे क्या करेंगे, यह कहना आसान नहीं है।

(१०) संयम के सम्बन्ध में कुछ सूत्र याद रखें। महावीर संयम को धर्म का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र कहते हैं। अहिंसा धर्म की आत्मा है, संयम साँस है और तप देह। महावीर ने शुरू किया अहिंसा से—अहिंसा संयमो तवो। तप को आखिर में रखा, संयम को बीच में और अहिंसा को सबसे पहले। हम तप को पहले देखते हैं, संयम को पीछे। अहिंसा तो शायद ही दिखाई पड़ती है। महावीर भीतर से बाहर की तरफ चलते हैं, हम बाहर से भीतर की तरफ। इसलिए हम तपस्वी की जितनी पूजा करते हैं उतनी अहिंसक की नहीं, क्योंकि तप हमें दिखाई पड़ता है, वह देह-जैसा बाहर है। अहिंसा गहरे में है, अदृश्य है। संयम का हम अनुमान लगाते हैं। जब हमें कोई तपस्वी दिखाई पड़ता है तब हम समझते हैं कि वह संयमी है, नहीं तो तप कैसे करेगा। परन्तु तपस्वी भी असंयमी हो सकता है और ऊपर से दिखाई पड़नेवाला भोगी भी संयमी हो सकता है। यद्यपि संयमी के जीवन में तप होता है, फिर भी तपस्वी के जीवन में संयम का होना आवश्यक नहीं है। महावीर भीतर से चलते हैं, क्योंकि वहीं प्राण है और वहीं चलना उचित है। क्षुद्र से विराट की तरफ जाने में सदा भूलें होती हैं। विराट से क्षुद्र की तरफ जाने में कभी भूल नहीं होती।

आम तौर से समझा जाता है कि संयम का अर्थ है निरोध, दमन, नियंत्रण, कंट्रोल, आदि। जब कोई अपने को दबाता है, अपनी वृत्तियों को बाँधता है, नियंत्रण में रखता है तब हम कहते हैं कि वह संयमी है। संयम की यह परिभाषा बड़ी निषेधात्मक है, बड़ी निगेटिव है। लेकिन महावीर-जैसे व्यक्ति जीवन को निषेध की परिभाषाएँ नहीं देते, क्योंकि जीवन निषेध से नहीं चलता। जीवन की सारी ऊर्जा विधेय से चलती है। महावीर ने जिस संयम की बात कही है उससे जीवन की महिमा बढ़ती है, वह आभामंडित होता है। लेकिन जिनको हम तपस्वी कहते हैं, उनके जीवन का तेज बढ़ता हुआ दिखाई नहीं पड़ता, क्षीण होता हुआ मालूम पड़ता है। उनकी बुद्धि का अंक भी क्रमशः कम होता जाता है।

(११) जो अपने को रोक लेता है वह हमारी दृष्टि में संयमी है। रोक लेने में जैसे अपना कोई गुण हो! नहीं, जीवन के सारे गुण विस्तार और फैलाव के हैं, विधायक उपलब्धि के हैं, निषेध के नहीं। महावीर के लिए संयम और है।

हमारे लिए संयमी है स्वयं से लड़ता हुआ आदमी। महावीर के लिए संयमी है अपने साथ राजी हुआ व्यक्ति। हमारे लिए संयमी है अपनी वृत्तियों को सँभालता हुआ आदमी; महावीर के लिए संयमी है वह जो अपनी वृत्तियों का मालिक हो गया है। सँभालता तो वही है जो मालिक नहीं है। लड़ना पड़ता इसलिए है कि आप वृत्तियों से कमजोर हैं। महावीर के लिए संयमी का अर्थ है आत्मवान्, इतना आत्मवान् की वृत्तियाँ उसके सामने खड़ी भी नहीं हो पातीं। ऐसा नहीं कि उसे ताकत लगाकर क्रोध को दबाना पड़ता है। जिसे हम ताकत लगाकर दबाते हैं, वह दबता तो नहीं, उलटे परेशान करता है श्रौर आज नहीं तो कल, फूट पड़ता ही है।

(१२–१३) शक्ति जब स्वयं के भीतर होती है तो वृत्तियों से लड़ना नहीं पड़ता। वृत्तियाँ आत्मवान् व्यक्ति के सामने सिर झुकाकर खड़ी हो जाती हैं। हम जिसे संयम कहते हैं वह दमन है और हमारा संयमी आदमी उस सारथी के समान होता है जो रथ में घोड़ों की लगाम पकड़े बैठा है। महावीर की दृष्टि में संयमी वह शक्तिवान् व्यक्ति है जो अपनी शक्ति में प्रतिष्ठित है। उसका शक्ति में प्रतिष्ठित होना या अपनी ऊर्जा में होना ही वृत्तियों का निर्बल और नपुंसक हो जाना है। महावीर अपनी कामवासना पर वश पाकर ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नहीं होते; वे अपनी हिंसा से लड़कर अहिंसक नहीं बनते और न अपने क्रोध से लड़कर ही क्षमा करते हैं। ब्रह्मचर्य की भी ऊर्जा है, इससे काम-वासना सिर नहीं उठाती। चूँकि वे अहिंसक हैं, इसलिए हिंसा का वश नहीं चलता। क्षमा की इतनी शक्ति है कि क्रोध को उठने का अवसर नहीं मिलता। महावीर के लिए स्वयं की शक्ति से परिचित हो जाना ही संयम है।

'संयम' नाम बहुत अर्थपूर्ण है। इसके लिए अंग्रेजी में 'कंट्रोल' शब्द का प्रयोग करते हैं, जो कि गलत है। अंग्रेजी में सिर्फ एक ही शब्द है जो संयम का पर्याय बन सकता है, यद्यपि भाषाशास्त्री उसे अनुपयुक्त कहेंगे। वह शब्द है 'ट्रांक्विलिटी'। संयमी वह है जो विचलित नहीं होता, जो अविचलित रहता है, निष्कम्प है, ठहरा हुआ है। गीता में कृष्ण ने जिसे स्थितप्रज्ञ कहा है, महावीर के लिए वही संयमी है। असंयम का अर्थ है कम्पन, वेभरिंग, ट्रेम्बलिंग। काँपते हुए मन का नियम है कि वह एक अति से दूसरी अति पर चला जाता है। फिर ऊबेगा, परेशान होगा। सब वासनाएँ उबा देती हैं। उनसे मिलता कुछ नहीं है। मिलने के जितने सपने थे, वे और टूट जाते हैं। वासना से घिरा मन अति पर जाता है, फिर वासना से ऊब जाता है और तब दूसरी अति पर चला जाता हैं, जहाँ वह वासना के विपरीत खड़ा हो जाता है। कल तक ज्यादा खाता था, आज से एकदम अनशन करने लगता है।

(१४) इसलिए ध्यान रखिए, अनशन की धारणा सिर्फ ज्यादा भोजन उपलब्ध

किए हुए समाजों में होती है। अगर जैनियों को उपवास और अनशन अपील करता है तो इसका कारण यह है कि उनको ज्यादा खाने को मिला हुआ है। गरीब का जो धार्मिक दिन होता है, उस दिन वह अच्छे भोजन करता है और अमीर अपने धार्मिक दिन को उपवास करता है। जहाँ-जहाँ भोजन बढ़ता है, वहाँ-वहाँ उपवास का 'कल्ट' बढ़ता है।

(१५) सच तो यह है कि ज्यादा खानेवाला जब उपवास करता है तब उसे कुछ उपलब्ध नहीं होता, सिवा इसके कि उसको भोजन करने का रस फिर से उपलब्ध होने लगता है, जीभ में स्वाद लौट आता है। महावीर कहते हैं कि उपवास में रस से मुक्ति होनी चाहिए, लेकिन उपवास के बाद साधारण लोगों के लिए भोजन का रस और प्रगाढ़ हो जाता है। यहाँ तक कि उपवास में भी सिवा रस के आदमी और कुछ भी नहीं सोचता। वह रस पर चिन्तन करता है, योजनाएँ बनाता है। उसकी मरी हुई भूख फिर सजीव हो उठती है। दस दिन के बाद आदमी टूट पड़ता है भोजन पर। अति पर जाता है मन। और असंयम है एक अति से दूसरी अति पर जाना, दो अतियों के बीच डोलते रहना। संयम का अर्थ है मध्य में हो जाना।

अगर हम समझते हों कि ज्यादा भोजन असंयम है तो मैं आपसे कहता हूँ कि **कम भोजन भी असंयम है**, दूसरी अति पर होना है। सम्यक् आहार संयम है। ज्यादा खा लेना या कम खा लेना आसान है, सम्यक् आहार अति कठिन है, क्योंकि मन सम्यक् पर रुकता ही नहीं।

महावीर की शब्दावली में अगर कोई शब्द सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है तो वह सम्यक् ही है। सम्यक् का अर्थ है—मध्य में, अति पर नहीं, वहाँ जहाँ सब चीजें सम हो जाती हैं। जहाँ अति का तनाव नहीं रह जाता, वहाँ सब चीजें समस्वरता को उपलब्ध हो जाती हैं। इसी समस्वरता का नाम संयम है। निषेध संयम नहीं है, क्योंकि निषेध में हम दूसरी अति पर होते हैं।

(१६) मन बीच में नहीं रुकता, क्योंकि मन का अर्थ है तनाव, टेंशन। बीच में रहेंगे तो तनाव नहीं होगा। जब तक अति पर न हों, तब तक तनाव नहीं होता। इसलिए मन एक अति से दूसरी अति पर डोलता रहता है। मन जीता ही है अति में और समाप्त हो जाता है संयम में। इसलिए जब आप कहते हैं कि अमुक आदमी के पास बहुत संयमी मन है, तब आप बिलकुल गलत कहते हैं। संयमी के पास मन होता ही नहीं। अगर हम ऐसा कहें कि मन ही असंयम है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। जेन बौद्धों में जो फकीर हैं, वे कहते हैं कि संयम तभी उपलब्ध होता है जब 'नो माइंड' की उपलब्धि होती है—जब मन नहीं रह जाता। कबीर ने भी 'अ-मन' की अवस्था को संयम की अवस्था कहा है।

लेकिन हम तनाव में ही जीते हैं। अगर चित्त में तनाव न हो तो हमें लगता है,

हम मर जायँगे। जो लोग ध्यान में गहरे उतरते हैं, वे कहते हैं कि ऐसा लगता है, कहीं मर न जायँ। डर इसलिए लगता है कि जैसे-जैसे ध्यान गहरा होता है, वैसे-वैसे मन शून्य होता जाता है। जब मन शून्य होता है तब ऐसा महसूस होता है कि हम मर रहे हैं।

(१७) तो संयम में निषेध का भाव नहीं है। जब दोनों अतियाँ साथ खड़ी हो जाती हैं तब दोनों एक-दूसरे को काट देती हैं और आदमी मुक्त हो जाता है। चूँकि लोभ और त्याग दोनों सम्भव हो जाता है, इसलिए आदमी न तो त्यागी होता है और न लोभी। अकेला लोभ उतना ही बेचैन करता है जितना त्याग, क्योंकि त्याग उलटा खड़ा हुआ लोभ है।

(१८) काम-वासना में मन उतना ही बेचैन होता है जितना ब्रह्मचर्य में; क्योंकि ब्रह्मचर्य है क्या ? वह शीर्षासन करता हुआ काम है। वास्तविक ब्रह्मचर्य तो उस दिन उपलब्ध होता है जिस दिन ब्रह्मचर्य का पता भी नहीं रह जाता। वास्तविक त्याग तो उस दिन उपलब्ध होता है जिस दिन त्याग का बोध भी नहीं रह जाता। बोध कैसे रहेगा ? जिसके मन में लोभ ही न रहा, उसे त्याग का पता कैसे रहेगा ? जब तक आपको पता है कि मैं त्यागी हूँ तब तक जानना कि आपके भीतर लोभ मजबूती से खड़ा है। जब तक आप खड़ाऊँ बजाकर या चोटी-वोटी बाँधकर घोषणा करते फिरते हैं कि मैं ब्रह्मचारी हूँ, तब तक आप इसकी ही घोषणा करते हैं कि आप खतरनाक आदमी हैं। खड़ाऊँ वगैरह की आवाज सुनकर लोगों को सचेत हो जाना चाहिए। ब्रह्मचर्य का दावा काम-वासना का ही रूप है। हम संयम को तब उपलब्ध होते हैं जब न काम रहता है और न ब्रह्मचर्य, न लोभ और न त्याग, न यह अति पकड़ती है और न वह अति——जब आदमी अनति में, मौन और शान्ति में थिर हो जाता है, जब दोनों विन्दु समान हो जाते हैं और जब एक-दूसरे की शक्ति एक-दूसरे को काटकर शून्य कर देती है।

(१९) इसलिए संयम सेतु है। इसके ही माध्यम से कोई व्यक्ति परम गति को उपलब्ध होता है। इसलिए संयम को मैंने श्वास कहा।

आप श्वास लेने में भी असंयमी होते हैं। चाहे तो आप ज्यादा श्वास लेते हैं या कम श्वास लेते हैं। पुरुष ज्यादा श्वास लेने से पीड़ित हैं, स्त्रियाँ कम श्वास लेती हैं। जो आक्रामक हैं वे अधिक श्वास लेते हैं, जो सुरक्षा के भाव में पड़े हैं वे कम श्वास लेते हैं। कम लोग हैं जिन्होंने सच में ही संयमित श्वास लिया हो। हमारी साँस भी तनाव के साथ चलती है। कामवासना में वह तेज हो जाती है, इसलिए पसीना आ जाता है, शरीर थक जाता है। ब्रह्मचर्य साधने में कम श्वास लेना पड़ता है। असल में जो ब्रह्मचारी है वह एक अर्थ में सब मामलों में कंजूस है। वह वीर्य-शक्ति के मामले में ही नहीं, श्वास के मामले में भी कंजूस होता है, सब चीजों को भीतर रोक

लेना चाहता है। ये अतियाँ हैं। श्वास की सरलता उस क्षण में उपबब्ध होती है जब आपको पता ही नहीं लगता कि आप श्वास ले रहे हैं। जो व्यक्ति जितना संयमी होता है, उसकी साँस भी उतनी ही संयमित हो जाती है। ध्यान में जो लोग गहरे जाते हैं वे मुझसे आकर पूछते हैं कि कहीं साँस बन्द तो नहीं हो जायगी ? बन्द नहीं होती साँस। लेकिन इतनी शान्त और समतुल हो जाती है कि इसका आना-जाना पता ही नहीं चलता। जिस व्यक्ति की साँस जितनी संयमित हो जाती है उसके भीतर संयम की सुविधा उतनी ही बढ़ जाती है। इसलिए महावीर ने साँस के ऊपर बड़े गहरे प्रयोग किए हैं।

(२०) महावीर नहीं कहते कि कम खाओ, कम सोओ। वे कहते हैं कि उतना ही सोओ जितना सम है, खाओ लेकिन न तो भूख का पता चले और न भोजन का। महावीर कहते हैं कि पता चलना बीमारी की पहचान है। असल में शरीर के उसी अंग का पता चलता है जो बीमार होता है। स्वस्थ अंग का पता नहीं चलता। महावीर कहते हैं, सम्यक् आहार करो कि पता ही न चले। भूख का भी नहीं, भोजन का भी नहीं; सोने का भी नहीं, जागने का भी नहीं, श्रम का भी नहीं, विश्राम का भी नहीं। मगर हम दो में से एक ही कर पाते हैं। कुछ भी ज्यादा कर लेने का कारण क्या है ? कारण है कि ज्यादा कर लेने में हमें पता चलता है कि हम हैं। यह अहंकार है कि हमें पता चलता रहे कि हम हैं। औरों को भी मेरी उपस्थिति का बोध होता रहे। इसलिए असंयम के सिवा हमारे लिए और कोई मार्ग नहीं रह जाता।

(२१) लेकिन महावीर-जैसे व्यक्ति अनुपस्थित होने को ही संयम और अहिंसा कहते हैं। असंयम अर्थात् हिंसा। हिंसा पर्याय है मालकियत की भावना का, अहंकार का, अपनी उपस्थिति को औरों पर जाहिर करने का। अगर हम महावीर की जिन्दगी में खोजें तो किस बात का पता है हमें ? सुना है कि उनके कान में कीलें ठोंकी गई थीं। लेकिन यह महावीर की जिन्दगी की घटना नहीं है, यह तो उनकी जिन्दगी की घटना है जिन्होंने कीलें ठोंकी थीं। सुना है कि किसी ने चिल्लाकर महावीर को तीर्थंकर कह दिया था। यह भी महावीर की जिन्दगी की घटना नहीं है। अगर हम महावीर के जीवन में घटनाओं की खोज करें तो कोरा कागज ही हाथ लगेगा। अच्छे आदमी की कोई जिन्दगी नहीं होती। इसलिए कहानी लिखनी हो या उपन्यास, बुरे आदमी को ही चुनना पड़ता है।

(२२) रावण के बिना हम रामायण की कल्पना भी नहीं कर सकते। नायक होने के लिए बुरा होना बिलकुल जरूरी है। किन्तु संयमी आदमी के जीवन से सारी घटनाएँ विदा हो जाती हैं। असंयमी आदमी कहना चाहता है कि मैं हूँ। कभी वह ज्यादा खाकर जाहिर करता है कि मैं हूँ और कभी उपवास, कभी वेश्यालय जाकर

और कभी मन्दिर जाकर। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जगत् में जितना बुरे आदमी को नाम मिलता है, अगर उतना अच्छे आदमी को भी नाम मिलने लगे तो कोई आदमी बुरा न होगा। बुरा आदमी भी अस्मिता की, अहंकार की खोज में ही बुरा होता है।

(२३) संयमी का अर्थ है--जो द्वन्द्व में कुछ भी नहीं करता, जो कहता है न दोस्ती करेंगे, न दुश्मनी करेंगे। महावीर किसी से मित्रता नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि मित्रता एक अति है। वे किसी से शत्रुता भी नहीं करते, क्योंकि शत्रुता भी अति है। लेकिन हम ? हम उलटा सोचते हैं। हम सोचते हैं कि अगर दुनिया से शत्रुता मिटानी हो तो सबसे मित्रता करनी चाहिए। हम गलती में हैं। मित्रता एक अति है, उससे शत्रुता पैदा होती है।

(२४) जब महावीर कहते हैं कि सबसे मेरी मैत्री है तो इसका मतलब है कि मेरी किसी से मित्रता नहीं, शत्रुता नहीं। कोई सम्बन्ध नहीं, एक निराकार भाव बचा है, एक सम्बन्धित स्थिति बची है। कोई पक्ष बचा नहीं है, एक तटस्थ दशा बची है। जब कहते हैं कि सबसे मेरी मैत्री है तब हम इस भूल में न पड़ें कि वह हमारी-जैसी मित्रता है। हमारी मित्रता शत्रुता के बिना हो नहीं सकती और न हमारा-प्रेम घृणा के बिना हो सकता है। महावीर-जैसे लोगों को समझने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे भी उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग हम साधारण जन करते हैं। लेकिन वे भिन्न अर्थों में उन शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनका भाव हमारे भाव से मेल नहीं खाता।



सप्तम अध्याय

संयम की विधायक दृष्टि

इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि विदुक्करं ।[1]

—उत्त० अ० १९, गा० ४४

(१) संयम मृत्यु के भय से सिकुड़ गए चित्त की रुग्ण दशा नहीं है, वह अमृत की वर्षा में प्रफुल्लित हो गए तथा नृत्य करते हुए चित्त की दशा है। संयम किसी भय से किया गया संकोच नहीं है और न किसी प्रलोभन से आरोपित की गई आदत। वह किसी अभय में चित्त का फैलाव और विस्तार है, किसी आनन्द की उपलब्धि में अन्तर्वीणा पर पैदा हुआ संगीत। संयम निगेटिव नहीं, पाजिटिव है। लेकिन परम्परा उसे निषेध मानकर चलती है, क्योंकि निषेध आसान है। मरना आसान है, जीना बहुत कठिन है।

सिकुड़ जाने से ज्यादा आसान कुछ भी नहीं।

खिलने के लिए अन्तर ऊर्जा का जागरण चाहिए। सिकुड़ने के लिए किसी जागरण की अथवा किसी नई शक्ति की जरूरत नहीं पड़ती।

महावीर तो फूल जैसे खिले हुए व्यक्तित्व हैं। हाँ, उनके पीछे जो परम्परा बनती है, उसमें सिकुड़ गए लोगों की धारा की श्रृंखला बनती है। पीछे के युगों में इन सिकुड़े हुए लोगों को देखकर महावीर के सम्बन्ध में निर्णय होने लगते हैं। लगता है, महावीर कुछ छोड़ रहे हैं, यही संयम है। नहीं लगता कि महावीर कुछ पा रहे हैं, वही संयम है। और ध्यान रखें, पाए बिना छोड़ना असम्भव है। जो पाए बिना छोड़ता है, वह रुग्ण हो जाता है, सिकुड़ जाता है। पाए बिना छोड़ना असम्भव है।

(२) महावीर का पाना इतना विराट् है कि उसकी तुलना में जो कल तक उनके हाथ में था, वह मूल्यहीन और व्यर्थ हो जाता है।

(३) निषेधात्मक संयम से फूल पैदा नहीं होते, केवल काँटे उपजते हैं। और जो काँटे बाहर आकाश में प्रकट होने से रुक जाते हैं, वे भीतर आत्मा में छिप जाते हैं। इसलिए जिसे हम संयमी कहते हैं, वह पीड़ित दिखाई पड़ता है, किसी पहाड़ को ढोता हुआ मालूम पड़ता है। उसके चारों तरफ आँसुओं की धाराएँ इकट्ठी

---

१. जो इस लोक में तृष्णारहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।

हो जाती हैं। जो संयमी परिपूर्ण चित्त से हँस न सके, वह अभी संयमी नहीं है। निषेध और दमन उसके व्यक्तित्व को खंडित कर डालते हैं। उसके भीतर अनेक लोग हो जाते हैं। वह अपने आपको ही बाँटकर लड़ना शुरू कर देता है। इसमें कभी जीत नहीं होती। स्वयं से लड़नेवाले कभी नहीं जीतते। परन्तु महावीर का रास्ता जीत का रास्ता है।

(४) संयम से लड़ना अपने ही दोनों हाथों को लड़ाने-जैसा है। न बायाँ जीत सकता है और न दायाँ, क्योंकि दोनों के पीछे मेरी ही ताकत लगती है। खंडित व्यक्तित्व विक्षिप्तता की ओर जाता है।

अगर आप चोरी करें तो कभी अखंड न होंगे। आपके भीतर का एक हिस्सा चोरी के खिलाफ ही खड़ा रहेगा। इसी तरह झूठ के साथ पूरी तरह राजी हो जाना असम्भव है। लेकिन अगर आप सत्य बोलें, चोरी न करें, तो आप अखंड हो सकते हैं। महावीर ने उन्हीं-उन्हीं बातों को पुण्य कहा है जिनसे हम अखंड हो सकते हैं। वह पाप है जो हमें खंडित करता है, आदमी को टुकड़ों में बाँटता है। आदमी का जुड़ जाना ही पुण्य है।

महावीर लड़ने को नहीं कहते, जीतने को जरूर कहते हैं। जीतने का रास्ता यह नहीं कि मैं अपनी इन्द्रियों से लड़ने लगूँ; जीतने का रास्ता यह है कि मैं अपने अतीन्द्रिय स्वरूप की खोज में संलग्न हो जाऊँ, अपने भीतर छिपे हुए खजाने की खोज में जुट जाऊँ। जैसे-जैसे वे खजाने प्रकट होंगे, वैसे-वैसे कल की महत्त्वपूर्ण चीजें गैर-महत्त्वपूर्ण हो जायँगी।

(५) महावीर जिसे संयमी कहते हैं, वह व्यक्ति इसके पागलपन से मुक्त हो जाता है। महावीर एक और भीतरी रस खोजते हैं, एक ऐसा रस जो भोजन से नहीं मिलता। एक और रस भी है जो भीतर सम्बन्धित होने से मिलता है। हमारी इन्द्रियों का काम संयोजन करना है, जोड़ना है—वे सेतु का, संयोजक कड़ी का, काम करती हैं। स्वाद की इन्द्रिय हमें भोजन से और आँख की इन्द्रिय दृश्य जगत् से जोड़ देती है। महावीर कहते हैं कि जो इन्द्रिय हमें बाहर के जगत् से जोड़ सकती है, वह हमें भीतर के जगत् से भी जोड़ सकती है। भीतर भी ध्वनियों का एक अद्भुत जगत् है। कान उससे भी हमें जोड़ सकता है। भीतर भी रस का सागर लहराता होता है। जीभ भीतर के इस रस से हमें जोड़ सकती है।

(६) आपने सुना होगा कि साधक और जोगी अपनी जीभ उलटा कर लेते हैं। साधक और योगी का यह काम सिर्फ प्रतीक है। इसका अर्थ यह है कि जीभ का जो रस बाहर पदार्थों से जुड़ता था, वह अब भीतर आत्मा से जुड़ जाता है। साधक अपनी आँख उलटी चढ़ा लेता है। इसका कुल अर्थ इतना ही है कि वह जो बाहर देखता था, अब भीतर देखने लगता है। और एक बार भीतर का स्वाद आ जाय

तो बाहर के सब स्वाद बेस्वाद हो जाते हैं। इन्द्रियों को भीतर की तरफ मोड़ना संयम की प्रक्रिया है।

कैसे मोड़ेंगे ? कभी छोटा-सा प्रयोग करें तो बात समझ में आ जायगी ।

घर में बैठे हों तो सुनना शुरू करें बाहर की आवाजों को। जागरूक होकर सुनें कि कान क्या-क्या सुन रहे हैं ? सारी आवाजों के प्रति पूरी तरह जाग जायँ। जब सारी आवाजों के प्रति पूरी तरह जागे हों तो एक बात यह भी खयाल करें कि कोई ऐसी भी आवाज है जो बाहर से नहीं आ रही है। आप एक सन्नाटे को अलग ही सुनना शुरू कर देंगे। बाजार की भीड़ में भी एक आवाज सुनाई पड़ेगी जो आपके भीतर पूरे समय गूँजती रहती है।

(७) इसकी प्रतीति जैसे ही होगी वैसे ही बाहर की आवाजें कम रसपूर्ण मालूम पड़ने लगेंगी और भीतर का संगीत आपके रस को पकड़ना शुरू कर देगा। जैसे-जैसे हम भीतर जाते हैं, बाहर और भीतर का फासला गिरता चला जाता है। एक घड़ी आती है जब न कुछ बाहर रह जाता है और न कुछ भीतर। जिस दिन यह घड़ी आती है जब जो बाहर है वही भीतर और जो भीतर है वही बाहर, उस दिन आप संयम को उपलब्ध हो गए, उस इक्वीलिब्रियम को जिसमें सब सम हो जाता है, जिसमें सब ठहर जाता है, मौन हो जाता है, जिसमें कोई भाग-दौड़ नहीं होती, कोई कम्पन नहीं होता।

(८) किसी भी इन्द्रिय से शुरू करें और भीतर की ओर बढ़ते चले जायँ। फौरन ही वह इन्द्रिय आपको भीतर से जोड़ने का कारण बन जायगी। आँख से देखना शुरू करें फिर आँख बन्द कर लें। बाहर के दृश्य देखें, देखते रहें और धीरे-धीरे अन्तर के दृश्य के प्रति जागें। बहुत शीघ्र आपको बाहर के दो दृश्यों के बीच में भीतर के दृश्यों की झलकें आनी शुरू हो जायँगी। कभी भीतर ऐसा प्रकाश भर जायगा, जो बाहर सूर्य भी देने में असमर्थ होगा; कभी भीतर ऐसे रंग फैल जायँगे जो इन्द्रधनुषों में भी नहीं हैं।

(९) प्रत्येक इन्द्रिय भीतर ले जाने का द्वार बन सकती है। स्पर्श बहुत किया है आपने। तो बैठ जायँ, आँखों को बन्द कर लें और स्पर्श पर ध्यान करें। सब स्पर्श खड़े हो जाने दें अपने चारों ओर और फिर खोजना शुरू करें कि क्या कोई ऐसा भी स्पर्श है जो बाहर से न आया हो ? और थोड़े ही श्रम और संकल्प से आपको ऐसे स्पर्श की अनुभूति होने लगेगी जो बाहर से नहीं आई है। जिस दिन आपको उस स्पर्श का बोध होगा, उस दिन समझ लीजिए कि आपने भीतर का स्पर्श पा लिया। उस दिन बाहर के स्पर्श व्यर्थ हो जायँगे। आपकी जो इन्द्रिय सबसे ज्यादा तीव्र है, उसे आप दुश्मन बना लेते हैं। अगर आपके लिए संयम कोई निषेधात्मक दमन नहीं है तो आपकी जो इन्द्रिय सर्वाधिक सक्रिय है, वही आपकी मित्र

है। आप उसी के द्वारा भीतर पहुँच सकेंगे। जिस व्यक्ति ने अभी बाहर के रंगों को भी नहीं जिया और जाना, उसे भीतर के रंगों तक पहुँचने में बड़ी कठिनाई होगी।

(१०) आपकी जो इन्द्रिय सर्वाधिक संवेदनशील है, उससे अगर आप लड़ेंगे तो वह कुंठित हो जायगी। समझ लें कि आपने अपने हाथों ही अपना सेतु तोड़ लिया है। अगर आप विधायक संयम की धारणा से चलें तो आप उसी इन्द्रिय को मार्ग बना लेंगे, उसी पर आप पीछे लौट आएँगे। और ध्यान रहे, जिस रास्ते से हम बाहर जाते हैं, उसी रास्ते से भीतर आना सम्भव होता है। रास्ता वही होता है, सिर्फ दिशा बदल जाती है। यह आपको अजीब लगेगा, लेकिन मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि लोग इन्द्रियों के कारण बाहर नहीं भटकते, उन इन्द्रियों के कारण बाहर भटक जाते हैं जिनके रास्ते वे तोड़ देते हैं।

महावीर ने आत्मा की तीन स्थितियाँ कही हैं। एक को वे कहते हैं बहिर् आत्मा अर्थात् वह आत्मा जो अभी इन्द्रियों को बाहर की ओर उपयोग कर रही है। दूसरी को महावीर अन्तरात्मा की संज्ञा देते हैं। यह वह आत्मा है जो अब इन्द्रियों का भीतर की तरफ उपयोग कर रही है। और तीसरी को महावीर कहते हैं परमात्मा—अर्थात् वह आत्मा जिसका बहिर् और अन्तर मिट गया है, जो न बाहर जा रही है और न भीतर आ रही है। जो बाहर जा रही है वह बहिर् आत्मा है, जो भीतर आ रही है वह अन्तरात्मा है, जो कहीं नहीं जा रही है और अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित है, वह परमात्मा है।

इन्द्रियों का यह बहिर्रूप हमें पदार्थ से जोड़ता है। इन्द्रियाँ जब बाहर जोड़ती हैं तब वे पदार्थ से जोड़ती हैं और भीतर चेतना से जोड़ती हैं। जिस जगह वे हमें पदार्थ से जोड़ती हैं, उस जगह उनका रूप अति स्थूल होता है। लेकिन वे ही इन्द्रियाँ हमें स्वयं से भी जोड़ती हैं। इन्द्रियों का बहुत स्थूल रूप ही बाहर प्रकट होता है।

(११) परमात्मा तक पहुँचना हो तो अन्तरात्मा से गुजरना पड़ेगा। बहिर् आत्मा हमारी आज की स्थिति है, मौजूदा स्थिति। परमात्मा हमारी सम्भावना है, हमारा भविष्य, हमारी नियति। अन्तरात्मा हमारा यात्रा-पथ है। उससे हमें गुजरना पड़ेगा : भीतर जाने के रास्ते वे ही हैं जो बाहर जाने के रास्ते हैं। दूसरी बात यह है कि बाहर इन्द्रियाँ स्थूल से जोड़ती हैं और भीतर सूक्ष्म से। इसलिए इन्द्रियों के दो रूप हैं। एक को हम ऐन्द्रिक शक्ति कहते हैं और दूसरी को अतीन्द्रिय शक्ति।

(१२) रूसी वैज्ञानिक वासिलिएव के प्रयोगों के परिणामस्वरूप कई अंधे लड़के हाथ से पढ़ने लगे हैं। रूस में ही एक अंधी लड़की को पैर से पढ़वाने की कोशिश की गई। दो महीने में वह लड़की पैर से भी पढ़ने लगी। फिर वह दीवाल के पीछे रखे हुए बोर्ड को भी पढ़ने में सफल हुई। अन्त में उसे कई मील के फासले पर रखी हुई किताब को खोलकर पढ़वाया गया और वह उसे भी पढ़ने लगी। व.सिलिएव ने

कहा कि हम जितनी शक्तियों के सम्बन्ध में जानते हैं, निश्चित ही उनसे भिन्न कोई अन्य शक्ति भी हमें मिली होती है।

(१३) योग निरन्तर उस शक्ति की चर्चा करता है। महावीर की संयम-प्रक्रिया का लक्ष्य उस अन्य शक्ति को जगाना है। जैसे-जैसे वह अन्य शक्ति जगती है, वैसे-वैसे इन्द्रियाँ फीकी हो जाती हैं। जो श्रेष्ठतम है, आदमी उसे ही चुनता है। यदि आपकी इन्द्रियों का अतीन्द्रिय रूप प्रकट होना शुरू हो जाय तो निश्चित ही आप इन्द्रियों का रस छोड़ देंगे और एक नए रस में प्रवेश कर जायँगे। जो अभी इन्द्रियों में ही जीते हैं और जिनकी समझ की सीमा इन्द्रियों के पार नहीं है, वे आपको महात्यागी कहेंगे। लेकिन आप केवल भोग की और गहनतम दिशा में आगे बढ़ते हैं और उस रस को पाने लगते हैं जो इन्द्रियों में जीनेवाले आदमी को कभी पता ही नहीं चलता।

अतीन्द्रिय सम्भावनाओं को बढ़ाने के लिए महावीर ने बहुत ही गहन प्रयोग किए हैं। अगर वे भोजन के बिना वर्षों रह जाते हैं तो इसका कारण है। कारण यह है कि उन्होंने एक भोजन भीतर पाना शुरू कर दिया है। अगर वे पत्थर पर लेट जाते हैं तो इसका कारण यह है कि उन्होंने भीतर के एक नए स्पर्श-जगत् में रहना शुरू कर दिया है। अब उनके लिए बाहर की चीजों का महत्त्व नहीं है। इसलिए महावीर सिकुड़े हुए मालूम नहीं पड़ते, फैले हुए मालूम पड़ते हैं। वे आनन्दित हैं, तथाकथित तपस्वियों-जैसे दुखी नहीं हैं।

(१४) बुद्ध ने भी वही साधना की जो महावीर ने की है। लेकिन जहाँ महावीर आनन्द को उपलब्ध हुए, वहीं बुद्ध को बहुत पीड़ा हुई। महावीर महाशक्ति को उपलब्ध हुए, बुद्ध केवल निर्बल हो गए। निरंजना नदी को पार करते वक्त एक दिन वे इतने कमजोर थे कि उनमें किनारे को पकड़कर चढ़ने की शक्ति भी न थी। एक वृक्ष की जड़ को पकड़कर वे सोचने लगे कि जिस उपवास से मैं नदी पार करने की शक्ति खो चुका उससे इस भवसागर को कैसे पार कर सकूँगा? इसलिए बुद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि तपश्चर्या व्यर्थ है। वे बुद्धिमान और ईमानदार थे। यदि वे नासमझ होते तो इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते। अनेक नासमझ लोग उन दिशाओं में भी लगे चले जाते हैं जो उनके लिए नहीं हैं और जो उनके व्यक्तित्व से तालमेल नहीं खातीं। ध्यान रहे कि जो आपकी दिशा नहीं है, उसमें आप पूरा प्रयास कभी नहीं कर सकते। इसलिए यह भ्रम बना ही रहेगा कि मैं पूरा प्रयास नहीं कर पा रहा हूँ।

असल में वे लोग जिनसे बुद्ध प्रभावित हुए थे, निषेधमार्गी थे। जिस गुरु ने जो छोड़ने को कहा, वे छोड़ते गए। सब छोड़कर उन्होंने पाया कि सब तो छूट गया, मिला कुछ भी नहीं; मैं केवल दीन-हीन और दुर्बल हो गया।

इसमें शक नहीं कि बुद्ध के लिए वह मार्ग न था, उनके व्यक्तित्व का टाइप भिन्न था। फिर उन्होंने सबका त्याग कर दिया, यहाँ तक कि सारे त्याग का त्याग कर दिया।

(१५) महावीर और बुद्ध की प्रक्रिया में यही मौलिक अन्तर है और इसी कारण एक ही युग में पैदा होकर भी दोनों ने दो भिन्न परम्पराओं को जन्म दिया। त्याग की जो धारणा बुद्ध के मन में प्रवेश कर गई थी, वह निषेध की थी। यहीं भूल हो गई। लेकिन महावीर की धारणा विधेय की थी। जब भी कोई त्याग या निषेध से चलेगा तो वह भटकेगा, परेशान होगा। उसके लिए अतीन्द्रिय का जगत् तो खुलेगा नहीं, इन्द्रियों का जगत् भी बीमार होकर सिकुड़ जायगा। महावीर को अगर ठीक-ठीक समझना हो तो अतीन्द्रिय को जगाने के प्रयोग शुरू करने होंगे। प्रत्येक व्यक्ति की कोई-न-कोई इन्द्रिय अतीन्द्रिय जगत् में तत्काल प्रवेश करने को तैयार खड़ी है। थोड़े से प्रयोग करने की जरूरत है और आपको पता चल जायगा कि आपकी अतीन्द्रिय क्षमता क्या है।

हमें बार-बार ऐसे मौके मिलते हैं, लेकिन हम चूक जाते हैं। हम इस दिशा में सोचते तक नहीं। कभी आप बैठे हैं और अचानक आपको किसी मित्र की याद आ गई है और उसी समय आप देखते हैं कि वह द्वार पर खड़ा है। आप सोचते हैं कि यह संयोग है। लेकिन आप चूक गए मौके को। कभी आप जानना चाहते हैं कि घड़ी में कितना बजा है, खयाल आता है, नौ बजे होंगे और घड़ी में देखते हैं कि ठीक नौ बजे हैं। आप सोचते हैं, यह भी संयोग है। नहीं, यह एक अतीन्द्रिय झलक है। अगर ऐसी कोई झलक मिलती है तो इस पर प्रयोग करें, इसको संयोग मत कहें। कभी भी घड़ी पहले न देखें। पहले सोचें, फिर घड़ी देखें। शीघ्र ही आपको पता चलेगा कि यह संयोग नहीं है। ऐसी घटना बार-बार घटने लगेगी। आधी रात को उठें। पहले सोचें कि कितना बजा है। फिर विचार करें कि सोचने में भूल हो सकती है, फिर समय का खयाल करें, उस पहले खयाल को घड़ी से मिलाएँ। पहला खयाल ही ठीक होगा। अगर द्वार पर आए मित्र का खयाल आ गया तो फिर इस पर भी प्रयोग करें। जब भी द्वार पर आहट सुनाई पड़े, दरवाजे की घंटी बजे, तब जल्दी से दरवाजा न खोलें। पहले आँख बन्द करें और पहले जो चित्र सामने आए उसको खयाल में लेकर दरवाजा खोलें। कुछ ही दिनों में पाएँगे कि यह संयोग नहीं था, बल्कि आपकी क्षमता की झलक थी जिसे आप संयोग कहकर उपेक्षित कर रहे थे। अगर एकाध दिशा में आपका अतीन्द्रिय रूप खुलना शुरू हो जाय तो आपकी इन्द्रियाँ तत्काल फीकी पड़नी शुरू हो जायँगी और आपके लिए संयम का विधायक मार्ग साफ होने लगेगा।

(१६) एक और प्रयोग : जिस दिन आपने भोजन न किया हो, उस दिन आप कुछ भी न करें। खाली बैठ जायँ या लेट जायँ और देखें। अगर चौबीस घंटे में आपको

भोजन की याद कभी न आए तो उपवास भी आपके लिए मार्ग हो सकता है। अगर आपको भोजन ही भोजन की याद आए तो जान लीजिए, उपवास आपका रास्ता नहीं है।

(१७) हर क्षण अपनी दिशा को खोज लेना साधक के लिए बहुत जरूरी है, नहीं तो वह भटक सकता है। आप महावीर को माननेवाले घर में पैदा हो गए हैं इसलिए आप महावीर के मार्ग पर जा सकेंगे, यह अनिवार्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में शरीर का विद्युत्-प्रवाह अलग-अलग है। मैं मानता हूँ कि महावीर का विद्युत्-प्रवाह पॉजिटिव था, इसलिए वे किसी भी सक्रिय साधना में कूद सके। बुद्ध के शरीर का यह प्रवाह निगेटिव था, इसलिए वे किसी सक्रिय साधना से कुछ भी न पा सके। उन्हें एक दिन बिलकुल ही निष्क्रिय और शून्य हो जाना पड़ा। वहीं से उनकी उपलब्धि का द्वार खुला। यह व्यक्तित्व का भेद है, सिद्धान्त-भेद नहीं।

अब तक मनुष्य-जाति बहुत उपद्रव करती रही है। वह व्यक्तित्व-भेद को सिद्धान्तों का भेद मानकर व्यर्थ के विवादों में पड़ जाती है। आप अपने व्यक्तित्व के प्रकार को खोज लें, अपनी विशिष्ट इन्द्रिय को खोज लें, अपनी क्षमता का थोड़ा-सा आकलन कर लें, और फिर आप संयम की दिशा में गति करना रोज-रोज आसान पाएँगे। लेकिन आपने अपनी क्षमता को न आँककर किसी और की क्षमता का अनुकरण किया तो आप अपने को झंझट में पाएँगे, क्योंकि वह आपका मार्ग नहीं है। **जगत् का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि हम अपने धर्म को जन्म से तय करते** हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म सचेतन रूप से खोजना चाहिए। जीवन का जो परम लक्ष्य है, वह जन्म से नहीं तय होता। आपको खोजना पड़ेगा। दुनिया से धर्म के नष्ट होने के बुनियादी कारणों में एक यह है कि हम धर्म को जन्म से जोड़ लेते हैं। इससे सिर्फ उपद्रव होता है, और कुछ नहीं। महावीर के वक्त उनके विचार से जितने लोग प्रभावित हुए उतने लोग २५०० वर्षों में प्रभावित नहीं हुए। इसका कुल कारण इतना ही है कि महावीर के पास उस वक्त जो लोग आए, वे जान-बूझकर आए, स्वेच्छा से आए, जन्म-रूढ़ी से नहीं—इसलिए नहीं कि वे जैन घरों में पैदा हुए थे। महावीर के पास जाना उनका चुनाव था।

(१८) एक धार्मिक दुनिया बनाने में हम तभी सफल होंगे जब हम प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म चुनने की सहज स्वतंत्रता देंगे।

(१९) निश्चित ही बल होता है अपने चुनाव में। अगर मैं मरने के लिए गड्ढे में कूदने जाऊँ और वह मेरा चुनाव है, तो मेरी मृत्यु में भी जीवन की आभा होगी। अगर धक्के से मुझे स्वर्ग भी मिल जाय तो मैं स्वर्ग की गलियों में उदास-उदास भटकता रहूँगा। उससे मेरी आत्मा का कोई तालमेल होनेवाला नहीं है।

आदमी भूलें भी नई-नई नहीं करता, पुरानी ही करता है। हमारी जड़ता का

इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा ? ऐसा लगता है कि अनुभव से हम कुछ सीखते ही नहीं। और जो अनुभव से नहीं सीखता, वह संयम में नहीं जा सकता। संयम में जाने का अर्थ ही है कि अनुभव से असंयम गलत दीखा, दुख लगा। अनुभव ने बताया कि असंयम पीड़ा है, नर्क है।

(२०-२१) फिर भीलगता है कि असंमय न हो तो जीवन में कुछ नहीं ! न स्वाद में रस और न संगीत में रुचि ! हमने जीवन को असंयम का पर्याय बना लिया है और हमारी धारणा है कि अगर महत्त्वाकांक्षा न रही तो जीवन भी निस्सार हो गया। हमें लगता ही यह है कि पाप ही जीवन की विधि है, असंयम ही जीवन का ढंग है। इसलिए हम सुन लेते हैं कि संयम की बात अच्छी है। लेकिन वह हमें छू नहीं पाती। इसका कारण है कि जब भी हमें संयम का खयाल उठता है तो लगता है, संयम निषेध है। संयम को निषेधात्मक मान लेने की वजह से हमारी तकलीफ है। मैं नहीं कहता कि यह छोड़ो, वह छोड़ो। मैं कहता हूँ, यह भी पाया जा सकता है, वह भी पाया जा सकता है। हाँ, इस पाने में कुछ छूट जायगा, निश्चित ही। लेकिन तब भीतर खाली जगह नहीं छूटेगी, वहाँ एक नई तृप्ति होगी, एक नया भराव होगा।

हमारी सभी इन्द्रियाँ एक पैटर्न और व्यवस्था में जीती हैं। जब आपको अतीन्द्रिय दृश्य दिखाई पड़ने शुरू हो जायँगे तब आपको केवल अपनी आँखों से ही छुटकारा नहीं मिलेगा। जिस दिन आँख से छुटकारा मिलता है, उस दिन कान के जगत् में भी भीतर की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, कान से छुटकारा मिल जाता है।

(२२-२३) आपकी एक वृत्ति संयम की तरफ जाने लगे तो आपकी समस्त वृत्तियाँ उस ओर चल पड़ेंगी। और ध्यान रहे, श्रेष्ठतर सदा शक्तिशाली होता है। अगर एक व्यक्ति घर में ठीक हो जाय तो वह उस पूरे घर को ठीक कर सकता है। प्रकाश की एक किरण अनन्त गुना अंधकार से भी शक्तिशाली हो सकती है, संयम का एक छोटा-सा सूत्र असंयम की अनन्त जिन्दगियों को मिट्टी में मिला देता है। हाँ विधायक दृष्टि होनी चाहिए। उस इन्द्रिय से काम शुरू करना चाहिए जो सबसे ज्यादा शक्तिशाली हो। अपने व्यक्तित्व की समझ होनी चाहिए और अंधानुकरणसे बचने का संकल्प। उसी मार्ग से लौटने का यत्न होना चाहिए जिस मार्ग से हम बाहर गए हैं। नहीं मालूम आपको किस जगह द्वार मिलेगा। आप पहुँचने की फिक्र करें, न कि यह जिद् कि मैं प्रवेश करूँगा तो इसी दरवाजे से। हो सकता है, वह दरवाजा आपके लिए दीवाल सिद्ध हो, हो सकता है कि जीनेन्द्र के मार्ग से आप कहीं न पहुँचें। आप किसको माननेवाले हैं, यह उस दिन सिद्ध होगा जिस दिन आप पहुँचेंगे।



अष्टम अध्याय

तपश्चर्या

एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥[1]

—उत्त० अ० ३०, गा० ३७

अहिंसा है आत्मा, संयम है प्राण, तप है शरीर। स्वभावतः अहिंसा और संयम के सम्बन्ध में भूलें हुई हैं, गलत व्याख्याएँ हुई हैं। लेकिन ये भूलें इनसे अपरिचय के कारण हुई हैं। तप के सम्बन्ध में जो गलत व्याख्याएँ हुई हैं, वे हमारी परिचय की भूलें हैं। तप से हम परिचित हैं—तप से हम आसानी से परिचित हो जाते हैं। असल में तप तक जाने के लिए हमें अपने को बदलना ही नहीं पड़ा। हम जैसे हैं, वैसे ही हम तप में प्रवेश कर जाते हैं। हम जैसे हैं वैसे ही अगर तप में चले जाएँ तो तप हमें बदल नहीं पाता, हम तप को ही बदल डालते हैं।

(१) तप की गलत व्याख्याएँ निरन्तर होती रही हैं। इसे समझ लेनी चाहिए ताकि हम ठीक व्याख्याओं की ओर कदम उठा सकें। हम भोग से परिचित हैं, यानी सुख की आकांक्षा से। सुख की सभी आकांक्षा दुख में ले जाती है। इससे स्वभावतः एक भूल पैदा होती है और वह यह है कि यदि हम सुख की माँग करके दुख में पहुँच जाते हैं, तो क्या दुख की माँग करके सुख में नहीं पहुँच सकते? यदि सुख की आकांक्षा दुख ला सकती है तो क्यों न हम दुख की आकांक्षा करें और सुख पा लें। इसलिए तपस्वी की जो पहली भूल है, वह उसके भोगी चित्त से निकलती है। भोगी चित्त का अनुभव यही है कि सुख दुःख में ले जाता है। यदि हम विपरीत करें तो सुख में पहुँच सकते हैं। सभी अपने को सुख देने की कोशिश करते हैं, हम अपने को दुख देने की कोशिश करें। यदि सुख की कोशिश दुख लाती है तो दुख की कोशिश सुख ला सकेगी। तपस्वी ऐसे ही सीधे गणित में विश्वास करता है। लेकिन जिन्दगी इतनी सीधी नहीं है और जिन्दगी का गणित इतना साफ नहीं है।

(२-३) दुख की आकांक्षा सुख नहीं ले आती, क्योंकि ऐसी आकांक्षा के मूल में सुख की ही आकांक्षा है। सुख की कोई आकांक्षा सुख नहीं ला सकती। ऊपर से

---

१. जो पंडित, मुनि बाह्य और आभ्यन्तर, दोनों प्रकार के तपों का सम्यक् आचरण करता है, वह समस्त संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

दिखाई पड़ता है कि आदमी अपने को दुख दे रहा हैं, लेकिन वह दुख इसलिए दे रहा है कि सुख मिले। पहले वह सुख दे रहा था ताकि सुख मिले, अब दुख दे रहा है ताकि सुख मिले। आकांक्षा का केन्द्र अब भी सुख ही है, इसलिए दुख मिलेगा।

सच बात तो यह है—इसे न भूलें—कि दुख चाहा ही नहीं जा सकता। हाँ, अगर कभी कोई दुख चाहता है तो सुख के लिए ही। लेकिन वह चाह सुख की ही है। दुख चाहा नहीं जा सकता। यह असम्भव है। जिसने दुख के साथ चाह को जोड़कर तप बनाया, वह तपस्वी नहीं हो सकता और न उसका तप तप होता है।

(४) आपने सुना होगा कि यूरप में ईसाई फकीरों का एक सम्प्रदाय था जिसके सदस्य अपने को कोड़ा मार-मारकर लहूलुहान कर लेते थे। लोग उनकी तपश्चर्या देख चकित रह जाते थे। इस सम्प्रदाय की मान्यता थी कि जब भी काम-वासना उठे, तब अपने को कोड़ा मारो। धीरे-धीरे कोड़ा मारनेवालों को पता चला कि कोड़ा मारने में काम-वासना का ही आनन्द आता है। जब उनके शरीर से लहू बहता, तब उनके चेहरे पर ऐसा मग्न-भाव होता जो केवल सम्भोग-रत जोड़ों में ही देखा जा सकता है। इसलिए लोग तो उनकी तपश्चर्या से प्रभावित होकर उनके चरण छूते और वे तपस्वी स्वयं काम-वासना का आनन्द लेते।

लेकिन तप का यह अर्थ नहीं है। तप दुखवाद से उत्पन्न नहीं होता। तपस्वी कोड़े मारकर भी सुख ही चाहता है, दुख नहीं। इसलिए यह न भूलें कि जब भी कुछ चाहा जाता है तो सुख ही। भूखे मरने और काँटे पर लेटने में भी मजा आ सकता है, धूप में खड़े होने में भी मजा आ सकता है, बशर्ते एक बार आपके भीतर की किसी वासना से कोई दुख संयुक्त हो जाय। आदमी अपने को दुख इसलिए देता है कि वह किसी वासना से मुक्त होना चाहता है। जब हम शरीर से मुक्त होना चाहते हैं, इसकी सजावट की कामना से मुक्त होना चाहते हैं, तब या तो नंगे खड़े हो जाते हैं या शरीर में राख लपेटते हैं अथवा उसे कुरूप कर लेते हैं। लेकिन हमें पता नहीं कि राख लपेटना या नग्न हो जाना शरीर से ही सम्बन्धित है। यह भी सजावट है। यह देखकर आप चकित होंगे कि राख लपेटने वाले साधु भी एक छोटा आईना रखते हैं। राख ही लपेटना है तो आईने का क्या प्रयोजन ? लेकिन आदमी अद्भुत है ! उसके लिए राख लपेटना भी सजावट और शृंगार है। शरीर को सुन्दर बनानेवाले के लिए ही आईने की जरूरत नहीं होती, शरीर को कुरूप बनाने-वाले को भी आईने की जरूरत पड़ जाती है।

(५) शरीर को सतानेवाले की दृष्टि हमेशा शरीर पर लगी होती है। चूँकि शरीर से सुख नहीं मिलता, इसलिए इसे सताने की चेष्टाएँ होती हैं। शरीर को सताना कुछ वैसा ही है जैसा उस कलम को गाली देना, या जमीन पर पटककर तोड़ देना, जो ठीक न चले। कलम को तोड़ देने से कलम का कुछ भी नहीं टूटता, आपका

ही टूटता है। शरीर को सतानेवाले तपस्वी की चेतना शरीर-केन्द्रित ही होती है, उसे शरीर कभी नहीं भूलता। ध्यान रखें, भोगी और तथाकथित तपस्वी के बीच शरीर के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(६) जो तप शरीर के माध्यम से जी रहा है वह भोग का ही विकृत रूप है। जो तप शरीर-केन्द्रित है, वह भोग का ही दूसरा नाम है, भोग की शरीर के साथ बदला लेने की आकांक्षा है। इसे ठीक से समझकर ही हम तप की दिशा में आँखें उठा सकते हैं।

आज के तथाकथित तपस्वी आत्म-हिंसक हैं। अपने को जो जितना सता सकता है, वह उतना बड़ा तपस्वी कहा जाता है। लेकिन सताने का, आत्मपीड़न का, कोई सम्बन्ध तप से नहीं है। ध्यान रखें, **जो अपने को सता सकता है, वह दूसरे को सताने से बच नहीं सकता।** जो अपने को तप में सता सकता है, वह किसी को भी सता सकता है। निश्चित ही भोगी का सताने का ढंग सीधा होता है, त्यागी का परोक्ष। अगर आपने अच्छे कपड़े पहन रखे हैं और आपका त्यागी भभूत लगाए बैठा है, तो वह आपके कपड़ों को ऐसे देखेगा जैसे वह कोई दुश्मन को देखता हो। उसकी आँखों में निन्दा होगी, आप कीड़े-मकोड़े मालूम पड़ेंगे।

(७) तथाकथित तपस्वी आपको नर्क भेजने की योजना में लगे हैं। उनका चित्त आपके नर्क के सारे इन्तजाम कर रहा है। वे यह सोच नहीं सकते कि आपको भी सुख मिले। और बड़े मजे की बात है कि उनके स्वर्ग का सुख आपके ही सुखों का विस्तीर्ण रूप है! किसकी किल्पना से नकलती है यह सारी विचार-धारा? सच में जो तपस्वी है, वह किसी के लिए दुख की कोई बात सोच भी नहीं सकता। लेकिन तथाकथित तपस्वियों ने नर्क की जो विवेचना की है और अपने शास्त्रों में उसका जो चित्रण किया है, वह उनकी रुग्ण कल्पना-शक्ति का ही परिचय देता है।

ध्यातव्य है कि तपस्वी आपके भोगों की बड़ी निन्दा करते हैं और उस निन्दा में बहुत रस लेते हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में स्त्री के अंगों का वैसा सुन्दर सरस चित्रण नहीं किया है जैसा तपस्वियों ने स्त्री के अंगों की निन्दा करने के लिए अपने शास्त्रों में किया है। यह भी कम मजे की बात नहीं है कि भोगियों के आसपास नग्न अप्सराएँ आकर नहीं नाचतीं, वे सिर्फ तपस्वियों के आसपास आकर नाचती हैं! तपस्वी सोचते हैं कि वे उनका तप भ्रष्ट करने के लिए आती हैं। लेकिन मनोविज्ञान को पता है कि इस जगत् में अप्सराओं का कोई इन्तजाम नहीं है तपस्वियों को भ्रष्ट करने के लिए। अस्तित्व तपस्वियों को भ्रष्ट करना क्यों चाहेगा? बेचारी अप्सराएँ शाश्वत रूप से क्या एक ही धंधा करेंगी—तपस्वियों को भ्रष्ट करने का? उनके लिए और कोई काम ही नहीं?

(८) सच तो यह है कि वे (अप्सराएँ) किसी स्वर्ग से नहीं उतरतीं, बल्कि

तपस्वी के संघर्षरत मन से उतरती हैं, तपस्वी के मन में जो छिपा है उसे ही बाहर प्रकट करती हैं।

तप विकृत हो तो दमन होता है। और दमन मनुष्य को रुग्ण करता है, स्वस्थ नहीं। इसलिए मैं कहता हूँ कि **महावीर के तप में दमन का लेश भी न था।** महावीर ने अगर दमन-जैसे शब्दों का कहीं प्रयोग भी किया है तो किसी और ही अर्थ में। उनके लिए **दमन का अर्थ था शान्त हो जाना। शान्त कर लेना भी नहीं, बल्कि शान्त हो जाना।** जिस चीज से आपको दुख हुआ है, उसके विपरीत चले जाने से दमन पैदा होता है। यदि काम-वासना ने मुझे दुःख दिया है तो काम-वासना के विपरीत जाना और उससे लड़ना दमन कहलाएगा।

(९) महावीर कहते हैं कि अगर घृणा से मुक्त होना है तो राग से भी मुक्त हो जाना पड़ेगा। अगर शत्रु से बचना है तो मित्र से भी बच जाना पड़ेगा। जीवन के सभी रूप अपने विपरीत से बँधे हुए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो व्यक्ति जिस चीज से लड़ेगा वह उससे ही बँधा रहेगा। अगर आप धन से लड़ रहे हैं और धन के विपरीत जा रहे हैं, तो धन आपके चित्त को सदा घेरे रहेगा। तप इन्हीं भूलों में पड़कर रुग्ण हो गया है और जिन्हें हम तपस्वी कहते हैं उनमें से ९९ प्रतिशत मानसिक चिकित्सा के लिए उम्मीदवार हैं।

(१०-११) पशु विकृत नहीं होता क्योंकि वह प्रकृति में ठहरा रहता है। आदमी दो कोशिशें कर सकता है। चाहे तो वह प्रकृति से लड़ने की कोशिश करे और आज नहीं तो कल विकृति में उतर आए, या फिर प्रकृति का अतिक्रमण करने की कोशिश करे और संस्कृति में प्रवेश कर जाए। अतिक्रमण तप है, न कि विरोध और संघर्ष। बुद्ध ने एक बहुत अच्छे शब्द का प्रयोग किया है। वह शब्द है पारमिता। वे कहते हैं—लड़ो मत, इस किनारे से उस किनारे चले जाओ, पार चले जाओ।

(१२) मैं कहता हूँ कि अगर घाटी के अँधेरे से लड़ना है तो घाटी के अँधेरे में ही रहना पड़ेगा। अगर मैं घाटी के अँधेरे से नहीं लड़ता तो उस पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है। जहाँ मैं खड़ा हूँ वहाँ चारों ओर वृत्तियाँ है भोग की। वे भी हैं और आप भी हैं। गलत त्यागी का ध्यान वृत्तियों पर होता है; सही त्यागी का ध्यान स्वयं पर। गलत त्यागी कहता है कि मैं इस वृत्ति को कैसे मिटाऊँ; सही त्यागी कहता है कि मैं इस वृत्ति के ऊपर कैसे उठूँ? वृत्ति से जो लड़ता है, उसका ध्यान वृत्ति पर होता है। स्वयं को जो ऊँचा उठाता है, उसका ध्यान स्वयं पर होता है। वृत्ति से लड़नेवाले का ध्यान बहिर्मुखी होगा; स्वयं को ऊर्ध्वगमन की ओर प्रवृत्ति करने वाले का ध्यान अन्तर्मुखी।

(१३) तप का मूल सूत्र यही है कि ध्यान के लिए नए केन्द्र निर्मित करो। नए केन्द्र हमारे भीतर हैं। उन केन्द्रों पर ध्यान को ले जाओ। ध्यान को जैसे ही कोई नया केन्द्र मिलता है, वह वैसे ही नए केन्द्र में

शक्ति को उँड़ेलने लगता है और पुराने केन्द्रों को मुक्ति मिल जाती है, शिखर की ओर ऊर्ध्वगमन शुरू हो जाता है। काम-वासना का हमारा केन्द्र सबसे नीचे है। वहीं से हम प्रकृत से जुड़े हैं। सहस्रार हमारा सबसे ऊँचा केन्द्र है। वहाँ से हम परमात्मा से—दिव्यता, भव्यता और भगवत्ता से—जुड़े हैं। आपने कभी खयाल किया है कि आपके मस्तिष्क में विचार चलता है काम-वासना का और आपका काम-केन्द्र किस प्रकार तत्काल सक्रिय हो जाता है? विचार चलता है मस्तिष्क में और तत्काल सक्रिय हो उठता है उससे दूर आपका काम-केन्द्र। ठीक इसी प्रकार जैसे ही तपस्वी सहस्रार की ओर ध्यान देता है, वैसे ही सहस्रार का सक्रिय होना शुरू हो जाता है और जब शक्ति ऊपर की ओर जाती है तब उसका नीचे की तरफ जाना असम्भव हो जाता है। जब शक्ति को शिव-खर पर चढ़ने का मार्ग मिलने लगता है तब वह घाटियाँ छोड़ने लगती है। जब प्रकाश के जगत् में शक्ति का प्रवेश होने लगता है तब वह अँधेरे के जगत् से चुपचाप उठने लगती है। उसके मन में न तो अँधेरे की निन्दा होती है और न विरोध। ध्यान का रूपान्तरण है तप।

मनुष्य के भीतर जीवन की जो अग्नि है, उस अग्नि का ऊर्ध्वगमन तपस्वी का लक्ष्य होता है, उसे नीचे की ओर ले जाना भोगी का लक्ष्य। भोगी वह है जो जीवन की अग्नि को नीचे की ओर प्रवाहित करता है। तपस्वी उस अग्नि को परमात्मा और सिद्धावस्था की ओर ले जाता है।

(१४) सच पूछिए तो अग्नि का स्वभाव ही ऊपर की ओर जाना है। पानी नीचे की ओर बहता है, लेकिन अग्नि? वह स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है। एक बार आपको अपनी जीवन-अग्नि के ऊर्ध्वगामी होने का अनुभव हो जाय तो फिर आपको उसे ऊपर ले जाने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। एक बार सहस्रार की तरफ तपस्वी का ध्यान मुड़ जाय तो फिर उसे चेष्टा नहीं करनी पड़ती। फिर तो वह अग्नि अपने आप बहती रहती है।

(१५) गलत तपस्वी सिर्फ आदत बनाता है तप की। ठीक तपस्वी स्वभाव खोजता है, आदत नहीं बनाता। जिससे गलत तपस्वी लड़ता है, उसे ठीक तपस्वी स्वीकार कर लेता है। जो भी स्वीकृत हो जाती है, उस पर ध्यान जाना बन्द हो जाता है, उसे ऊर्जा मिलनी बन्द हो जाती है। गलत तपस्वी उन्हीं चीजों पर ध्यान देता है जिन पर भोगी देता है। ठीक तप की प्रक्रिया ध्यान का रूपान्तरण है। सही तपस्वी उन चीजों पर ध्यान देता है जिन पर न भोगी ध्यान देता है और न तथा-कथित त्यागी। ध्यान प्रतिपल बदल सकता है, सिर्फ नए बिन्दु उसको मिलने चाहिए। आग लग गई और आपका ध्यान तत्काल उसकी ओर दौड़ जायगा। तप की प्रक्रिया में आपको अपने भीतर उन नए बिन्दुओं और केन्द्रों की तलाश करनी है

जहाँ ध्यान दौड़ जाय और जहाँ नए केन्द्र सशक्त होने लगें। इसलिए तपस्वी कमजोर नहीं होता, शक्तिशाली होता है।

(१६) ठीक विधायक तप कहता है—शक्ति पैदा करो, ध्यान को रूपान्तरित कर उसे नए केन्द्रों पर ले जाओ ताकि शक्ति वहीं जाए।

(१७) तप ध्यान के केन्द्र को बदलने की प्रक्रिया है। महावीर ने तप के बारह हिस्से किए हैं और इनमें प्रत्येक हिस्सा स्वभावतः वैज्ञानिक प्रक्रिया है।



नवम अध्याय

तप की वैज्ञानिक प्रक्रिया

खवेत्ता पुव्वकम्साइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥[1]

—उत्त० अ० २८, गा० ३६

धर्म विज्ञान ही नहीं, परम विज्ञान है। जहाँ विज्ञान केवल पदार्थ का स्पर्श कर पाता है, वहाँ धर्म उस चैतन्य का भी, जिसका स्पर्श करना असम्भव मालूम पड़ता है। विज्ञान केवल पदार्थ को बदल पाता है, नए रूप दे पाता है; धर्म उस चेतना को भी रूपान्तरित करता है जिसे देखा भी नहीं जा सकता, छुआ भी नहीं जा सकता। इसलिए धर्म परम विज्ञान है। विज्ञान का लक्ष्य होता है उस प्रक्रिया, पद्धति या व्यवस्था को जानना जिससे कुछ किया जा सकता है। बुद्ध कहते थे कि सत्य का अर्थ है वह जिससे कुछ किया जा सके। जो सत्य नपुंसक है, जिससे कुछ नहीं हो सकता, जो सिर्फ सिद्धान्त है, वह सत्य व्यर्थ है। सत्य वही है जो कुछ कर सके—जो कोई बदलाहट, कोई क्रान्ति, कोई परिवर्तन ला सके। धर्म ऐसा ी सत्य है। धर्म चिन्तन नहीं है और न विचार; धर्म आमूल रूपान्तरण है, म्यूटेशन है। तप धर्म के रूपा-न्तरण की प्रक्रिया का प्राथमिक सूत्र है।

(१) जगत् में जो भी हमें दिखाई पड़ता है, वह वैसा नहीं है जैसा दिखाई पड़ता है। जो भी दिखाई पड़ता है वह स्थिर, ठहरा हुआ या जमा हुआ पदार्थ है। लेकिन विज्ञान कहता है कि इस जगत् में कोई भी चीज ठहरी हुई वा जमी हुई नहीं है; जो भी है वह गत्यात्मक है, डाइनैमिक है। जिस कुर्सी पर आप बैठे हैं वह पूरे समय नदी के प्रवाह की तरह बही जाती है। अगर गति अधिक हो जाय तो चीजें ठहरी हुई मालूम पड़ती हैं। अधिक गति के कारण, ठहराव के कारण नहीं। आपकी कुर्सी का एक-एक परमाणु अपने केन्द्र पर उतनी ही गति से दौड़ रहा है जितनी गति से सूर्य की किरणें दौड़ती हैं—एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील। परमाणुओं की तीव्र गति की वजह से आप कुर्सी से नहीं गिरते।

(२) याद रहे कि यह गति भी बहुआयामी है, मल्टी डाइमेन्शनल है। आपकी

---

१. महर्षिगण संयम और तप द्वारा अपने सभी पूर्व कर्मों को क्षीण करके सभी दुखों से रहित मोक्षपद को पाने के लिए प्रयत्न करते हैं।

कुर्सी के परमाणुओं का अपने भीतर घूमना कुर्सी की पहली गति है। प्रत्येक परमाणु अपने न्यूक्लियस पर--केन्द्र पर--चक्कर काट रहा है। फिर कुर्सी जिस पृथ्वी पर रखी है, वह पृथ्वी अपनी कील पर घूम रही है। इसलिए कुर्सी भी पूरे समय पृथ्वी के साथ घूम रही है। यह उसकी दूसरी गति है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण कर रही है। यह कुर्सी की तीसरी गति है। इसकी चौथी गति का कारण यह है कि सूर्य अपनी कील पर घूम रहा है और उसके साथ उसका सारा सौर परिवार—कुर्सी भी—घूम रहा है। पाँचवीं गति--वैज्ञानिक कहते हैं कि सूर्य किसी महासूर्य का चक्कर लगा रहा है। बड़ा चक्कर है वह। कोई बीस करोड़ वर्षों में एक चक्कर पूरा होता है। यह पाँचवी गति कुर्सी भी कर रही है, क्योंकि वह भी सौर परिवार से बाहर नहीं है। वैज्ञानिकों का खयाल है कि जिस महासूर्य का परिभ्रमण हमारा सूर्य कर रहा है, वह महासूर्य भी अपनी कील पर घूम रहा है और उसके साथ हमारी कुर्सी भी गतिमान् है। वैज्ञानिकों ने एक और गति की चर्चा की है, सातवीं गति की। उनका कहना है कि वह महासूर्य जो अपनी कील पर घूम रहा है, दूसरे सौर परिवारों से प्रतिक्षण दूर हटता जा रहा है। पदार्थ की ये ही सात गतियाँ हैं। आदमी में प्राण अथवा जीवन में, एक आठवीं गति भी है। जहाँ कुर्सी चल नहीं सकती वहाँ जीवन चल सकता है। धर्म की दृष्टि में नौवीं गति भी है। वह कहता है कि आदमी तो चलता ही है, उसके भीतर की ऊर्जा भी नीचे या ऊपर की ओर जा सकती है। **तप का संबंध इस नौवीं गति से ही है।** आठ गतियों तक विज्ञान काम कर लेता है, किन्तु धर्म की सारी प्रक्रिया का केन्द्र नौवीं गति है।

(३-५) हमारे भीतर की जो ऊर्जा है वह नीचे या ऊपर जा सकती है। जब हम काम-वासना से भरे होते हैं तब हमारी ऊर्जा नीचे जाती है; जब हम आत्मा की खोज से भरे होते हैं तब वह ऊपर की ओर जाती है। इसी प्रकार जब हम जीवन से भरे होते हैं तब हमारी ऊर्जा भीतर की तरफ जाती है। धर्म की दृष्टि में भीतर और ऊपर एक ही दिशा के नाम हैं।

(६-७) एक बड़े मजे की बात है कि ठहरी हुई कील पर ही चाक को चलना पड़ता है। अगर कील भी चल जाए तो गाड़ी गिर जाए। इसका अर्थ यह हुआ कि विपरीत से ही संतुलन आता है। इसलिए तपस्वी की चेष्टा होती है कि वह अपने चारों ओर इतनी अग्नि पैदा कर ले कि उस अग्नि के अनुपात में उसके भीतर शीतलता का बिन्दु पैदा हो जाए; वह अपने चारों ओर इतनी गत्यात्मक शक्ति को जनमा ले कि भीतर शून्य का बिन्दु उपलब्ध हो जाए; वह अपने चारों ओर ऊर्जा के इतने तीव्र परिभ्रमण से भर जाए कि उसकी धुरी ठहर जाए, खड़ी हो जाए। तपस्वी वह है जो ताप से भरा हुआ है परन्तु जिसका केन्द्र शीतल है। तपस्वी वह है जिसके चारों ओर शक्ति जग जाती है परन्तु जिसके केन्द्र पर शीतलता आ जाती है। वैज्ञा-

निकों का पहले खयाल था कि सूर्य जलती हुई अग्नि ही है, उबलती हुई अग्नि लेकिन अब वैज्ञानिक कहते है कि सूर्य अपने केन्द्र पर बिलकुल शीतल है। जहाँ इतनी प्रचंड अग्नि हो वहाँ उसको संतुलित करने के लिए केन्द्र पर गहन शीतलता होनी ही चाहिए, नहीं तो संतुलन टूट जायगा। ठीक ऐसी धटना तपस्वी के जीवन में धटती है। उसके चारों ओर ऊर्जा उत्तप्त हो जाती है लेकिन उस उत्तप्त ऊर्जा को संतुलित करने के लिए केन्द्र बिलकुल शीतल हो जाता है। इसलिए तप से भरे हुए व्यक्ति से ज्यादा शीतलता का बिन्दु इस जगत् में दूसरा नहीं है।

(८-१२) तपस्वी का ताप बाह्य नहीं होता। वैसा ताप शरीर के आस-पास आग की अँगीठी जला लेने से पैदा नहीं होगा। यह ताप आन्तरिक है। इसलिए महावीर ने यह निषेध किया है कि तपस्वी अपने चारों ओर आग न जलाए, धूनी न रमाए। धूनी से मिला हुआ ताप बाह्य होता है, उससे आन्तरिक शीतलता पैदा न होगी। ध्यान रहे कि शीतलता आन्तरिक तभी होगी जब ताप भी आन्तरिक होगा। यदि ताप बाह्य होगा तो शीतलता भी बाह्य होगी। यदि अन्तर की यात्रा करनी है तो बाहर के सब्स्टीट्यूट नहीं खोजने चाहिए—वे धोखे के हैं, खतरनाक हैं।

(१३-१५) आम तौर से हम जिन्हें तपस्वी कहते हैं वे ऐसे लोग हैं जो अपने भौतिक शरीर को ही सताने में लगे हैं। भौतिक शरीर से कुछ लेना-देना नहीं है। इस शरीर के भीतर छिपा हुआ जो दूसरा शरीर है—ऊर्जा-शरीर या एनर्जी बॉडी—उसके ऊपर ही काम करना है। योग में जिन चक्रों की बात की गई है, वे चक्र इस शरीर में कहीं भी नहीं हैं। वे ऊर्जा-शरीर के चक्र हैं। यही कारण है कि शल्य-चिकित्सक जब इस शरीर को काटते हैं तब उन्हें ये चक्र कहीं नहीं मिलते। जिन्हें हम चक्र कहते हैं वे ऊर्जा-शरीर के बिन्दु हैं, यद्यपि इन बिन्दुओं के अनुरूप, इनसे कॉरिस्पॉन्ड करने वाले, स्थान इस शरीर में अवश्य हैं, लेकिन ये स्थान चक्र नहीं हैं। हमारे शरीर के भीतर छिपा हुआ और इसके बाहर इसे चारों ओर घेरे हुए जो आभा मंडल है, वही हमारा वास्तविक शरीर है, हमारा तप-शरीर।

(१६-२१) इस भूमि पर हिन्दुओं ने प्राण-ऊर्जा के सम्बन्ध में सर्वाधिक गहरे अनुभव किए थे, इसलिए उन्होंने सर्वाधिक तीव्रता से शरीर को नष्ट करने के लिए आग का इन्तजाम किया, गाड़ने का नहीं। यदि शरीर गाड़ा गया तो उसे गलने, टूटने और मिट्टी में मिलने में छह महीने लग जाएँगे। उन छह महीनों तक आत्मा का भटकाव हो सकता है। तत्काल जला देने का प्रयोग उन्होंने सिर्फ इसलिए किया कि इसी क्षण आत्मा को पता चल जाए कि शरीर नष्ट हो गया हैं, व्यक्ति मर गया है। जब तक यह अनुभव में न आए कि मैं मर गया हूँ तब तक नए जीवन की खोज शुरू नहीं होती। मैं मर गया हूँ—यह अनुभव कर लेने पर आत्मा नए जीवन की खोज में निकल पड़ती है।

(२२-२३) अब मैं तप का पहला सूत्र आपसे कहता हूँ—इस शरीर से अपना तादात्म्य छोड़ें, यह मानना छोड़ें कि मैं यह शरीर हूँ। अपने को शरीर मानने से ही सारा भोग फैलता है। जिस आदमी ने अपने को भौतिक शरीर समझा, वह दूसरे भौतिक शरीर को भोगने के लिए आतुर हो जाता है। इससे ही सारी काम-वासना पैदा होती है। जिस व्यक्ति ने अपने को यह भौतिक शरीर समझा वह भोजन में बहुत रसातुर हो जाता है, वह अपनी ही इन्द्रियों के हाथ बिक जाता है। इसलिए तप का पहला सूत्र है कि मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर के साथ अपने को तादात्म्य करने की आदत को तोड़ें। यदि सचमुच इस तादात्म्य को तोड़ना है तो स्मरण रखें कि इसके किए संकल्प अनिवार्य है। इस संकल्प के बिना गति नहीं है। और संकल्प से ही तादात्म्य टूट जाता है क्योंकि वह संकल्प से ही निर्मित है। जन्म-जन्म के संकल्प का परिणाम है यह मानना कि मैं यह शरीर हूँ। इस संकल्प को तोड़े बिना तप की यात्रा नहीं हो सकती। इस संकल्प के साथ भोग की ही यात्रा होगी। यह संकल्प हमने किया ही इसलिए है कि हम भोग की ही यात्रा कर सकें।

(२४) अगर मुझे यह पता हो कि मैं यह शरीर नहीं हूँ तो हाथ के लिए यह भाव नहीं जगेगा कि मैं इससे किसी सुन्दर शरीर का स्पर्श करूँ। यह हाथ मैं हूँ ही नहीं। तपस्वी का हाथ डंडे की भाँति हो जाता है। डंडे से किसी शरीर का स्पर्श किया जाय तो इससे आनन्द नहीं मिलता। जैसे ही संकल्प टूटा और प्रतीति हुई कि मैं हाथ नहीं हूँ, तपस्वी का हाथ वैसे ही डंडा हो जाता है। उस हाथ से किसी के सुन्दर चेहरे को छूना डंडे से छूना-जैसा हो जाता है।

भोग का सुत्र है कि मैं यह शरीर हूँ; तप का सूत्र है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ। भोग का सूत्र 'पॉजिटिव' है, तप का सूत्र नकारात्मक। जब आप कहते हैं कि मैं शरीर हूँ तो कुछ पकड़ में आता है; जब आप यह कहते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ तो कुछ पकड़ में नहीं आता। यदि तप का यही एक सूत्र हो कि मैं यह शरीर नहीं हूँ तो तप हार जायगा, भोग जीत जायगा। इसलिए तप का दूसरा सूत्र है कि मैं ऊर्जा-शरीर हूँ, एनर्जी बॉडी हूँ, प्राण-शरीर हूँ। तो दो काम करें। इस शरीर से तादात्म्य छोड़ें और प्राण-ऊर्जा के शरीर से तादात्म्य स्थापित करें। बल इस बात पर पड़े कि मैं ऊर्जा-शरीर हूँ। अगर आपका जोर इस बात पर रहा कि यह शरीर मैं नहीं हूँ तो गलती हो जायगी।

महावीर ने तप के दो रूप कहे हैं—आन्तरिक तप अथवा अंतर तप और बाह्य तप। अन्तर और बाह्य तप के उन्होंने छह-छह हिस्से किए हैं। पहले हम बाह्य तप से बात शुरू करेंगे, फिर अन्तर तप पर आएँगे। अगर तप की प्रक्रिया खयाल में आ जाए और संकल्प में चली जाए तो जीवन उस यात्रा पर निकल जाता है जिस पर निकले बिना अमृत का कोई अनुभव नहीं हो सकता। हम जहाँ हैं वहाँ तो बार-

बार केवल मृत्यु का ही अनुभव होगा, कारण कि जो हम नहीं हैं, उससे ही हमने अपने को जोड़ रखा है। हम बार-बार टूटेंगे, मिटेंगे, नष्ट होंगे और जितना टूटेंगे, मिटेंगे, उतना ही उसी से हम अपने को बार-बार जोड़ते चले जाएँगे जो हम नहीं हैं। जो हम नहीं हैं, उससे अपने को जोड़ना मृत्यु के द्वार खोलना है। जो हम हैं, उससे अपने को जोड़ना अमृत के द्वार खोलना है। तप अमृत के द्वार की सीढ़ी है। ऐसी बारह सीढ़ियाँ हैं।



दशम अध्याय

महावीर की दृष्टि में अनशन

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए॥[1]

दश० अ० ८ गा० २८

महावीर ने तप को दो रूपों में विभाजित किया है। इसलिए नहीं कि तप दो रूपों में विभाजित हो सकता है, बल्कि इसलिए कि हम उसे बिना विभाजित किए समझ ही नहीं सकते। इसका भी एक कारण है। वह यह है कि हम विभाजित मनुष्य हैं। हम अपने को ही छोड़कर, अपने से ही च्युत होकर, अपने से ही दूर खड़े हैं। ऐसा नहीं कि हम दूसरों से अजनबी हैं; सच तो यह है कि हम अपने से ही अजनबी हैं। इसलिए विभाजित मनुष्य की समझ के बाहर होगा अविभाज्य तप। महावीर तप को दो हिस्सों में बाँटते हैं हमारे कारण, अन्यथा उनकी-जैसी चेतना को बाहर और भीतर का कोई अन्तर नहीं रह जाता। महावीर तो वहाँ हैं जहाँ बाहर भी भीतर का ही एक छोर हो जाता है और भीतर बाहर का एक दूसरा छोर। वे वहाँ हैं जहाँ भीतर और बाहर एक ही अस्तित्व के दो अंग हो जाते हैं। इसलिए यह विभाजन हमारे लिए है।

(१) महावीर ने तप के दो रूप कहे हैं—बाह्य तप और अंतर तप। उचित होता कि महावीर अंतर तप को ही पहले रखते, क्योंकि वह जो आन्तरिक है वही प्राथमिक भी है। लेकिन उन्होंने अन्तर तप को पहले नहीं रखा, पहले रखा है बाह्य तप को। इसका कारण यह है कि महावीर के सुननेवालों के लिए आन्तरिक द्वितीय स्थान रखता है, बाह्य ही प्रथम है। महावीर की करुणा कहती है कि वे वहीं से बोलें जहाँ सुननेवाला खड़ा है। यद्यपि उनके लिए आन्तरिक प्रथम है, उनके सुननेवालों के लिए आन्तरिक का स्थान द्वितीय है। इसलिए वे बाह्य तप को पहले रखते हैं, कारण कि हम बाहर हैं। और चूँकि महावीर ने बाह्य तप को पहले रखा है, इसलिए उनके अनुयायियों ने बाह्य तप को ही प्राथमिक समझ लिया है। यही भूल हुई है और यहीं से बाह्य तप में लगे रहने की लम्बी धारा चल पड़ी है। अब तो स्थिति

---

१. सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की (मन से भी) इच्छा नहीं करनी चाहिए।

ऐसी आ गई है कि बाह्य तप ही पूरा नहीं हो पाता, इसलिए आन्तरिक तप तक जाने का सवाल ही नहीं उठता। बाह्य तप ही जीवन को डुबो लेता है। लेकिन इसे भी ध्यान में ले लें कि जब तक आन्तरिक तप पूरा नहीं हो जाता तब तक बाह्य तप भी पूरा न होगा।

अन्तर और बाह्य एक ही चीज हैं। इसलिए यह सोचना कि बाह्य तप पहले पूरा हो जाए तब मैं अन्तर तप में प्रवेश करूँगा, गलत है। इससे बाह्य तप कभी पूरा नहीं होगा, क्योंकि बाह्य तप स्वयं आधा हिस्सा है। वह कभी पूरा नहीं हो सकता। जैन-साधना जहाँ भटक गई है वह यही जगह है। यहीं से इस विश्वास का सूत्रपात होता है कि पहले बाह्य तप पूरा हो जाए तो फिर आन्तरिक तप में उतरेंगे। मैं कहता हूँ—बाह्य तप कभी पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य जो है वह अधूरा हीं है। वह तो पूरा तभी होगा जब आन्तरिक तप भी पूरा हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर ये दोनों तप साथ-साथ चलें तभी पूरे हो पाते हैं, अन्यथा पूरे नहीं हो पाते। लेकिन विभाजन ने हमें ऐसा समझा दिया कि पहले हम बाहर को पूरा कर लें, पहले बाहर को साध लें, फिर भीतर की यात्रा करेंगे। ध्यान रहे कि तप एक ही है, बाहरी और भीतरी तप सिर्फ कामचलाऊ विभाजन हैं।

(२) अगर कोई अपने पैरों को स्वस्थ करना चाहे और सोचे कि पहले पैर स्वस्थ हो जाए, फिर सिर स्वस्थ कर लेंगे, तो वह गलती में है। शरीर एक है और उसका कोई भी अंग तब तक स्वस्थ नहीं हो सकता जब तक पूरा शरीर स्वस्थ न हो। अन्तर और बाह्य पूरे व्यक्तित्व के हिस्से हैं। इन सभी हिस्सों का इलाज एक साथ करना होगा। हाँ, जब हम विवेचन करते हैं तब उन्हें बारी-बारी से लेना होता है। सभी हिस्सों की बात एक साथ नहीं की जा सकती। भाषा 'वन-डाइमेन्शनल' है, इसकी अपनी सीमाएँ हैं। इसलिए विवेचन करते समय मैं पहले आपके सिर की वात करूँगा, फिर आपके हृदय की बात करूँगा और अन्त में आपके पैर की बात। तीनों की बात मैं एक साथ नहीं कर सकता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि तीनों एक साथ नहीं हैं। आपका सिर, आपका हृदय, आपके पैर—सब एक साथ हैं, अलग-अलग नहीं हैं। यद्यपि इनकी चर्चा अलग-अलग करनी पड़ती है, फिर भी अस्तित्व में ये इकट्ठे हैं।

इसलिए तप के छह बाह्य और छह आन्तरिक हिस्सों की जो मैं चर्चा करूँगा उसमें क्रम होगा, लेकिन जिन्हें इनकी साधना करनी है, उनके लिए क्रम नहीं होगा। उन्हें एक साथ इनकी साधना करनी होगी। ऐसी ही साधना से पूर्णता उपलब्ध होती है, अन्यथा नहीं। और याद रहे कि भाषा से बड़ी-बड़ी भूलें पैदा होती है, कारण कि भाषा के पास एक साथ बोलने का कोई उपाय नहीं है। अगर मैं किसी को बाहर जाकर ब्योरा दूँ और बताऊँ कि मेरे सामने की पंक्ति में कितने लोग बैठे थे, तो

सर्वप्रथम मैं पहले व्यक्ति का नाम लूँगा, फिर दूसरे का, फिर तीसरे का, फिर चौथे का। इस प्रकार मेरे कथन में क्रम होगा, लेकिन जो लोग मेरे सामने बैठे थे, उनके बैठने में क्रम न था। वे एक साथ मौजूद थे। उनका अस्तित्व इकट्ठा था, एक साथ था। भाषा उनमें क्रम बना देगी। कोई आगे हो जाएगा और कोई पीछे। लेकिन अस्तित्व में कोई आगे-पीछे नहीं होता।

(३) बाह्य तप में महावीर ने अनशन को पहला स्थान दिया है।

अनशन के सम्बन्ध में जो भी समझा जाता है वह गलत है। उसमें छिपे हुए सूत्र पर ही आज मैं विचार करूँगा। इस सूत्र को समझ लेने पर आपको एक नई दिशा का बोध होगा।

मनुष्य के शरीर में दोहरे यंत्र हैं ताकि संकट के किसी क्षण में एक यंत्र काम न करे तो दूसरा उपयोगी हो। आप भोजन करते हैं, शरीर उस भोजन को पचाता है, खून और हड्डियाँ बनाता है। शरीर के साधारण यंत्रों से यह काम हो जाता है। लेकिन कभी कोई जंगल में भटक जाता है, नदी में बह जाता है और कई दिनों तक किनारा नहीं पाता। ऐसी अवस्था में जब उसे भोजन नहीं मिलता तब शरीर के संकटकालीन यंत्र सक्रिय हो जाते हैं। शरीर को भोजन की आवश्यकता बनी ही रहती है, उसे ईंधन की जरूरत होती ही है। जब शरीर को भोजन नहीं मिलता तो वह उस ईंधन को ही उपयोग में लाने लगता है जो उसके भीतर पहले से इकट्ठा है। वह अपने भीतर की चर्बी को ही भोजन बनाना शुरू कर देता है। इसलिए उपवास में एक पौंड वजन रोज गिरता चला जाता है। फिर भी लगभग ९० दिन तक साधारण स्वस्थ आदमी उपवास से नहीं मरता। शरीर के पास इतना संगृहीत तत्त्व मौजूद होता है कि कम-से-कम तीन महीने तक वह अपने को बिना भोजन के जिन्दा रख सकता है। शरीर की ये दो व्यवस्थाएँ हैं। इनमें एक तो सामान्य है और दूसरी केवल संकट की घड़ी के लिए बनी है।

(४-५) अनशन की प्रक्रिया का राज यह है कि जब शरीर एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था पर संक्रमण करता है तब बीच में कुछ क्षण के लिए आप वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ शरीर नहीं होता। यही अनशन का सीक्रेट है। जब भी आप एक चीज से दूसरी पर बदलाहट करते हैं, एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर जाते हैं, तब एक ऐसा क्षण होता है जब आप किसी भी सीढ़ी पर नहीं होते। जब आप एक स्थिति से दूसरी स्थिति पर छलाँग लगाते हैं तब बीच में एक गैप—एक अन्तराल—हो जाता है। उस अन्तराल में आप किसी भी स्थिति में नहीं होते, फिर भी होते अवश्य हैं।

शरीर की एक व्यवस्था है सामान्य भोजन की। अगर यह व्यवस्था बन्द कर दी जाए तो अचानक आपको दूसरी व्यवस्था में रूपान्तरित होना पड़ेगा। इस बीच कुछ ऐसे क्षण होंगे जब आप आत्म-स्थिति में होंगे। उन्हीं क्षणों को पकड़ना अनशन

का उपयोग है। इसलिए जो आदमी अनशन का अभ्यास करेगा, वह उसका फायदा नहीं उठा पाएगा। अनशन 'सडेन' प्रयोग है, आकस्मिक और अचानक प्रयोग। वह जितना अचानक होगा, अन्तराल का उतना ही बोध होगा। अगर आप अभ्यासी हैं तो एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने में आप इतने कुशल हो जाएँगे कि बीच के अन्तराल का आपको पता ही नहीं चलेगा। इसलिए अभ्यासियों को अनशन से कोई लाभ नहीं होता। हम रोज स्थिति बदलते हैं, लेकिन अभ्यास के कारण अन्तराल का पता नहीं चलता।

(६) अनशन का प्रयोग संकटकालीन यंत्र में प्रवेश का प्रयोग है। इस तरह के अनेक प्रयोग हैं जिनसे मध्य के गैप का, अन्तराल का बोध होता है। सूफियों ने अनशन का उपयोग नहीं किया है, उन्होंने जागने का उपयोग किया है। प्रयोग अलग हैं, किन्तु परिणाम एक ही है। उन्होंने कहा है, सोना मत, जागे रहना। इतना जागे रहना कि जब नींद आए तब नींद में मत जाना—जागे ही रहना। अगर जागने की चेष्टा उस समय भी जारी ही रही जब जागने का यंत्र बिलकुल थक गया, तब आप एक क्षण के लिए उस दिशा में पहुँच जाएँगे जब जागना भी न रहा और नींद भी न रही—तब आप बीच के अन्तराल में उतर आएँगे। इसलिए सूफियों ने रात्रि-जागरण को बड़ा महत्त्व दिया है। महावीर ने उसी प्रयोग को अनशन के द्वारा किया है।

तंत्र के एक अद्‌भुत ग्रन्थ 'विज्ञान भैरव' में शंकर ने पार्वती से ऐसे सैकड़ों प्रयोग कहे हैं। हर प्रयोग दो पंक्तियों का है। हर प्रयोग का परिणाम वही है कि बीच का गैप आ जाए। शंकर कहते हैं—साँस भीतर जाती है और बाहर आती है। पार्वती, तू दोनों के बीच में ठहर जाना तो तू स्वयं को जान लेगी। वहाँ ठहर जाना जहाँ न प्रेम होता है और न घृणा ही। दोनों के बीच में ठहर जाने पर तू स्वयं को उपलब्ध हो जायगी। अनशन उसी का एक व्यवस्थित प्रयोग है।

(७) महावीर ने अनशन क्यों चुना? इसलिए कि साँसों के बीच ठहरना कठिन है लेकिन भोजन और अनशन के बीच ठहरना अपेक्षाकृत अधिक आसान है। साँस नॉन-वॉलन्टरी है, वह आपकी इच्छा से नहीं चलती। लेकिन भोजन करना 'वॉलन्टरी' कृत्य है। सूफियों ने नींद चुनी है, वह भी कठिन है, क्योंकि नींद भी 'नॉन-वॉलन्टरी' है: आप अपनी कोशिश से उसे नहीं बुला सकते। जब वह नहीं आती तो लाख उपाय करो, वह नहीं आ सकती। महावीर ने बहुत सरल-सा प्रयोग चुना है जिसे बहुत लोग कर सकें। इसमें एक तो सुविधा यह है कि ९० दिनों तक हम भोजन न भी करें तो कोई खतरा नहीं है। अगर ९० दिनों तक बिना सोए रहना पड़े, तो हम पागल हो जाएँगे। आज माओ के अनुयायी चीन में जो सबसे बड़ी पीड़ा दे रहे हैं वह यह है कि वे अपने विरोधियों को सोने न देंगे। भूखे रखकर ज्यादा

परेशान नहीं कर सकते, क्योंकि सात-आठ दिनों के बाद भूख बन्द हो जाती है, शरीर दूसरे यंत्र पर चला जाता है—वह भीतर से भोजन पाने लगता है।

मनुष्य के हाथ में दो यंत्रों के बीच में ठहर जाने का जो सर्वाधिक सुविधापूर्ण और सरलतम प्रयोग है, वह है अनशन। लेकिन अगर आप अभ्यास कर लें तो फिर कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। यह प्रयोग आकस्मिक है। अचानक आपने भोजन नहीं लिया और जब आपने भोजन नहीं लिया तब न तो ध्यान रखें भोजन का, न उपवास का; बस, ध्यान रखें उस मध्यम बिन्दु का कि वह कब आता है—आँखें बंद कर लें और भीतर ध्यान रखें कि शरीर का यंत्र कब स्थिति बदलता है। तीन दिन में, चार दिन में, पाँच दिन में, सात दिन में। कभी तो स्थिति बदल ही जाएगी। और जब स्थिति बदलती है तब आप बिलकुल दूसरे लोक में प्रवेश करते हैं। आपको पहली दफा यह पता चलता है कि आप शरीर नहीं हैं। न तो वह शरीर जो अब तक काम कर रहा था और न यह जो अब काम कर रहा है। दोनों के बीच में एक क्षण का यह बोध भी कि मैं शरीर नहीं हूँ, मनुष्य के जीवन में अमृत का द्वार खोल देता है।

(८-९) लेकिन महावीर के पीछे जो परम्परा चल पड़ी है, वह अनशन का अभ्यास कर रही है। जो जितना अभ्यासी है उसे उतना ही अंधा समझिए। अभ्यास अंधा कर देता है।

भोजन और अनशन के बीच जो संक्रमण है, ट्रांजिशन है, वह बहुत सूक्ष्म और बारीक है, बहुत नाज़ुक है। जरा से अभ्यास से आप उसको चूक जाएँगे। इसलिए अनशन का भूलकर अभ्यास न करें। कभी अचानक उसका प्रयोग बहुत कीमती सिद्ध होगा।

(१०) महावीर जानते हैं—और जिन्होंने भी इस दिशा में प्रयोग किया है वे जानते हैं—कि इस शरीर से आपका जो सम्बन्ध है, वह भोजन के द्वारा है। इस शरीर और आपके बीच जो सेतु है, वह भोजन है। अगर आपको यह जानना है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ तो उस क्षण में जानना आसान होगा जब आपके शरीर में भोजन बिलकुल नहीं है। जब जोड़नेवाली कड़ी बिलकुल नहीं है तभी यह जानना आसान होगा कि मैं शरीर नहीं हूँ। भोजन ही संयोजक कड़ी है, वही जोड़ता है, इसलिए भोजन के अभाव में ९० दिन बाद सम्बन्ध टूट जाएगा, आत्मा अलग हो जाएगी, शरीर अलग हो जाएगा। तो महावीर कहते हैं कि जब तक शरीर में भोजन पड़ा है, तब तक जोड़ है। उस स्थिति में अपने को ले जाओ, जब शरीर में बिलकुल भोजन नहीं हो। तभी तुम आसानी से जान सकोगे कि तुम शरीर से अलग हो, पृथक् हो। तभी तादात्म्य टूट सकेगा।

(११-१२) याद रहे कि शरीर में जितना ज्यादा भोजन होता है, उतना ही ज्यादा शरीर के साथ तादात्म्य भी होता है। इसलिए भोजन के बाद नींद तत्काल

आनी शुरू हो जाती है। शरीर के साथ तादात्म्य बढ़ जाता है तो मूर्छा बढ़ जाती है; शरीर के साथ तादात्म्य टूट जाता है तो होश बढ़ता है। महावीर का सारा का सारा प्रयोग जागरण, अमूर्छा और 'अवेयरनेस' का है। महावीर कहते हैं कि चूँकि भोजन मूर्छा को बढ़ाता है, तन्द्रा पैदा करता है, इसलिए यदि भोजन न लिया गया हो तो इससे उलटा परिणाम होता है; होश बढ़ेगा, जागरण बढ़ेगा।

(१३) महावीर ने यह अनुभव किया कि जब शरीर में भोजन बिलकुल नहीं होता तो प्रज्ञा अपनी पूरी शुद्ध अवस्था में होती है, क्योंकि तब सारे शरीर की ऊर्जा मस्तिष्क हो जाती है। पेट के लिए पचाने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। महावीर कहते थे : भोजन बिलकुल बन्द हो, शरीर की सारी क्रियाएँ बन्द हों, शरीर किसी मूर्ति की तरह ठहरा रह जाए, हाथ भी न हिले, उँगलियाँ भी व्यर्थ न हिलें, सब क्रिया 'मिनिमम' पर आ जाए तो शरीर की पूरी ऊर्जा जो अलग-अलग बँटी है, मस्तिष्क को उपलब्ध हो जाती है और मस्तिष्क पहली दफे जागने में समर्थ होता है। अगर महावीर ने भोजन में भी शाकाहार को पसन्द किया, मांसाहार को नहीं तो यह सिर्फ अहिंसा के कारण नहीं। इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कारण दूसरा था और वह यह था कि मांसाहार पचने में ज्यादा शक्ति माँगता है और बुद्धि की मूर्छा बढ़ती है।

यदि अहिंसा अकेला कारण होता तो महावीर कह सकते थे कि मरे हुए जानवर लेने में कोई हर्ज नहीं है। बुद्ध ने तो आज्ञा दे दी थी कि मरे हुए जानवर का मांस खाया जा सकता है। लेकिन महावीर ने मरे हुए जानवरों का मांस खाने की भी आज्ञा नहीं दी, क्योंकि उनका प्रयोजन मात्र अहिंसा नहीं है। महावीर का गहरा प्रयोजन यह था कि मांस पचने में ज्यादा शक्ति माँगता है, शरीर और पेट को ज्यादा महत्त्वपूर्ण कर जाता है। इससे मस्तिष्क की ऊर्जा क्षीण होती है और तन्द्रा गहरी होती है। यदि मस्तिष्क में ऊर्जा का प्रवाह बना रहे तभी आप जाग्रत रह सकते हैं। इसलिए इसे बाह्य तप कहा, आन्तरिक तप नहीं। जो आदमी आन्तरिक तप को उपलब्ध हो जायगा वह नींद में भी जागा रहेगा।

तो महावीर ने कहा है कि यदि चेतना को बढ़ाना है तो जब शरीर में भोजन नहीं है तभी यह आसानी से हो सकता है।

(१४) लेकिन कुछ लोग जब भोजन छोड़ते हैं तब उनकी चेतना नहीं बढ़ती, केवल भोजन का चिन्तन बढ़ जाता है। अकेला भोजन छोड़ देना पुण्य नहीं है। अगर आपने सोचा है कि सिर्फ भोजन छोड़ देना ही पुण्य है तो भोजन छोड़कर आप भोजन का चिन्तन करते रहेंगे। ध्यान रहे कि भोजन के चिन्तन से भोजन ही बेहतर है। भोजन का चिन्तन भोजन से बदतर है क्योंकि भोजन तो पेट करता है और चिन्तन मस्तिष्क। मस्तिष्क का काम भोज करना नहीं है। अच्छा होगा कि आप पेट

को ही अपना काम करने दें। अगर मस्तिष्क में भोजन का चिन्तन न चले, तभी अनशन का कोई उपयोग है—यानी तब, जब भोजन भी नहीं और भोजन का चिन्तन भी नहीं।

क्या आपको पता है कि आपके चिन्तन के दो ही हिस्से हैं? चाहे तो काम या भोजन? गहरे में तो स्वाद की वासना काम-वासना ही है, क्योंकि भोजन के बिना काम-वासना सम्भव नहीं है। महावीर से पूछेंगे तो वे कहेंगे कि जो आदमी भोजन के लिए बहुत आतुर होता है वह वस्तुतः काम-वासना से भरा है। भोजन इसका लक्षण है, क्योंकि भोजन काम-वासना की शक्ति को बढ़ाता है। इसलिए महावीर कहेंगे कि जो भोजन के चिन्तन से भरा है वह काम-वासना से भरा है। भोजन की वासना के छूटते ही काम-वासना शिथिल होने लगती है।

(१५-१६) यह भी ध्यान रहे कि हमारे मन की गहरी से गहरी तरकीब परिपूरक—'सब्स्टीट्यूट क्रिएशन'—पैदा करना है। अगर आपको भोजन नहीं मिलेगा तो आप मन ही मन भोजन का चिन्तन करने लगेंगे और इस चिन्तन में उतना ही रस लेने लगेंगे जितना भोजन में।

(१७) भोजन करते तो पन्द्रह मिनट में वह पूरा हो जाता। चिन्तन में पन्द्रह मिनट से काम चलने को नहीं। पन्द्रह मिनट का काम पन्द्रह घंटे करना पड़ेगा। चूंकि भोजन की शक्ति तो मिलेगी नहीं, इसलिए मन को चिन्तन में ही उलझाए रखना पड़ेगा। इसलिए महावीर ने कहा है कि आप कोई काम शरीर से करते हैं या मन से, इसमें मैं भेद नहीं करता। आपने चोरी की या चोरी की बाबत सोचा, मेरे लिए दोनों बराबर हैं, दोनों पाप हैं। आपने हत्या की या हत्या के सम्बन्ध में सोचा, दोनों समान है। अदालत फर्क करती है। अगर आप हत्या के सम्बन्ध में केवल सोचें तो अदालत आपको सजा नहीं दे सकती। लेकिन महावीर कहते हैं कि धर्म भाव को भी पकड़ता है। आप धर्म की अदालत से बाहर नहीं हो सकते। भाव पर्याप्त हो गया। महावीर कहते हैं कि कृत्य तो भाव की बाह्य छाया मात्र है। मूल तो भाव ही है। अगर मैंने हत्या करनी चाही तो मैंने हत्या कर ही दी। अन्ततः आप भीतर तौले जाएँगे, आपकी परिस्थिति नहीं तौली जाएगी। अगर आपने भोजन का चिन्तन किया तो आपका उपवास नष्ट हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि आप तब तक उपवास न कर पाएँगे जब तक अपने चिन्तन पर आपका नियंत्रण न हो। अभी तो हालत यह है कि आपका चिन्तन ही जो चलाना चाहता है, वही आपको चलाना पड़ता है; मन जहाँ ले जाता है, वहीं आपको जाना पड़ता है। आपके नौकर ही आपके मालिक हो गए हैं।

(१८) सभी इन्द्रियाँ आपकी नौकर हैं, लेकिन मालिक हो गई हैं। आपने कभी अपनी इन्द्रियों को कोई आज्ञा नहीं दी, उन्होंने ही आपको आज्ञा दी है। तप का एक

अर्थ आपको बताता हूँ। तप का अर्थ है—अपनी इन्द्रियों की मालकियत, उन्हें आज्ञा देने और उनसे आज्ञापालन करवाने की सामर्थ्य। पेट कहता है कि भूख लगी है, लेकिन आप कहते हैं—भूख लगी है तो लगे, मैं आज भोजन देने को राजी नहीं हूँ। और आप भोजन नहीं लेते और न भोजन का चिन्तन करते हैं। जब आपका संकल्प इस अवस्था को पहुँच जाता है और आपमें अपनी इन्द्रियों पर शासन करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तब आप अनशन करने के योग्य हो जाते हैं। उपवास हो सकता है तभी, जब चिन्तन पर आपका वश हो। लेकिन चिन्तन पर आपका कोई वश नहीं है। विचार की मालकियत का कोई प्रशिक्षण आपको नहीं दिया गया।

(१९) लेकिन अगर आप सुनिश्चित हैं और आपकी ना का मतलब नहीं और हाँ का मतलब हाँ होता है, और सच में होता है, तो इन्द्रियाँ इस बात को बहुत जल्द समझ जाती हैं। वे जल्द समझ जाती हैं कि आपकी ना का मतलब नहीं है और आपकी हाँ का मतलब हाँ है। इसलिए मैं कहता हूँ कि अगर आप संकल्प करें तो उसे कभी न तोड़ें। यदि तोड़ना ही हो तो कभी संकल्प न करें, क्योंकि संकल्प करके तोड़ना आपको इतना दुर्बल कर जाता है जिसका कोई हिसाब नहीं है। आप अपनी ही आँखों में अपने ही सामने दीन-हीन हो जाते हैं। इसलिए छोटे संकल्प से शुरू करें।

(२०-२१) मेरे पास लोग आते हैं और कहते हैं कि कपड़े बदलने से क्या होगा, आत्मा बदलनी है। कपड़ बदलने की हिम्मत नहीं है और आत्मा बदलनी है! वे सोचते हैं कि यह दलील उनकी अपनी है, पर यह दलील उनके कपड़े दे रहे हैं। जो भूखा नहीं रह सकता, वह कहता है कि अनशन से क्या होगा? भूखे मरने से क्या होगा? कुछ नहीं होगा। लेकिन मैं पूछता हूँ कि उपवास से कुछ भी न होगा तो क्या भोजन करने से हो जायगा? नग्न खड़े होने से नहीं होगा तो क्या कपड़े पहनने से हो जायगा?

(२२) महावीर निश्चित नहीं करते थे कि कब भोजन लेंगे। वे इस बात को नियति पर छोड़ देते थे। बहुत कठिन प्रयोग था वह। पृथ्वी पर ऐसा प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया। महावीर कहते थे कि भोजन मैं तब लूँगा जब मेरे संकल्प की घटना घटे (जैसे—जब मैं रास्ते पर निकलूँ तब किसी बैलगाड़ी के सामने कोई आदमी खड़ा होकर रोता रहे, बैल काले रंग के हों, उस आदमी की एक आँख फूटी हो और दूसरी आँख से आँसू टपकते हों)। और वह भी तब जब वहीं कोई भोजन देने के लिए निमंत्रण दे, नहीं तो आगे बढ़ जाऊँगा। महावीर गाँवों में जाते और मन-ही-मन यह तय करके जाते कि कुछ विशेष संयोग होने पर ही भोजन लूँगा, अन्यथा नहीं। यदि वह संयोग पूरा नहीं होता तो वे आनन्दित होकर वापस लौट आते। वे कहते कि जब नियति की ही इच्छा नहीं है तो हम क्यों इच्छा करें! जब जागतिक शक्ति ही चाहती है कि आज मैं भोजन न लूँ तो बात खत्म हो गई! गाँव

में अनेक लोग भोजन लेकर खड़े होते हैं और तरह-तरह के इन्तजाम करते हैं। परन्तु महावीर भोजन नहीं लेते। गाँव के लोग दिगम्बर मुनियों के लिए आज भी ऐसा ही करते हैं। फिर भी उनके संकल्प जाहिर हो जाते हैं और लोग वैसा ही प्रबंध कर लेते हैं। दिगम्बर मुनि पहले ही कह देते हैं कि वे भोजन वहाँ करेंगे जहाँ किसी घर के सामने केले लटके हों। यह बात लोगों को मालूम हो जाती है और सब लोग अपने घर के सामने केले लटका लेते हैं। दिगम्बर मुनि संकल्प करते हैं कि वे तभी भोजन लेंगे जब कोई स्त्री सफेद साड़ी पहनकर भोजन के लिए आमंत्रित करे। उनका संकल्प प्रकट कर दिया जाता है और स्त्रियाँ सफेद साड़ी पहनकर उन्हें आमंत्रित कर लेती हैं। इसलिए अब जैन मुनि कभी बिना भोजन लिये नहीं लौटते।

महावीर की प्रक्रिया कुछ और थी। वे किसी से कुछ कहते नहीं थे। मन-ही-मन संकल्प कर लेते थे कि जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी और जब नियति को मंजूर होगा तभी मैं भोजन लूँगा। कभी-कभी तीन-तीन महीने उन्हें भोजन लिये बिना ही गाँव से लौट जाना पड़ता। जब मन के लिए कोई सीमा नहीं होती तो मन को तोड़ना बहुत आसान हो जाता है। इसके विपरीत, जब मन के लिए सीमा होती है तो उसे बचाना बहुत सरल होता है। यदि सीमा है तो लगता है कि एक ही घंटे की बात है, निकाल देंगे, चौबीस घंटे की बात है, गुजार देंगे। लेकिन महावीर का जो अनशन था, उसकी कोई सीमा न थी। वह कब पूरा होगा कि न होगा, या वह जीवन का अन्तिम अनशन होगा—भोजन उसके बाद कभी न होगा—इसका कुछ पक्का पता नहीं होता।

स्पष्ट है कि महावीर ने उपवास और अनशन पर जैसे गहरे प्रयोग किए, वैसे गहरे प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति ने इस पृथ्वी पर नहीं किए। मगर आश्चर्य है कि इतने कठिन प्रयोग करने पर भी महावीर को कभी-कभी भोजन मिल ही जाता था। उन्हें बारह वर्षों में ३६४ बार भोजन मिला। कभी पन्द्रह दिन बाद, कभी दो महीने बाद, कभी तीन महीने बाद। इसलिए महावीर कहते थे कि जो मिलनेवाला है, वह मिल ही जाता है। उसका त्याग भी कैसे किया जा सकता है? त्याग तो उसी का किया जा सकता है जो नहीं मिलनेवाला होता है। महावीर कहते थे कि जो नियति से मिला है, उसका कोई भी सम्बन्ध मुझसे नहीं है, क्योंकि मैंने किसी से माँगा नहीं, मैंने किसी से कुछ कहा नहीं : छोड़ दिया अनन्त के ऊपर कि यदि जगत् को मुझे चलाने की कोई जरूरत होगी तो वह मुझे और चला देगा, यदि जरूरत न होगी तो बात खत्म हो जाएगी। मेरी अपनी कोई जरूरत नहीं है।

(२३) ध्यान रहे कि **महावीर की सारी प्रक्रिया जीवेषणा छोड़ने की प्रक्रिया है।** महावीर कहते हैं कि मैं जीवित रहने के लिए कोई एषणा नहीं करता। अगर इस अस्तित्व को ही—इस होने को ही—मेरी कोई जरूरत हो तो वह स्वयं इसका इन्त-

जाम करे। मुझे कोई जरूरत नहीं। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि इन शर्तों के बावजूद महावीर चालीस वर्ष जिए। वे स्वस्थ रहे और आनन्द से जिए। भूख ने उन्हें मार न डाला। नियति पर स्वयं को छोड़ देने से वे दीन-हीन न हो गए। जीवेषणा को हटा देने से मौत नहीं आ गई।

हमारी यह धारणा कि हम अपने को जिला रहे हैं, केवल विक्षिप्तता है; हमारा यह खयाल कि जब तक हम नहीं मरते तब तक हम मर कैसे सकते हैं, मात्र नासमझी है। बहुत कुछ हमारे हाथ के बाहर है। जो हमारे हाथ के बाहर है उसे हाथ के भीतर समझने से ही अहंकार का जन्म होता है। जो हमारे हाथ के बाहर है उसे हाथ के बाहर ही समझने से अहंकार विसर्जित होता है।

(२४) महावीर न तो अपना भोजन पैदा करते थे और न अपनी ओर से स्नान ही करते थे। वर्षा का पानी उन्हें जितना धुला लेता, धुला लेता। लेकिन बड़ी मजेदार बात तो यह है कि महावीर के शरीर से कभी पसीने की दुर्गन्ध नहीं आती थी। आपने कभी खयाल किया कि सैकड़ों पशु-पक्षी हैं जो कभी स्नान नहीं करते ? उनके लिए वर्षा का पानी ही काफी है। उनके शरीर से दुर्गन्ध नहीं आती। आदमी ही अकेला जानवर है जो बहुत दुर्गन्ध देता है, जिसे डियोडरेण्ट की जरूरत पड़ती है। रोज सुगन्ध छिड़को, साबुन से नहाओ, सब तरह के इन्तजाम करो ताकि शरीर से दुर्गन्ध न आए। महावीर के जो बहुत निकट थे, वे यह देखकर बहुत चकित थे कि उनके शरीर से दुर्गन्ध नहीं आती। **असल में महावीर वैसे ही जीते थे जैसे पशु-पक्षी जीते हैं।** उन्होंने प्रकृति पर, नियति पर, अपने को छोड़ दिया था। अनन्त सत्ता की मर्जी पर अपने को पूर्णतया निछावर कर दिया था। असल में राजी होने से एक नई तरह की सुगन्ध जीवन में आनी शुरू हो जाती है। जब हम प्रकृति पर अपने को छोड़ देते हैं, उसकी दी हुई सभी चीजें, चाहे वह पसीना हो या दुर्गन्ध, स्वीकार कर लेते हैं तो एक अनूठी सुगन्ध से जीवन भरने लगता है। सब दुर्गन्ध प्रकृति के अस्वीकार की दुर्गन्ध है, सब कुरूपता नियति के अस्वीकार की कुरूपता है। स्वीकार के साथ ही एक अनूठा सौन्दर्य आ जाता है, एक अनूठी सुगन्ध से जीवन भर जाता है। महावीर ने समस्त पर अपने को छोड़ दिया था। जब बादल बरसें तब स्नान हो गया। स्नान करना तो सिर्फ प्रतीक है। बात कुल इतनी है कि महावीर ने छोड़ दिया है स्वयं को नियति पर। वे नियति से, समस्त से मानों कहते हैं—जो करना हो कर, मैं राजी हूँ। **यह राजी होना अहिंसा है।** और इस राजी होने के लिए ही उन्होंने अनशन को प्राथमिक सूत्र कहा है, क्योंकि जब तक आपकी इन्द्रियाँ आपसे राजी नहीं है, तब तक आप प्रकृति से राजी कैसे होंगे ?

आपकी इन्द्रियाँ ही आपसे राजी नहीं है। पेट कहता है भोजन दो, शरीर कहता

है कपड़े दो, पीठ कहता है विश्राम चाहिए। आपकी समस्त इन्द्रियों ने आपसे बगावत कर रखा है। वे कहती हैं—यह दो, वह लाओ, नहीं तो तुम्हारी जिन्दगी बेकार है, अकारथ है, तुम बेकार जी रहे हो। इतने छोटे-से शरीर में जब इतनी छोटी-छोटी इन्द्रियाँ आपसे राजी नहीं हो पातीं तो इस विराट शरीर से—ब्रह्मांड से—आप कैसे राजी हो पाएँगे ? फिर, जब तक आपका ध्यान इन्द्रियों में ही उलझा रहेगा तब तक वह उस विराट पर जायगा भी कैसे ? वह यहीं क्षुद्र में अटका रह जायगा। महावीर कहते हैं—पहले इन्द्रियों को अपने से राजी करो। अनशन का यही अर्थ है कि पेट को अपने से राजी करो, तुम पेट से राजी मत हो जाओ। भली-भाँति जानो कि पेट तुम्हारे लिए है, तुम पेट के लिए नहीं हो। (२५) अनशन का अर्थ यही है कि हम इन्द्रियों को ऊपर बुलाएँ, उनके साथ कभी नीचे नहीं जाएँ।



एकादश अध्याय

उणोदरी आदि शेष बाह्य तप

ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे, इंदियाण य जुंजणे ।।[1]

—उत्त० अ० २४, गा० २४

अनशन के बाद महावीर ने दूसरा बाह्य तप उणोदरी कहा है। उणोदरी का अर्थ है अपूर्ण भोजन, अपूर्ण आहार। महावीर ने अनशन के बाद उणोदरी को क्यों रखा ? आम तौर से जो लोग अनशन का अभ्यास करते हैं, वे पहले उणोदरी का अभ्यास करते हैं, वे पहले आहार को कम करने की कोशिश करते हैं। जब कम आहार की आदत हो जाती है, तब वे अनशन का प्रयोग शुरू करते हैं। यह बिलकुल ही गलत है। महावीर ने जान-बूझकर पहले अनशन कहा और फिर उणोदरी की चर्चा की। उणोदरी का अभ्यास आसान है, लेकिन एक बार उणोदरी का अभ्यास हो जाए तो उस अभ्यास के बाद अनशन का कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं रह जाता।

उणोदरी का अर्थ कुल इतना ही होता है कि पेट जितना माँगे उसे उतना नहीं देना। इसलिए उणोदरी बहुत कठिन है। कठिन इस लिहाज से है कि आपको पहले से यही पता नहीं कि स्वाभाविक भूख कितनी है। इसलिए आपको पहले अपनी स्वाभाविक भूख खोजनी पड़ेगी। इसलिए अनशन को पहले रखा गया है। अनशन आपकी स्वाभाविक भूख[2] को खोजने में सहयोगी होगा। जब आप बिलकुल भूखे रहेंगे और भूखे रहने का संकल्प करेंगे, तब कुछ ही दिनों में पाएँगे कि आपको आदत की भूख भूल गई। वह असली भूख न थी। अनशन को महावीर ने पहले लिया ताकि झूठी भूख मिट जाए, असली भूख का पता चल जाए और रोआँ-रोआँ भोजन के लिए पुकारने लगे। (जीव विज्ञानी कहते हैं कि आदमी के भीतर एक जैविक घड़ी[1] ही नहीं, आदत की भी एक घड़ी[2] होती है। स्वाभाविक भूख तो

---

१. संयमी पुरुष खड़ा रहने में, बैठने में, सोने में, उल्लंघन-प्रलंघन करने में तथा इन्द्रियों के प्रयोग में सदा काया का नियंत्रण करे।

२. दूसरी भूख आदत की होती है, वह आदत की घड़ी से चालित होती है।

३. बायोलॉजिकल क्लॉक।

४. हैबिट क्लॉक।

बहुत मुश्किल से लगती है, पर नियम से बँधी हुई भूख रोज लगती है। अनशन से स्वाभाविक भूख का पता चलता है और नियम से बँधी हुई भूख मिट जाती है।) अनशन आपके भीतर वास्तविक भूख को उघाड़ने में सहयोगी होगा। जब वास्तविक भूख उघड़ आए तब, महावीर कहते हैं, उणोदरी में आइए। जब वास्तविक उघड़ आए तो वास्तविक से भी कम लीजिए और अवास्तविक भूख को तो कभी पूरा कीजिए ही मत। यह (अवास्तविक भूख) खतरनाक है। वास्तविक भूख को पूरा करते समय थोड़ी जगह खाली रखिए।

एक सीमा तक ही हमारी भूख, हमारी वासनाएँ ऐच्छिक होती हैं। इस सीमा के बाद वे 'नान-वालंटरी' हो जाती हैं। जिस सीमा के पार भूख अनैच्छिक हो जाए, उसी सीमा पर रुक जाना उणोदरी है। तीन रोटी की जगह ढाईरोटी खा लेने से ही उणोदरी नहीं हो जायगी। उणोदरी का अर्थ है इच्छा के भीतर रुक जाना, अपनी सामर्थ्य के भीतर रुक जाना। (अपनी सामर्थ्य के बाहर जाते ही आप गुलाम हो जाते हैं।) महावीर कहते हैं कि चरम पर पहुँचने के पहले रुक जाना। जब क्रोध में किसी पर हाथ उठ जाए और उसके करीब पहुँच जाए, तब उसे रोक लेना। जहाँ मन सर्वाधिक जोर मारे, उसी सीमा से वापस लौट आना। स्मरण रहे कि कुछ न करना आसान है, लेकिन चरम सीमा से लौट आना बहुत मुश्किल। फिल्म न देखने में उतनी अड़चन नहीं है जितनी अड़चन इस बात में है कि उस समय उसे छोड़ दिया जाए जिस समय आपकी उत्सुकता चरम सीमा का स्पर्श करती रहे। किसी को प्रेम ही नहीं किया तो इसमें क्या अड़चन हो सकती है? लेकिन प्रेम जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हो तब उसके पहले ही वापस लौटना अत्यन्त कठिन है।

उणोदरी अनशन का ही उपयोग है, लेकिन थोड़ा कठिन है। आम तौर से आपने सुना होगा कि यह सरल प्रयोग है और यह भी कि जिससे अनशन न बने वह उणो-दरी करे। मैं आपसे कहता हूँ, अनशन से उणोदरी कठिन प्रयोग है। **जिससे अनशन बन सकता है, वही उणोदरी कर सकता है।**

महावीर का तीसरा बाह्य तप है वृत्ति-संक्षेप। इसका परम्परागत अर्थ यह है कि अपनी वृत्तियों और वासनाओं को सिकोड़ लो—जहाँ दस कपड़ों से काम चल सकता है, वहाँ ग्यारह कपड़े न रखना; अगर एक बार भोजन से काम चल सकता है तो दो बार भोजन न करना। लेकिन महावीर का अर्थ गहरा है और परम्परागत अर्थ से भिन्न है। उनकी दृष्टि में वृत्ति-संक्षेप एक प्रक्रिया है। आपके भीतर प्रत्येक वृत्ति का पृथक-पृथक केन्द्र है। सेक्स का एक निजी केन्द्र है, भूख का एक अलग केन्द्र। इसी प्रकार प्रेम का एक केन्द्र है और बुद्धि का एक केन्द्र। लेकिन साधारणतः हमारे सारे केन्द्रों के कार्य मिश्रित हो गए हैं, 'कन्फ्यूज्ड' हैं, कारण कि एक केन्द्र का काम हम दूसरे केन्द्र से लेते रहते हैं, दूस रे का तीसरे से, तीसरे का चौथे से। इस प्रकार

काम नहीं हो पाता और केन्द्र की शक्ति भी नष्ट होती है। गुर्जिएफ कहता था कि प्रत्येक केन्द्र को उसके काम पर सीमित कर दो। महावीर के वृत्ति-संक्षेप का यही अर्थ है। प्रत्येक वृत्ति को उसके केन्द्र पर संक्षिप्त कर दो, उसे कहीं और--अन्य केन्द्रों के आसपास-- मत भटकने दो। इससे व्यक्ति में एक सुघड़ता और स्पष्टता आती है और वह कुछ भी करने में समर्थ हो जाता हैं। उसकी प्रत्येक वृत्ति 'टोटल इंटेंसिटी में जीने लगती है। इसलिए वह व्यर्थ हो जाती है। याद रहे कि जिस वृत्ति को भी आप उसकी समग्रता में जीते हैं, वह व्यर्थ हो जाती है। और आत्मदर्शन के पूर्व वृत्तियों का व्यर्थ हो जाना जरूरी है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि साधा-रणतः हमारी सारी वृत्तियाँ बुद्धि या मन को घेरे रहती हैं, क्योंकि हम मन से ही सारा काम करते हैं। भोजन भी मन से करना पड़ता है, संभोग भी मन से करना पड़ता है, कपड़े भी मन से पहनने पड़ते हैं। इसी कारण बेचारी बुद्धि निर्बल और निर्वीर्य हो जाती है, दुनिया में बुद्धिहीनता फैलती है।

वृत्ति-संक्षेप पर महावीर ने दो कारणों से बल दिया है। एक तो जो वृत्ति अपने केन्द्र पर संगृहीत या एकाग्र हो जाती है, आपको उस वृत्ति के वास्तविक अनुभव मिलने शुरू हो जाते हैं। दूसरा यह कि वास्तविक अनुभव से मुक्त हो जाना बहुत आसान है, क्योंकि वास्तविक अनुभव बहुत दुखद है। स्त्री की कल्पना से मुक्त होना बहुत कठिन है, स्त्री से मुक्त हो जाना बहुत आसान। धन की कल्पना से मुक्त हो जाना बहुत कठिन है, धन के ढेर से मुक्त हो जाना बहुत सरल। कल्पना से मुक्त होना है, क्योंकि कल्पना कहीं ठहरने नहीं देती, वह बहती-बहाती चली जाती है। कहीं अन्त ही नहीं आता। बुद्धि का निजी काम है ध्यान। जब बुद्धि अपने मन में ठहरती है, अपने में रुकती है तब बुद्धिमत्ता आती है। लेकिन हमने इसे सब तरह से बोझिल कर रखा है। वह अपना काम कब करे? इसीलिए हम बुद्धिमत्ता का कोई काम जीवन में नहीं कर पाते। इससे केवल साधन का ही काम लेते रहे हैं--कभी धन कमाने का काम, कभी शादी करने का काम, कभी रेडियो सुनने का काम। लेकिन बुद्धि की बुद्धिमत्ता पनपने नहीं देते। इसलिए महावीर ने कहा है कि प्रत्येक वृत्ति को उसके अपने केन्द्र पर संक्षिप्त करो। उसे फैलने मत दो। भूख लगे तो पेट से लगने दो, बुद्धि से नहीं। बुद्धि को कह दो कि तू चुप रह, इसकी फिक्र छोड़ दे कि कितना बजा है; पेट खबर देगा कि भूख लगी है, तब हम सुन लेंगे। इसी प्रकार नींद के यंत्र को अपना काम करने दो, काम-वासना के यंत्र को अपना काम करने दो। तब तुम्हें धन की दौड़ छोड़नी नहीं पड़ेगी। तुम अचानक पाओगे कि जो-जो व्यर्थ था, वहछूट गया। तुम्हें बड़ा मकान बनाने का पागलपन छोड़ना नहीं पड़ेगा, तुम्हें दिख जायगा कि कितना बड़ा मकान तुम्हारे लिए जरूरी है।

इसका अर्थ यह नहीं कि अगर आप सब छोड़कर भाग जाएँ तो आप बदल

जाएँगे। यह जरूरी नहीं है। अगर चीजों को त्यागने से आप बदल सके तो चीजें बहुत कीमती हो जाती हैं। अगर चीजों को छोड़ने से मुझे मोक्ष मिलता है तो ठीक है, मोक्ष का भी सौदा हो जाता है। चीजों की ही कीमत चुकाकर मोक्ष मिल जाता है। **महावीर वस्तुओं को मूल्य नहीं दे सकते।** इसलिए मैं कहता हूँ कि उनकी दृष्टि में वस्तुओं के त्याग का नाम वृत्ति-संक्षेप नहीं है। कुछ लोग परेशानी को ही तप समझ लेते हैं। जो परेशानी को तप समझ लेते हैं उनकी नासमझी का कोई हिसाब नहीं है। तप से ज्यादा आनन्द की कल्पना नहीं की जा सकती। तपस्वी के आनन्द का कोई अन्त नहीं होता। जिस दिन आपकी सारी शक्ति वृत्तियों से मुक्त होकर बुद्धि को मिल जाती है, उसी दिन आप मुक्त हो जाते हैं। जिस दिन समस्त शक्तियाँ बुद्धि की तरफ उसी तरह प्रवाहित होने लगती हैं जिस तरह नदियाँ सागर की तरफ प्रवाहित होती हैं, उसी दिन बुद्धि का महासागर आपके भीतर फलित होता है। उस महासागर का आनन्द, उस महासागर की प्रतीति और अनुभूति दुख की नहीं, परेशानी की नहीं, परम आनन्द की हैं। वह परम प्रफुल्लता की अनुभूति है, किसी फूल के खिल जाने-जैसी या किसी मृतक में जीवन आ जाने-जैसी।

बाह्य तप का चौथा चरण है 'रस-परित्याग'। रस-परित्याग किन्हीं रसों या स्वादों का निषेध नहीं है। वस्तुतः साधना के जगत् में स्थूल से स्थूल दिखाई पड़नेवाली बात भी स्थूल नहीं होती। चूँकि सूक्ष्म के लिए कोई शब्द नहीं होता, इसलिए स्थूल शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। बाह्य-जगत् के शब्दों का प्रयोग करना मजबूरी है।

रस की पूरी प्रक्रिया क्या है ? स्वाद आपकी जिह्वा में होता है या आपके मन में ? स्वाद कहाँ है ? रस कहाँ है ? यह जान लें, तभी रस-परित्याग का अर्थ खयाल में आ सकेगा। जो स्थूल में देखते हैं, उन्हें लगता है कि स्वाद या रस वस्तु में होता है, इसलिए वस्तु को छोड़ देना ही उनकी दृष्टि में रस-परित्याग है। वस्तुतः वस्तु में स्वाद नहीं होता। वस्तु केवल निमित्त बनती है। अगर भीतर रस की पूरी प्रक्रिया काम न कर रही हो तो वस्तु निमित्त बनने में भी असमर्थ होती है। जैसे—यदि आपको फाँसी की सजा दी जा रही हो और उसी समय खाने को मिष्ठान्न, तो वह मिष्ठान्न आपको मीठा नहीं लगेगा, यद्यपि वह अभी भी मीठा ही है। पर जो मीठे को भोग सकता है, वह बिलकुल अनुपस्थित हो गया है। स्वाद-यंत्र के संवेदनशील तत्त्व अब भी भीतर खबर पहुँचाएँगे कि मिठाई मुँह पर है, जीभ पर है, लेकिन मन उस खबर को लेने की तैयारी नहीं दिखाएगा। हो सकता है कि मन उस खबर को ले ले, फिर भी मन के पीछे जो चेतना है उसके और मन के बीच का सेतु टूट गया है, सम्बन्ध टूट गया है। मृत्यु के क्षण में वह सम्बन्ध नहीं रह जाता। आपके व्यक्तित्व को बदलने के लिए चिकित्सक शॉक-ट्रीटमेंट का उपयोग करते रहे हैं। शॉक-

ट्रीटमेंट का कुल इतना ही अर्थ है कि आपकी चेतना और आपके मन का सेतु क्षण भर को टूट जाए।

वस्तु में रस नहीं होता, सिर्फ रस का निमित्त होता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि किसी वस्तु में कोई रंग भी नहीं होता, वस्तु केवल निमित्त होती है किसी रंग को आपके भीतर पैदा करने के लिए। जब आप नहीं होते, जब कोई देखनेवाला नहीं होता, तब वस्तु रंगहीन हो जाती है। इसी प्रकार इस बात को खयाल में ले लें कि हमारे सब रस वस्तुओं और हमारी जीभ के बीच सम्बन्ध हैं। लेकिन बात इतनी ही नहीं है। यदि रस वस्तुओं और जीभ के बीच सम्बन्ध-मात्र है तो रस-त्याग बहुत सरल हो जाता है। आप अपनी जीभ को संवेदनहीन कर लें या वस्तु का त्याग कर दें तो रस नष्ट हो जायगा। क्या इसे ही रस-त्याग कहेंगे? साधारणतः महावीर की परम्परा में चलनेवाले साधु तो यही करते हैं। वे वस्तु को छोड़ देते हैं और सोचते हैं कि रस से मुक्ति हो गई। लेकिन रस से मुक्ति नहीं हुई। वस्तु में अभी भी उतना ही रस है और जीभ में अभी भी उतनी ही संवेदनशीलता। महावीर ने रस को अप्रकट करने की सलाह नहीं दी है। रस-परित्याग करने को कहा है। अक्सर तो बात ऐसी होती है कि जो छिप जाता है, वह छिपकर और भी प्रबल तथा सशक्त हो जाता है।

मन को मार डालने से रस-त्याग नहीं हो सकता। हम सोचते हैं कि मन को दबा-दबाकर मार डालना सम्भव है। लेकिन मन का नियम यह है कि जिस बात को हम मन से नष्ट करना चाहते हैं, मन उसी बात में ज्यादा रसपूर्ण हो जाता है। अगर आपको कोई समझाए कि मर जाओ तो जीने का मन पैदा होता है। मन विपरीत में रस लेता है। इसलिए मन को मारने से रस-परित्याग नहीं हो सकता और न वस्तुओं को छोड़ने से ही यह सम्भव है। हम सभी तो मन से लड़ते हैं, लेकिन हमने कौन से रस का परित्याग किया है? मात्राओं के भेद भले हों, लेकिन हैं हम सभी मन से लड़नेवाले। लेकिन कभी इस लड़ाई से कोई फर्क नहीं पड़ता।

इसलिए महावीर मन से लड़ने को नहीं कहते। जो भी मन से लड़ने में लगेगा, वह रस को जगाने में लगेगा।

रस-परित्याग अथवा रस-विसर्जन का सूत्र है कि चेतना और मन का सम्बन्ध टूट जाय। यह सम्बन्ध कैसे टूटेगा? जब तक मैं यह सोचता हूँ कि मैं मन हूँ तब तक यह सम्बन्ध कायम रहेगा। इस सम्बन्ध के टूट जाने का अर्थ है यह जानना कि मैं मन नहीं हूँ। इससे रस छिन्न-भिन्न हो जाता है, खो जाता है। रस-परित्याग की प्रक्रिया है—मन के प्रति साक्षी-भाव। जब आप भोजन कर रहे हैं तब मैं यह नहीं कहूँगा कि आप भोजन न करें, यह रसपूर्ण है। मैं आपसे यह भी नहीं कहूँगा कि आप अपनीं जीभ को जला लें, क्योंकि जीभ रस देती है। मैं आपसे कहूँगा कि आप भोजन करें, जीभ को स्वाद लेने दें, मन को पूरा विश्वास होने दें कि यह बहुत

स्वादिष्ट है। सिर्फ भीतर इस सारी प्रक्रिया के साक्षी बनकर खड़े रहें। देखते रहें यह मानकर कि मैं सिर्फ देखनेवाला हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, साक्षी हूँ। इससे रस का आकर्षण खो जायगा पर इन्द्रियाँ वही रहेंगी, उन्हें नष्ट करना नहीं पड़ेगा। जब क्रोध आए तब कहिए कि क्रोध आया, मैं इसे देखता हूँ। जब क्रोध आए तब रस-परित्याग की साधना करनेवाला व्यक्ति कहेगा कि क्रोध आ रहा है, क्रोध जल रहा है लेकिन मैं देख रहा हूँ।

लेकिन साक्षी होना भी बाह्य तप है। अगर मैं साक्षी हो रहा हूँ तो भी बाहर का हो रहा हूँ, वस्तुओं, इन्द्रियों और मन का हो रहा हूँ। ये सब पराए हैं। ध्यान रहे, महावीर कहते हैं कि साक्षी होना भी बाहर है। इसलिए जब कोई केवली होता है तब वह साक्षी भी नहीं होता। किसका साक्षी होना है ! साक्षी में भी द्वैत है, कोई है जिसका मैं साक्षी हूँ। जब तक मैं ज्ञाता होता हूँ तब तक कोई ज्ञेय मौजूद होता है। इसलिए केवली ज्ञाता भी नहीं होता, वह ज्ञान-मात्र रह जाता है।

रस-परित्याग के बाद काया-क्लेश और संलीनता नामक बाह्य तपों का स्थान है।

महावीर के साधना-सूत्रों में काया-क्लेश को सबसे ज्यादा गलत समझा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि काया-क्लेश का साधक शरीर को नष्ट करता है, काया को क्लेश देता है, काया को सताता है। लेकिन महावीर किसी भी सतानेवाली बात में गवाह नहीं हो सकते, कारण कि सब तरह का सताना हिंसा है। अपने शरीर को सताना भी हिंसा है। फिर भी महावीर की परम्परा ने ऐसा ही समझा कि काया को सताओ और इस तरह आत्मपीड़कों का एक बड़ा दल उनकी धारा में सम्मिलित हो गया।

महावीर यह नहीं कहते कि तुम अपनी काया को सताओ। उसे सताने की जरूरत नहीं है। काया खुद ही इतना सताती है कि अब तुम उसे क्या सताओगे ? काया के अपने ही दुख पर्याप्त हैं, इसलिए और दुख इज़ाद करने की जरूरत नहीं। लेकिन काया के दुख पता न चलें, इसलिए हम सुख ईज़ाद करते हैं, सुखका आयोजन करते हैं। आज नहीं मिला, कल मिलेगा, परसों मिलेगा। इस तरह आज के दुख को भुलाने के लिए हम कल के दुख का निर्माण करते रहते हैं। आज पर परदा पड़ जाए, इसलिए कल की तस्वीर बनाते हैं। इसलिए कोई आदमी वर्तमान में जीना नहीं चाहता। महावीर जानते हैं कि जैसे ही साधना में प्रवेश होगा, कल टूटने लगेगा, आज में जीना होगा। और सारे दुख प्रगाढ़ होकर चुभेंगे, सब ओर बुढ़ापा और मौत दिखाई देगी। न नाव होगा, न सहारा और न किनारा। तब बड़ा क्लेश होगा। उस क्लेश को सहना और स्वीकार करना—जानना कि यह जीवन की नियति है, जानना कि यह प्रकृति का स्वभाव है। काया-क्लेश का अर्थ है कि जो आए, उसे स्वीकार करना। उससे बचने की कोशिश भविष्य के स्वप्न में ले जाती हैं। उसके विपरीत सुख बनाने

की चिन्ता में मत पड़ना। ध्यान रहे कि इस जगत् में जिसे मुक्त होना है, उसे दुख से ही मुक्त होना है। सुख है ही नहीं, उससे मुक्त क्या होइएगा ? वह भ्रम है। **दुख से मुक्त होना होता है और दुख से मुक्ति दुख की स्वीकृति में छिपी है,** उसके समग्र स्वीकार में निहित है। काया दुख है, इसके समग्र स्वीकार को ही काया-क्लेश कहते हैं। काया-क्लेश का अर्थ है कि स्वीकार कर लो दुख को। इतना स्वीकार कर लो कि तुम्हें क्लेश का बोध ही मिट जाए। क्लेश का बोध उसी दिन मिट जाएगा जिस दिन पूर्ण स्वीकृति होगी। इसलिए महावीर सब दुखों के बीच आनन्द से भरे घूमते रहते हैं। काया-क्लेश की स्वीकृति इतनी गहन हो गई है कि उन्हें दुख का कोई पता भी नहीं चलता। काया-क्लेश की साधना शुरू होती है दुख के स्वीकार से, पूर्ण होती है दुख के विसर्जन से। दुख वस्तुतः विसर्जित नहीं हो जाता। जब तक जीवन है तब तक तो वह रहेगा ही, लेकिन जिस दिन स्वीकार पूरा हो जाता है उस दिन आपके लिए दुख नहीं रह जाता।

दुख की स्वीकृति द्वारा दुख से मुक्ति का उपाय करना ही काया-क्लेश की साधना है। काया को कष्ट देने की कोशिश काया-क्लेश की साधना नहीं कही जा सकती, क्योंकि जो व्यक्ति काया को दुख देने में लगा है, वह किसी-न-किसी सुख की आकांक्षा से प्रोत्साहित होता रहता है। जब तक हम कोई सुख के लिए प्रयत्न करते हैं तब तक हम सुख की ही आकांक्षा से करते हैं। हम अपने शरीर को भी सता सकते हैं सिर्फ इस उम्मीद में कि हमें मोक्ष मिलेगा, आत्मा मिलेगी। किन्तु महावीर की दृष्टि में किसी सुख के लिए शरीर को दुख देना काया-क्लेश नहीं है।

बाह्य तप का अन्तिम सूत्र है संलीनता। संलीनता सेतु है बाह्य तप और अन्तर् तप के बीच, वह सीमान्त है। वहीं से बाह्य तप समाप्त होते हैं और अन्तर् तप का आरम्भ होता है। परम्परा के अनुसार अपने शरीर के अंगों को व्यर्थ संचालित न करना संलीनता है। लेकिन बात इतनी ही नहीं है, बल्कि यह तो कुछ भी नहीं है। संलीनता तब घटित होती है जब भीतर सब शान्त हो जाता है, जब भीतर से ऐसी कोई तरंग नहीं आती जो शरीर पर कम्पन बने।

संलीनता के अभ्यास में जिसको उतरना हो उसे पहले अपने शरीर की गति-विधियों का निरीक्षण करना होता है। संलीनता का पहला प्रयोग है सम्यक् निरीक्षण। जब आपका मन शान्त हो तब आईने के सामने खड़े हो जाइए। जब कोई शान्त-चित्त से अपने क्रोध का निरीक्षण करता है तो क्रोध विलीन हो जाता है, निरीक्षण से शान्ति और गहरी हो जाती है। क्रोध इसलिए विलीन हो जाता है कि क्रोध से आपका सम्बन्ध टूट जाता है। क्रोध से सम्बद्ध होने के लिए बेचैन होना जरूरी है, किन्तु अध्ययन के लिए शान्त होना आवश्यक है। महावीर ने तल्लीनता का उपयोग नहीं किया है। तल्लीनता सदा दूसरे में लीन होने का नाम है और

संलीनता अपने में लीन होने का पर्याय। महावीर कहते हैं : संलीन हो जाना, अपने में लीन हो जाना ताकि दूसरा बचे ही नहीं। उनका एक बहुत प्यारा शब्द है आत्म-रमण—अर्थात् अपने में ही रमना। महावीर के चित्र को देखें। ऐसा प्रतीत होगा कि वे एक ऐसे फूल हैं जिसकी पंखुड़ियाँ बन्द हो गई हैं। महावीर अपने भीतर हैं, जैसे फूल के भीतर कोई भँवरा बन्द हो गया हो। उनकी सारी चेतना संलीन हो गई है अपने में।

द्वादश अध्याय

अंतर्-तप

संरंभसमारंभे, आरंभे तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥[1]

—उत्त० अ० २४, गा० २५

तप के छः बाह्य अंगों की चर्चा हो चुकी। अब आइए, हम छह अंतर् तपों की चर्चा करें। ये छः अन्तर् तप हैं: (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) कायोत्सर्ग।

(१) **प्रायश्चित्त**, शब्दकोशों के अनुसार, पश्चात्ताप का पर्याय है। असल में प्रायश्चित्त का अर्थ यह नहीं है। पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त में उतना ही अन्तर है जितना जमीन और आसमान में। पश्चात्ताप का अर्थ है—जो आपने किया उसके लिए पछतावा। आपसे एक छोटी-सी भूल हो गई थी, उसे आपने पश्चात्ताप करके पोंछ दिया। आप हैं बहुत अच्छे आदमी। गाली आप दे नहीं सकते। किसी परिस्थिति में गाली निकल गई होगी, इसलिए आप पछता लेते हैं और फिर से अच्छे आदमी बन जाते हैं। पश्चात्ताप आपको बदलता नहीं; जो आप थे, आप वही रह जाते हैं। इसलिए पश्चात्ताप आपके अहंकार को बचाने की प्रक्रिया है। आप रोज पश्चात्ताप करेंगे और आप रोज पाएँगे कि आप वही कर रहे हैं जिसके लिए आपने कल पश्चात्ताप किया था। पश्चात्ताप आपकी अन्तरात्मा में कोई परिवर्तन नहीं लाता।

जब महावीर के पास कोई साधक आता तो वे उसे पिछले जन्मों के स्मरण में ले जाते, सिर्फ इसलिए कि उसे इस बात का पता चल जाए कि उसने कितनी बार एक ही भूल की है और उसके लिए पश्चात्ताप किया है। **पश्चात्ताप कर्म के गलत होने के बोध से सम्बन्धित है; प्रायश्चित्त इस बोध से सम्बन्धित है कि मैं गलत हूँ।** पश्चात्ताप करनेवाला वही का वही बना रहता है; प्रायश्चित्त करनेवाले को अपनी जीवन-चेतना रूपान्तरित कर देनी होती है। पश्चात्ताप तो जीवन का सहज क्रम है। हर आदमी पश्चात्ताप करता है, इसलिए पश्चात्ताप को साधना बनाने की क्या जरूरत है? वस्तुतः यह साधना नहीं, केवल मन का नियम है।

---

१. संयमी पुरुष संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होती काया को सावधानी से नियंत्रण करे।

प्रायश्चित्त बहुत अद्भुत घटना है। पश्चात्ताप देख लेता है कि कर्म की कोई भूल है; प्रायश्चित्त देखता है कि मैं गलत हूँ, कर्म नहीं, क्योंकि कर्म क्या गलत होगा ? गलत आदमी से गलत कर्म निकलते हैं—कर्म कभी गलत नहीं होते। इसलिए पश्चात्ताप से सजग हों। पश्चात्ताप आपको बदलेगा नहीं, बदलने का धोखा देगा। प्रायश्चित्त को महावीर ने अन्तर तप का पहला हिस्सा इसी कारण बताया कि वही व्यक्ति अन्तर्यात्रा पर निकल सकता है जो कर्म की गलती छोड़कर स्वयं की गलती देखना शुरू करे। देखिए, तीन तरह के लोग होते हैं। एक वे लोग हैं जो दूसरों की गलती देखते हैं; दूसरे वे हैं जो कर्म की गलती देखते हैं और तीसरे वे हैं जो स्वयं की गलती पर ही ध्यान देते हैं। जो दूसरों की गलती देखते हैं, वे तो पश्चात्ताप भी नहीं करते। जो कर्म की गलती देखते हैं, वे पश्चात्ताप करते हैं और जो स्वयं की गलती देखते हैं, वे प्रायश्चित्त में उतरते हैं। अन्तर्यात्रा के पथिक को यह समझ लेना होगा कि दूसरा कभी भी गलत नहीं होता। वह गलत होता है तो स्वयं के लिए। आप गलत होते हैं स्वयं के लिए। दूसरों के लिए आप गलत नहीं हो सकते। दूसरा गलत नहीं है, इस स्मरण से ही अन्तर्यात्रा शुरू होती है। दूसरा गलत है, यह दृष्टि ही गलत है। प्रायश्चित्त तब शुरू होता है जब मैं मानता हूँ कि मैं गलत हूँ। सच तो यह है कि जब तक मैं हूँ तब तक गलत होऊँगा ही। मेरा होना ही मेरी गलती है। जब तक मैं 'नहीं' न हो जाऊँ, तब तक प्रायश्चित्त फलित नहीं होगा। और जिस दिन मैं नहीं हो जाता हूँ—शून्यवत् हो जाता हूँ—उसी दिन मेरी चेतना रूपान्तरित हो जाती है और नए लोक में प्रवेश करती है।

प्रायश्चित्त जाग्रत चेतना का लक्षण है, पश्चात्ताप सोई हुई चेतना का लक्षण। प्रायश्चित्त में वही उतर सकता है जो अपने को झकझोर कर पूछ सके कि इस जिन्दगी का मतलब क्या है ? यह सुबह से शाम तक का चक्कर, क्रोध और क्षमा का चक्कर, प्रेम और घृणा का चक्कर—यह सब क्या है ? धन, यश, अहंकार, पद, मर्यादा—यह सब क्या है ? मैं कहता हूँ कि प्रायश्चित्त जागरण का संकल्प है; पश्चात्ताप नींद में की गई गलतियों की क्षमा-याचना है। प्रायश्चित्त सोये व्यक्तित्व को जगाने का निर्णय है, इस बात का बोध है कि मैंने आज तक जो भी किया, वह गलत था, क्योंकि मैं गलत हूँ। अब मैं अपने को बदलता हूँ, कर्मों को नहीं। तथ्य की स्वीकृति प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त में स्वीकार है, पूर्ण स्वीकार है। कहीं कोई चुनाव नहीं। मैं चोर हूँ तो चोर हूँ, बेईमान हूँ तो बेईमान हूँ। इसलिए जहाँ पश्चात्ताप दूसरों के सामने प्रकट करना पड़ता है, वहाँ प्रायश्चित्त स्वयं के समक्ष। और ध्यान रहे कि महावीर प्रायश्चित्त को इतना मूल्य दे पाए क्योंकि उन्होंने परमात्मा को कोई जगह नहीं दी, नहीं तो पश्चात्ताप ही रह जाता। तुम ही हो, और कोई नहीं। कोई आकाश में सुननेवाला नहीं, जिससे तुम कहो कि मेरे पाप क्षमा कर देना।

कोई क्षमा करेगा नहीं, कोई है ही नहीं। इसलिए चिल्लाना मत। इस घोषणा से कुछ भी न होगा। दया की भिक्षा मत माँगना, क्योंकि कोई दया नहीं हो सकती। कोई दया करनेवाला नहीं हैं इसलिए प्रायश्चित्त दूसरे के समक्ष नहीं, अपने ही समक्ष होता है।

महावीर पहले आदमी हैं इस पृथ्वी पर जिन्होंने कहा कि स्वर्ग और नर्क मनो-दशाएँ हैं, माइंड की स्टेट्स हैं, चित्त-दशाएँ हैं। मोक्ष कोई स्थान नहीं है। इसलिए महावीर ने कहा है कि मोक्ष स्थान के बाहर है, वह सिर्फ एक अवस्था है। जहाँ हम खड़े हैं वहीं नर्क है। इस नर्क की प्रतीति जितनी स्पष्ट हो जाए, उतने ही आप प्रायश्चित्त में उतरेंगे। अगर आप प्रायश्चित्त नहीं कर सकते तो अन्तर तप में आपका प्रवेश नहीं हो सकता। यह निश्चित जानिए क्योंकि प्रायश्चित्त ही इस तप का द्वार है।

(२) **विनय** के पैदा होने की सम्भावना प्रायश्चित्त के बाद ही है, क्योंकि जब तक मन दूसरे के दोष देखता रहता है, तब तक विनय पैदा नहीं हो सकती। विनय तो तभी पैदा हो सकती है जब अहंकार दूसरों के दोष देखकर अपने को भरना बन्द कर दे। अहंकार का भोजन है दूसरों के दोष देखना। असल में दूसरों का दोष हम देखते ही इसलिए हैं कि दूसरों का दोष जितना ही दिखाई पड़ता है हम उतने ही निर्दोष मालूम पड़ते हैं। दूसरे की निन्दा में रस मालूम होता है। स्तुति में पीड़ा मालूम होती है। इसलिए अगर मजबूर होकर आपको किसी की स्तुति करनी पड़ती है तो आप बहुत शीघ्र कहीं जाकर उसकी निन्दा करके बैंक बैलेन्स बराबर कर लेते हैं। जब तक सन्तुलन न आ जाए तब तक आपके मन को चैन नहीं पड़ता। जब कोई किसी की हत्या भी कर देता है तब भी यह नहीं मानता कि मैं अपराधी हूँ। वह मानता है कि उस आदमी ने ऐसा काम ही किया था कि हत्या करनी पड़ी, दोषी वही है, मैं नहीं। मूल शब्द ही दूसरे की तरफ तीर बनकर चलता है। वह कभी अपनी होती ही नहीं। जब अपनी नहीं होती तो विनय का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए महावीर ने प्रायश्चित्त को पहला अन्तर तप कहा और इस बात पर बल दिया कि पहले यह जान लेना जरूरी है कि न केवल मेरे कृत्य गलत हैं, बल्कि मैं भी—मैं ही—गलत हूँ। इससे तीर सब बदल गए, रुख सब बदल गए। वे दूसरे की तरफ न जाकर अपनी तरफ मुड़ गए। ऐसी स्थिति में विनय को साधा जा सकता है।

महावीर ने विनय की जगह 'निर-अहंकारिता' नहीं कही। कहा विनय, क्योंकि निरंहकार नकारात्मक है और उसमें अहंकार की स्वीकृति है, अहंकार को इनकार करने के लिए ही उसका स्वीकार है। विनय है 'पाजिटिव'। महावीर विधायक पर जोर दे रहे हैं कि आपके भीतर वह अवस्था जनमे जिसमें दूसरा दोषी न जान पड़े।

और जिस क्षण मुझे अपने दोष दिखाई पड़ने शुरू हो जाते हैं, उसी क्षण विनय बहुत-बहुत रूपों में बरसने लगती है। जो व्यक्ति अपने दोष नहीं देखता, वह दूसरों के दोष बहुत कठोरता से देखता है। जिस व्यक्ति को अपने दोष दिखाई पड़ने शुरू होते हैं, वह दूसरों के दोषों के प्रति बहुत सहृदय हो जाता है, क्योंकि वह जानता है कि मेरे भीतर भी यही है। सच तो यह है कि जिस आदमी ने चोरी न की हो, उस आदमी को चोरी के सम्बन्ध में निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। पापी दूसरे पापियों के प्रति सहृदय होता है। यही कारण है कि किसी पापी ने दूसरे पापी के लिए नर्क का आयोजन नहीं किया, पुण्यात्माओं ने किया है! इस बात की पूरी सम्भावना है कि पुण्यात्माओं के पुण्य करने में केवल इतना ही रस हो कि वे पापियों को नीचा दिखा सकें। अहंकार ऐसे रस लेता ही है।

जैन-शास्त्रों में विनय की जो परिभाषा मिलती है वह और है। उनका कहना है कि जो अपने से श्रेष्ठ हैं उनका आदर विनय है। गुरुजनों का आदर, माता-पिता का आदर, साधुओं का आदर, लोकमान्य पुरुषों और महाजनों का आदर—यह सब विनय है। विनय की ऐसी परिभाषा नितान्त गलत है, जड़ से ही गलत है। यह इसलिए गलत है कि जो व्यक्ति दूसरे को श्रेष्ठ देखेगा, वह किसी को अपने से निकृष्ट देखता ही रहेगा। यह असम्भव है कि कोई व्यक्ति आपको श्रेष्ठ दिखाई पड़े और कोई व्यक्ति ऐसा न मालूम पड़े जो आपसे निकृष्ट हो। निकृष्ट जनों को अनादर देना ही पड़ेगा।

दूसरी बात यह भी ध्यान रखने की है कि अगर आप श्रेष्ठ व्यक्ति को ही आदर देते हैं तो आपके आदर देने में कोई गुण रहा कहाँ? श्रेष्ठ व्यक्ति को आदर देने में आपका क्या रूपान्तरण हो रहा है? श्रेष्ठ व्यक्ति को आदर देना तो मजबूरी है, आपका गुण नहीं। जिस दिन मुझे सबकी तरफ विनय मालूम होने लगे, उस दिन वह विनय मेरा गुण बन जाता है। जब तक मैं तौल-तौलकर आदर देता हूँ तब तक वह मेरा गुण नहीं। श्रेष्ठ को आदर देने के लिए आपको कोई प्रयास, कोई श्रम, कोई परिवर्तन नहीं करना पड़ता। इसलिए वह आपका तप कैसे हुआ? महावीर कहते हैं कि बिना किसी भेद-भाव के आदर का भाव जगे तो विनय पैदा होती है। श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का कोई सवाल ही नहीं है—जीवन के प्रति आदर, अस्तित्व के प्रति आदर, जो है उसके प्रति आदर, यही विनय है।

तीसरी बात—यह न भूलें कि श्रेष्ठता तय करने की कसौटी क्या होगी? कैसे तौलिएगा कि कौन श्रेष्ठ है और कौन अश्रेष्ठ? अनेक लोग महावीर के पास भी जाकर लौट जाते हैं और कह जाते हैं कि ये गुरु नहीं हैं। अनेक लोग क्राइस्ट को सूली पर लटका देते हैं यह मानकर कि यह आवारा और लफंगा है। और ध्यान रहे कि जिन लोगों ने क्राइस्ट को सूली दी थी, वे उस समय के भले और श्रेष्ठजन थे,

अच्छे लोग थे, न्यायाधीश थे, धर्मगुरु और राजनेता थे। सुकरात को जहर देनेवाले भी भले लोग थे! इसलिए मैं पूछता हूँ—कौन है श्रेष्ठ? समाज उसे श्रेष्ठ कहता है जो समाज के नियम मानता है। लेकिन इस जगत् में हम जिन्हें श्रेष्ठ कहते हैं वे वही लोग हैं जिन्होंने कभी समाज के नियम तोड़े थे। बुद्ध, महावीर, कबीर आदि आज श्रेष्ठ हैं। लेकिन अपने समाज में वे श्रेष्ठ नहीं थे। वे बगावती थे, वे दुश्मन थे समाज के।

यही कारण है कि मरे हुए तीर्थंकर ही आदृत होते हैं, जीवित तीर्थंकरों का आदृत होना बहुत मुश्किल है। जीवित तीर्थंकर तो बगावती होते हैं। फिर कौन है श्रेष्ठ? कैसे तौलिएगा? इसलिए हमने तौलने का एक रास्ता निकाला है। हमें तौलना नहीं पड़ता। हम जन्म से तौल लेते हैं। अगर मैं जैन धर्म में पैदा हुआ तो महावीर श्रेष्ठ हुए, अगर इस्लाम धर्म में पैदा हुआ तो मुहम्मद श्रेष्ठ हुए। यह तौलने से बचने की तरकीब है।

महावीर कहते हैं कि विनय एक आन्तरिक गुण है। वह बेशर्त है। वह यह नहीं कहता कि तुम ऐसा बनोगे तो मैं आदर दूँगा। वह कहता है कि तुम हो, यही पर्याप्त है। तुम शराब पीते हो या नहीं पीते, यह सवाल नहीं है। तुम जीवन हो, यही काफी है। और तुम्हें यह पूराअस्तित्व जिला रहा है। सूरज तुम्हें रोशनी दे रहा है। वह इनकार नहीं करता यद्यपि तुम शराब पीते हो। हवाएँ ऑक्सीजन देने से मुकरती नहीं, कि तुम बेईमान हो। आकाश कहता नहीं कि हम तुमको जगह न देंगे क्योंकि तुम अच्छे आदमी नहीं हो। जब तुम्हें यह पूरा अस्तित्व स्वीकार करता है तब मैं कौन हूँ जो तुम्हें अस्वीकार करूँ? तुम हो, इतना ही काफी है। मैं तुम्हें आदर देता हूँ, सम्मान देता हूँ। जीवन के प्रति इस सहज सम्मान का नाम विनय है—सहज, अकारण, बेशर्त सम्मान का नाम। जो खोजबीन करता है, श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ के चुनाव करता है, वह कभी विनीत नहीं हो सकता। अगर मैं कहूँकि तुम मेरी शर्तें पूरी करो ताकि मैं तुम्हें आदर दे सकूँ, तो यह आदर देना नहीं हुआ। ऐसा कहकर मैं अपनी शर्तों को आदर दे रहा हूँ।

इस विनय के सन्दर्भ में कर्म की एक बात आपको याद दिला देनी जरूरी है। वह यह है कि जब भी कोई कुछ करता है तो वह अपने कर्मों के कारण करता है, आपके कारण नहीं, और जो आप करते हैं, वह अपने कर्मों के कारण करते हैं, उसके कारण नहीं। अगर यह खयाल में आ जाए तो विनय सहज ही उतर आएगी। जब आप क्रोध करते हैं तब असल में आप दूसरे पर क्रोध नहीं करते। दूसरा सिर्फ निमित्त होता है। आप क्रोध को संगृहीत किए होते हैं अपने ही कर्मों से, अपनी ही कलह की यात्रा से। क्रोध आपके भीतर भरा होता है, जैसे कुएँ में पानी भरा होता है। जैसे कोई बाल्टी डालकर उसे खींच लेता है, वैसे ही कोई गाली डालकर

आपके क्रोध को बाहर निकाल लेता है, बस! वह निमित्त बनता है । तो निमित्त पर इतना क्रोध क्यों ? बाल्टी को भला गाली देंगे कि उसमें पानी है ? पानी तो कुएँ से ही आता है, बाल्टी तो पानी को लेकर सिर्फ बाहर दिखा देती है। इसलिए विनयपूर्ण आदमी उसे धन्यवाद देगा जिसने गाली दी, क्योंकि अगर वह गाली न देता तो वह आदमी अपने भीतर के क्रोध के दर्शन न करता। गाली देनेवाला बाल्टी बन गया। उसने क्रोध को बाहर निकालकर उसके दर्शन करा दिए । इसीलिए कबीर ने कहा है—'निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।'

महावीर कहते हैं कि दूसरा अपने कर्मों की शृंखला में नया कर्म करता है, तुमसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं । इतना ही सम्बन्ध है कि तुम मौके पर उपस्थित थे और उसके भीतर विस्फोट के लिए निमित्त बने । इस बात को दूसरी तरह भी सोच लेना है कि तुम जब किसी के लिए विस्फोट करते हो तब वह भी निमित्त ही है । तुम भी अपनी शृंखला में जीते और चलते हो । यह न भूलो कि विनय बड़ी वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में दोष दूसरे में नहीं होता । दूसरा मेरे दुख का कारण नहीं है। दूसरा श्रेष्ठ अथवा अश्रेष्ठ नहीं है। दूसरे से मैं कोई तुलना नहीं करता । दूसरे पर मैं कोई शर्त नहीं बाँधता । मैं जीवन को बेशर्त सम्मान देता हूँ । प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म से चल रहा है। अगर मुझसे कोई भूल होती है तो मैं उसे अपने भीतर अपने कर्मों की शृंखला में खोजूं। अगर दूसरे से कोई भूल होती है तो यह उसका काम है, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। वही इसका फल पाएगा । यदि नहीं पाता तो यह भी उसकी ही बात है । यह मेरा काम नहीं है । महावीर इतना जरूर कहते हैं कि अगर कोई मेरी छाती में छुरा भोंकता है, तो इससे मेरा इतना सम्बन्ध हो सकता है कि अपनी पिछली यात्रा में मैंने यह तैयारी करवाई हो कि मेरी छाती में कोई छुरा भोंके । छुरे का मेरी छाती में जाना मेरे पिछले कर्मों की कुछ तैयारी होगी । बस, उससे मेरा इतना ही सम्बन्ध है। लेकिन उस आदमी के मेरी छाती में छुरा भोंकने से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं । इससे उसकी अपनी अन्तर्यात्रा का सम्बन्ध है । हम सबके सब समानान्तर दौड़ रहे हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर से जी रहा है। इसलिए जब-जब हम अपने से दूसरे की धारा को जोड़ लेते हैं तब-तब कष्ट शुरू होता है और अविनय आकार ले लेती है ।

विनय केवल इस बात की सूचना है कि अब मैं अपने से किसी को जोड़ता नहीं । इसलिए महावीर ने विनय को अन्तर तप कहा है । स्वयं को दूसरे से तोड़ लेना ही विनय है । मैं ही अपना नर्क हूँ, मैं ही अपना स्वर्ग और मैं ही अपनी मुक्ति हूँ । मेरे अतिरिक्त कोई निर्णायक नहीं है मेरे लिए । ऐसे भाव के जगते ही एक विनम्रता का भाव पैदा होता है । महावीर यह भी नहीं कहते कि गुरुजनों को, अपने बड़ों को, माता-पिता को आदर न दो । मैं भी नहीं कहता कि उन्हें आदर न दो।

बराबर दो। यही समाज का खेल है। साधुओं को आदर दो। खेल जारी रखो। उससे कुछ नुकसान नहीं हो रहा है किसी का। लेकिन उसे विनय न समझ लो।

(३) **वैयावृत्य** का अर्थ होता है—सेवा। शायद पृथ्वी पर अकेले ईसाइयत ने धर्म में सेवा को प्रार्थना और साधना के रूप में विकसित किया। लेकिन वैयावृत्य का अर्थ वह नहीं है जो ईसाइयों की 'सेवा' का है। महावीर के अनुयायी भी समझते रहे हैं कि वैयावृत्य का अर्थ है वृद्ध या रुग्ण साधुओं की सेवा। ऐसा अर्थ लगाने का एक कारण है। साधु असाधु की सेवा करने की बात सोच ही नहीं सकता। जो साधु नहीं हैं, वे ही साधु की सेवा करने आते हैं। ईसाइयत द्वारा दिया गया अर्थ भी ठीक नहीं है। भारत ने विवेकानन्द से लेकर गाँधी तक जो भी सेवा-कार्य किया है, वह ईसाइयत की सेवा है।

पंडित बेचरदास दोशी ने महावीर-वाणी में पारिभाषिक शब्दों के जो अर्थ दिए हैं उनमें वैयावृत्य का वही अर्थ बताया है जो ईसाइयत का है। उन्होंने कहा है कि वैयावृत्य का अर्थ है बाल, वृद्ध, रोगी आदि अपने समान धर्मियों की सेवा। ईसाई भी सेवा का यही अर्थ बताते हैं। असल में ईसाइयत अकेला धर्म है जिसने सेवा को केन्द्रीय स्थान दिया है। विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन को जो गति दी, वह ठीक ईसाई मिशनरी की नकल थी। वस्तुतः विवेकानन्द से लेकर गाँधी या विनोबा तक जिन लोगों ने भारत में सेवा का विचार किया है, वे सब ईसाइयत से प्रभावित हैं। ईसाइयत की सेवा की जो धारणा है वह भविष्योन्मुख है, 'फ्यूचर ओरिएण्टेड' है। ईसाइयत मानती है कि सेवा के द्वारा ही परमात्मा को पाया जा सकता है, सेवा के द्वारा ही मुक्ति होती है। सेवा एक साधन है, साध्य मुक्ति है। ऐसी सेवा में प्रयोजन छिपा है। वह कुछ पाने के लिए है। वह पाना बुरा भी हो सकता है, अच्छा भी हो सकता है; नैतिक हो सकता है, अनैतिक हो सकता है। किन्तु एक बात निश्चित है कि ऐसी सेवा की धारणा वासना-प्रेरित है। इसलिए ईसाई प्रचारक एक पैशन, एक तीव्र वासना से भरा हुआ होता है। उसने सारी वासना को सेवा बना दिया है और यही कारण है कि उसके सामने दुनिया के अन्य धर्मों के प्रचारक टिक नहीं सकते।

भारतीय धर्म ईसाइयत की नकल भले ही करें, परन्तु वे ईसाइयत की धारणा को नहीं पकड़ सकते। इसका कारण यह है कि भारतीय मन का खयाल है कि जिस सेवा में प्रयोजन है वह सेवा ही नहीं रही। महावीर भी यही कहते हैं। सेवा होनी चाहिये निष्प्रयोजन। उनके अनुसार सेवा अतीतोन्मुख हो, 'पास्ट ओरिएण्टेड' हो, भविष्य के लिए न हो। महावीर कहते हैं कि अतीत में हमने जो कर्म किए हैं, उनके विसर्जन के लिए सेवा है। इसका और कोई प्रयोजन नहीं है आगे। इससे कुछ मिलेगा नहीं, बल्कि जो कुछ गलत इकट्ठा हो गया है, उसकी निर्जरा होगी, उसका विसर्जन होगा।

यह दृष्टि बहुत उलटी है। महावीर कहते हैं कि अगर सेवा करने में थोड़ी-सी भी वासना है, इतना भी मजा आ रहा है कि मैं कोई विशेष कार्य कर रहा हूँ, तो फिर मैं नए कर्मों का संग्रह करता हूँ। फिर सेवा भी पाप बन जाएगी, क्योंकि वह भी कर्म-बन्धन लाएगी।

महावीर की दृष्टि में अगर पुण्य भी भविष्योन्मुख है तो वह पाप बन जाता है। यह बड़ा मुश्किल होगा समझना। पुण्य भविष्योन्मुख होने से पाप बन जाता है, क्योंकि वह भी बन्धन बन जाता है। महावीर कहते हैं कि पुण्य भी पिछले किए गए पापों का विसर्जन है। यदि मैंने आपको एक चाँटा मार दिया है तो मुझे आपके पैर दबा देने पड़ेंगे। इससे वह जो जागतिक गणित है, उसमें सन्तुलन हो जाएगा। ऐसा नहीं कि पैर दबाने से मुझे कुछ नया मिलेगा, बल्कि सिर्फ पुराना कट जाएगा। और जब मेरे सब पुराने कर्म कट जाएँगे तब मैं शून्यवत हो जाऊँगा—मेरे खाते में दोनों तरफ आँकड़े बराबर हो जाएँगे। महावीर कहते हैं कि यही शून्यावस्था मुक्ति कहलाती है। मोक्ष तो तब तक नहीं हो सकता जब तक धन या ऋण कोई भी ज्यादा है। मुक्ति का अर्थ ही यही है कि अब मुझे न कुछ लेना है और न कुछ देना। इसको महावीर ने निर्जरा कहा है।

निर्जरा के सूत्रों में वैयावृत्य बहुत कीमती है। महावीर नहीं कहते हैं कि दया करके सेवा करो, क्योंकि दया ही बन्धन बनेगा। कुछ भी किया हुआ बन्धन बनता है। महावीर कहते हैं कि खुला रखो अपने को, कहीं कोई सेवा का अवसर हो और सेवा की भावना भीतर उठती हो तो रोको मत, सेवा हो जाने दो और चुपचाप विदा हो जाओ। पता भी न चले किसी को कि तुमने सेवा की। तुमको भी पता न चले कि तुमने सेवा की। यह वैयावृत्य है। वैयावृत्य का अर्थ है—उत्तम सेवा, साधारण सेवा नहीं। अगर किसी की सेवा करने में रस लिया तो फिर सम्बन्ध निर्मित होंगे और यह भी समझ लेना चाहिए कि रस लेकर सेवा करना एक तरह का शोषण है महावीर की दृष्टि में। अगर कोई दुखी है, पीड़ित है और मैं उसकी सेवा करके स्वर्ग जाने की चेष्टा कर रहा हूँ तो मैं उसके दुख का शोषण कर रहा हूँ, मैं उसके दुख को स्वर्गजाने का साधना बना रहा हूँ। अगर वह दुखी न होता तो मैं स्वर्ग न जाता। जब धनपति धन चूसता है तब आप उससे कहते हैं कि वह दूसरों के दुख पर सुख इकट्ठा कर रहा है। लेकिन जब एक पुण्यात्मा दीन-दुखियों की सेवा करके अपना स्वर्ग खोज रहा है तब आपको खयाल नहीं आता कि वह भी किसी गहरे अर्थ में शोषण कर रहा है।

महावीर कहते हैं कि सेवा से मिलेगा कुछ भी नहीं, केवल कुछ कटेगा, कुछ छुटेगा, कुछ हटेगा। महावीर की दृष्टि में सेवा मेडिशनल है, दवाई की तरह है। दवा से कुछ मिलेगा नहीं, सिर्फ बीमारी कटेगी। ईसाइयत की सेवा टॉनिक की तरह है,

उससे कुछ मिलेगा। उसका भविष्य है। महावीर की सेवा मेडिसिन की तरह है। उससे बीमारी कटेगी, कुछ मिलेगा नहीं। वे कहते हैं कि अगर कोई सेवा करता है तो वह इसलिए करता है कि उसके किसी पाप का प्रक्षालन होना है। अगर नहीं है पाप का प्रक्षालन, तो बात समाप्त हो गई––तो कोई मेरी सेवा नहीं कर रहा है। इसलिए आप जब भी सेवा कर रहे हों तब ध्यान रखें कि वह भविष्योन्मुख न हो। तभी आप अन्तर्‌तप कर सकते हैं। जब आप सेवा कर रहे हों तो वह निष्प्रयोजन हो, अन्यथा आपकी सेवा अन्तर्‌तप न होगी। वैयावृत्य अन्तर्‌तप इसी कारण है कि इसका करना कठिन है। वह सेवा सरल है जिसमें कोई रस आ रहा हो। वह सेवा वैयावृत्य नहीं है जिससे सेवा करनेवाले के मन में किसी तरह के गौरव की भावना का उन्मीलन हो।

(४) महावीर ने वैयावृत्य के बाद ही जो तप कहा है वह है **स्वाध्याय**। वैयावृत्य के सम्यक् प्रयोग के बाद स्वाध्याय में––इस चौथे तप में––उतरना अत्यन्त सरल है। लेकिन स्वाध्याय का अर्थ शास्त्रों का अध्ययन या पठन-मनन नहीं है। महावीर इसकी जगह 'अध्ययन' शब्द का प्रयोग कर सकते थे, लेकिनउन्हों ने स्वाध्याय का ही प्रयोग किया। अध्ययन में 'स्व' जोड़ने की क्या आवश्यकता थी? अध्ययन काफी था। वस्तुतः स्वाध्याय का अर्थ होता है स्वयं का अध्ययन, शास्त्रों का अध्ययन नहीं। लेकिन साधु शास्त्र खोले बैठे हैं। उनसे पूछिए : सुबह से क्या कर रहे हैं? वे कहेंगे, स्वाध्याय कर रहा हूँ। शास्त्र, निश्चित ही, किसी और का होगा। 'स्व' का शास्त्र नहीं बन सकता और अगर खुद के ही शास्त्र पढ़ रहे हैं तो बिलकुल बेकार पढ़ रहे हैं।

स्वाध्याय का अर्थ है––स्वयं का अध्ययन। यह बड़ा कठिन है (इसीलिए इसे अन्तर्‌तप कहा है), जब कि शास्त्र पढ़ना बड़ा सरल है। आप बहुत जटिल हैं, उलझनों से भरे हैं, ग्रन्थियों के जाल हैं, एक पूरी दुनिया हैं। हजार तरह के उपद्रव हैं वहाँ। उन सबके अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। अगर आप अपने क्रोध का अध्ययन कर रहे हैं, तो भी स्वाध्याय कर रहे हैं। लेकिन अगर आप क्रोध के सम्बन्ध में शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं तो यह स्वाध्याय नहीं है। जो भी किसी शास्त्र में लिखा है, वह सब आपके भीतर मौजूद है। इस जगत् में जितना भी जाना गया है, वह प्रत्येक आदमी के भीतर वर्तमान है। आदमी स्वयं एक शास्त्र है, परम शास्त्र, अल्टीमेट स्क्रिप्चर। इस बात को समझें तो महावीर का स्वाध्याय समझ में आ जाएगा।

मनुष्य परम शास्त्र है, क्योंकि जो भी जाना गया है, वह मनुष्य ने ही जाना है और जो भी जाना जायगा, वह मनुष्य ही जानेगा। इसलिए महावीर ने कहा है कि एक को––स्वयं को––जान लेने से सबको जान लिया जाता है। स्वाध्याय का अर्थ

है—स्वयं में उतरो और स्वयं का अध्ययन करो। पूरा जगत्—आत्मा का जगत्—पूरा भीतर है। उसे जानने चलो। लेकिन इसके लिए रुख बदलना पड़ेगा। वस्तु के अध्ययन को छोड़ो, अध्ययन करनेवाले का अध्ययन करो। शास्त्र से जो मिलता है, वह सत्य नहीं हो सकता। स्वयं से जो मिलता है, वही सत्य होता है। वह स्वयं से मिला सत्य शास्त्र में लिखा जाता है, लेकिन शास्त्र से जो मिलता है, वह स्वयं का नहीं होता। शास्त्र कोई और लिखता है। वह किसी और की खबर है जो आकाश में उड़ा है, जिसने प्रकाश के दर्शन किए हैं, जिसने सागर में डुबकी लगाई है।

इसका मतलब यह नहीं कि महावीर शास्त्रों के अध्ययन को इनकार करते हैं। वे केवल इतना ही कहते हैं कि ऐसा अध्ययन स्वाध्याय नहीं है। यदि यह बात खयाल में रखी जाय तो शास्त्राध्ययन भी उपयोगी हो सकता है। हाँ, उपयोगी हो सकता है अगर यह खयाल में रहे कि शास्त्र का सागर सागर नहीं है, उसका प्रकाश प्रकाश नहीं है। यह भी स्मरण रहे कि शब्दों में कहते ही सत्य खो जाता है, केवल छाया रह जाती है। यह सब स्मरण रहे तो शास्त्र को फेंककर किसी दिन सागर में छलाँग लगाने का मन हो जाएगा। इसलिए कई बार अज्ञानी कूद जाते हैं परमात्मा में और ज्ञानी वंचित रह जाते हैं।

जब हम अपने को भूलते हैं तभी स्वाध्याय बन्द होता है। इसका आरम्भ तब होता है जब हम अपने को स्मरण करते हैं। महावीर कहते हैं कि जब तुम मौजूद होते हो तो वह जो गलत है, कभी नहीं घटता। स्वाध्याय में गलत कभी घटता ही नहीं। अगर शराब पीते वक्त भी तुम मौजूद रहो तो हाथ से गिलास छुटकर गिर जाएगा, तब शराब पीना असम्भव हो जाएगा, कारण कि जहर सिर्फ बेहोशी में ही पिया जा सकता है। जब मैं आपसे कहता हूँ कि क्रोध करते वक्त मौजूद रहें तो मै यह नहीं कहता कि आप क्रोध करें और मौजूद रहें; बस, शर्त इतनी है कि मौजूद रहें और क्रोध करें, फिर कोई हर्ज नहीं! मैं आपसे यह कह रहा हूँ कि आप क्रोध करते वक्त अगर मौजूद रहें तो इन दो में से एक ही हो सकता है—चाहे तो क्रोध होगा या फिर आप होंगे। जब क्रोध करते वक्त आप मौजूद होंगे तो क्रोध खो जाएगा, आप होंगे, क्योंकि आपकी मौजूदगी में क्रोध-जैसी रद्दी चीजें नहीं आ सकतीं। जब घर का मालिक जगा हो तो चोर प्रवेश नहीं करते। जब आप जगे हों तब क्रोध घुस जाए, यह हिम्मत भला क्रोध कैसे कर सकता है!

महावीर कहते हैं कि रोशनी कर लो और निकल जाओ, क्योंकि अँधेरे में मोक्ष भी खोजोगे तो टकराओगे। परमात्मा को भी खोजोगे तो टकराओगे। अँधेरे में कुछ भी करोगे, टकराओगे। हमारा सारा ध्यान बाहर की तरफ है, इसलिए भीतर अँधेरा है। ध्यान वस्तुओं की तरफ है। स्वाध्याय करनेवाला इस रोशनी को भीतर की तरफ मोड़ता और भीतर की तरफ देखना शुरू करता है। जब उसे कोई गाली

देता है तब वह गाली पर ध्यान नहीं देता, वह अपने क्रोध पर ध्यान देता है। जब कोई सुन्दर स्त्री रास्ते पर दिखाई पड़ती है, तब वह उस स्त्री से ध्यान हटाकर अपने भीतर जाता है और देखता है कि काम-वासना किस तरह भीतर उठ रही है। अगर आपको गाली दी जाय तो आपके भीतर क्या-क्या होगा, आप उसे देखें। आप उसकी क्या-क्या व्यवस्था करते हैं? आपके भीतर क्रोध कैसे उठता है? आप गाली देने-वाले से क्या प्रतिकार लेना चाहते हैं? हत्या करना चाहते हैं, गाली देना चाहते हैं, गर्दन दबाना चाहते हैं? क्या करना चाहते हैं? इन सभी बातों पर ध्यान ले जाएँ और तब आप पाएँगे कि आपने स्वाध्याय किया है। इस स्वाध्याय से आप ज्ञानी बनकर बाहर लौटेंगे। आपको अपने सम्बन्ध में जानकारी बढ़ जाएगी। आपको यह भी पता चल जाएगा कि महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि किसी ने गाली दी, महत्त्वपूर्ण यह है कि मैंने कैसा अनुभव किया। और मजा यह कि आप उस गाली का उत्तर देने अब कभी न जाएँगे, क्योंकि आप बदल गए होंगे। इस ज्ञान से, इस स्वाध्याय से आप वही आदमी नहीं रह गए जिसे गाली दी गई थी।

(५) ग्यारहवाँ तप या पाँचवाँ अन्तर् तप है ध्यान। जो दस तपों से गुजरते हैं, उन्हें ध्यान को समझना कठिन नहीं होता। ध्यान को तो करके ही समझा जा सकता है। वह प्रेम-जैसा है या तैरने-जैसा। उसे जो करता है वही जानता है। प्रेम एक स्वाद है, एक अनुभव, एक अस्तित्वगत प्रतीति। तैरना भी एक सत्तागत प्रतीति है। दूसरे व्यक्ति को तैरते हुए देखकर भी आप नहीं जान सकते कि वह अनुभव कैसा होता है। दूसरे को प्रेम में डूबा हुआ देखकर भी आप नहीं जान सकते कि प्रेम उसे किन सीमाओं के पार ले जाता है। ध्यान में खड़े महावीर को देखकर आप नहीं जान सकते कि ध्यान क्या है। ध्यान के सम्बन्ध में स्वयं महावीर कुछ भी कहें तो भी ठीक से समझा नहीं पाते कि ध्यान क्या है। ठीक ध्यान की बात तो बहुत दूर है, गलत ध्यान का भी हमें कोई स्वाद नहीं है जिसके आधार पर समझाया जा सके कि ठीक क्या है।

महावीर इस पृथ्वी पर अकेले आदमी हैं जिन्होंने गलत ध्यान की भी चर्चा की। ठीक ध्यान की चर्चा तो बहुत लोगों ने की है। यह बड़ी विशिष्ट बात है कि महावीर के अनुसार तीव्र क्रोध में आ जाना भी एक तरह के गलत ध्यान में आ जाना है। लेकिन हम तीव्र क्रोध में भी नहीं आते, बल्कि कुनकुने जीते हैं, कभी उबलती हालत में नहीं आते। अगर आप इतने गहरे क्रोध में आ जाएँ कि जीवन की सारी ऊर्जा क्रोध के बिन्दु पर दौड़ने लगे, जीवन और शक्ति की सारी किरणें क्रोध पर ही ठहर जाएँ, तो आपको 'शीर्षासन करते हुए ध्यान' का अनुभव हो जाएगा। जितना ध्यान मजनू का लैला पर लगा है, उतना ही मजनू का मजनू पर लग जाए तो ठीक ध्यान हो जाए। चेतना अपनी ओर लग जाए तो ध्यान पैर पर खड़ा हो जाए। सिर

के बल खड़े हुए ध्यान में कोई गति नहीं हो सकती। सिर के बल कोई चलेगा कैसे? यात्रा करनी हो तो पैर के बल होगी। चेतना जब पैर के बल खड़ी होती है तब अपनी ओर उन्मुख होती है, तब गति करती है। ध्यान 'डायनेमिक फोर्स' है, गत्यात्मक शक्ति है। उसे सिर के बल खड़े करने का मतलब है उसकी हत्या कर देना। इसलिए जो लोग गलत ध्यान करते हैं, वे आत्मघात में लगते हैं, रुक जाते हैं। मजनू ठहरा हुआ है लैला पर, बुरी तरह ठहरा हुआ है उस पर, मानो तालाब बन गया हो। वह अब ऐसी सरिता नहीं रहा जो सागर तक पहुँच पाए। इसलिए उसे लैला कभी नहीं मिल सकती।

गलत ध्यान के सम्बन्ध में यह न भूलें कि जिस पर आप ध्यान लगाते हैं, उसकी उपलब्धि कभी नहीं होती। 'पर' पर केन्द्रित चेतना कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पाती, क्योंकि दूसरे को पाने का कोई उपाय ही नहीं है। इस अस्तित्व में सिर्फ एक ही चीज पाई जा सकती है, और वह है मोक्ष। वह मैं स्वयं हूँ। उसको ही मैं पा सकता हूँ। शेष सारी चीजों को मैं पाने की कितनी ही कोशिश करूँ, वह सारी कोशिश असफल होगी। जो मेरा स्वभाव है वही केवल मेरा हो सकता है। इसलिए गलत ध्यान नर्क में ले जाता है।

गलत ध्यान का अभाव ध्यान को शुरुआत है। गलत ध्यान का अर्थ है—अपने से बाहर किसी भी चीज पर एकाग्र हो जाना। दूसरे की ओर बहती हुई चेतना गलत ध्यान है। **इसलिए महावीर ने परमात्म की तरफ बहती हुई चेतना को भी गलत ध्यान कहा है।** परमात्मा को आप दूसरे की तरह ही सोच सकते हैं और अगर स्वयं की तरह सोचेंगे तो बड़े साहस की जरूरत होगी। अगर आप यह सोचेंगे कि मैं परमात्मा हूँ तो बड़ा साहस चाहिए। न तो आप ही ऐसा सोच पाएँगे और न आपके आसपास के लोग यह सोचने देंगे कि आप परमात्मा हैं। जब कोई सोचेगा कि मैं परमात्मा हूँ तो उसे परमात्मा की तरह जीना पड़ेगा, क्योंकि सोचना खड़ा नहीं हो सकता जब तक आप जियें नहीं। सोचने में खून नहीं आएगा जब तक आप जियेंगे नहीं। अगर परमात्मा की तरह जीना हो, तब तो ध्यान की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती। इसलिए महावीर कहते हैं कि परमात्मा को आप सदा दूसरे की तरह सोचेंगे। यही कारण है कि परमात्मा को मान कर शुरू होनेवाले धर्मों में ध्यान विकसित नहीं होता, प्रार्थना विकसित होती है।

प्रार्थना और ध्यान के मार्ग बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं। प्रार्थना का अर्थ है दूसरे के प्रति निवेदन। ध्यान में कोई निवेदन नहीं है। प्रार्थना का अर्थ है दूसरे की सहायता की माँग। ध्यान में सहायता की माँग नहीं है, क्योंकि महावीर कहते हैं दूसरे से जो मिलेगा वह मेरा नहीं हो सकता। पहले तो वह मिलेगा ही नहीं, लेकि मैं मान लूँ कि वह मिल गया। तब तो स्पष्ट है कि दूसरे से मिला हुआ 'माना हुआ'

मिला हुआ है। वह आज नहीं कल छूटेगा, दुख लाएगा, पीड़ा होगी। इसलिए महावीर कहते हैं कि अगर पीड़ा के बिलकुल पार हो जाना है तो दूसरे से ही छूट जाना पड़ेगा। दूसरे के साथ जो भी सम्बन्ध है वह टूट सकता है। परमात्मा के साथ भी सम्बन्ध टूट सकता है। महावीर कहते हैं कि जो बन सकता है, वह बिगड़ सकता है, इसलिए बनाने की कोशिश ही मत करो।

महावीर कहते हैं कि ईश्वर हो या न हो, इससे धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि दूसरे को जब भी मैं ध्यान में लाता हूँ तो गलत ध्यान हो जाता है। निश्चित ही ईश्वरवादियों को महावीर गहन नास्तिक मालूम पड़े, नास्तिकों से भी ज्यादा। इसलिए तथाकथित आस्तिकों ने चार्वाक से भी ज्यादा निन्दा महावीर की है।

महावीर मूर्च्छा-विरोधी थे। इसलिए उन्होंने ऐसी किसी भी पद्धति की सलाह नहीं दी जिससे मूर्च्छा आने की जरा भी सम्भावना हो। यह महावीर की और भारत की दूसरी पद्धतियों का भेद है। भारत में ध्यान की दो ही पद्धतियाँ रही हैं। कहना चाहिए कि सारे जगत् में ध्यान की दो ही पद्धतियाँ रही हैं। एक पद्धति को हम ब्राह्मण-पद्धति कह सकते हैं और दूसरी को श्रवण-पद्धति। महावीर की पद्धति श्रवण-पद्धति है। जहाँ ब्राह्मण-पद्धति विश्राम की पद्धति है, वहीं श्रवण-पद्धति—महावीर की पद्धति—श्रम की पद्धति है। चूँकि विश्राम और नींद का गहरा अन्तः सम्बन्ध है, इसलिए महावीर ने विश्रामवाली पद्धति का उपयोग नहीं किया। वे कहते हैं कि श्रमपूर्वक ध्यान में जाना है, विश्रामपूर्वक नहीं। विश्रामवाली ब्राह्मण-पद्धति के प्रस्तोता कहते हैं—हाथ-पाँव ढीले छोड़ दो, सुस्त हो जाओ, शिथिल हो जाओ, ऐसे हो जाओ जैसे मुर्दा हो गए। श्रवण-पद्धति कहती है कि जितना तनाव पैदा कर सकते हो उतना ही अच्छा है। अपने को इतना खींचो, इतना खींचो जैसे कि कोई वीणा के तार को खींचता चला जाए और टंकार पर छोड़ दे—अपने को तीव्रतम स्वर तक खींच दो। निश्चित ही एक सीमा आती है जब अत्यधिक तनाव के कारण सितार का तार टूट जाता है। लेकिन चेतना के टूटने का प्रश्न नहीं उठता, वह कभी टूटती ही नहीं। इसलिए—महावीर कहते हैं—खींचते चले जाओ, चेतना को अपनी अति पर पहुँचा दो। तब अनजाने तुम्हारी चेतना विश्राम को उपलब्ध हो जाएगी। यह विश्राम बहुत अनूठा होगा। ऐसा विश्राम कभी नींद में नहीं ले जा सकता। वह सीधा विश्राम में ले जाता है।

ठीक ध्यान के लिए कुछ प्रारम्भिक बातें स्मरणीय हैं। उनके बिना इस ध्यान में नहीं उतरा जा सकता। एक तो उपरिलिखित दस तप अनिवार्य हैं; उनके बिना इस प्रयोग को नहीं किया जा सकता। उन दस सूत्रों के प्रयोग से आपके व्यक्तित्व में वह ऊर्जा और शक्ति आ जाती है जिनसे आप चरम तक अपने को तनाव में ले जाते हैं। इतनी सामर्थ्य और क्षमता आ जाती है कि आप विक्षिप्त नहीं हो सकते। अन्यथा

अगर कोई महावीर के ध्यान को सीधा शुरू करे तो वह विक्षिप्त हो सकता है। इसलिए भूलकर भी इस प्रयोग को सीधे न करें। पहले के दस हिस्से अनिवार्य हैं।

पूरे मुल्क में घूमकर मैंने देखा है कि जैन साधुओं में एक आदमी भी नहीं है जो महावीर के ध्यान को समझ सका हो, करने की बात तो दूर है। वे नित्य प्रवचन करते हैं, लेकिन मैं यह देखकर चकित हुआ कि उनके गणी, प्रमुख और आचार्य एकान्त में मुझसे पूछते हैं कि ध्यान कैसे करूँ ? तब उन बेचारे साधुओं को क्या करवाया जा रहा होगा जबकि उनका गुरु ही पूछता है कि ध्यान कैसे करें ? उनमें इतना साहस नहीं कि वे चार लोगों के सामने यह प्रश्न करें।

पश्चिम के एक बहुत विचारशील वैज्ञानिक 'रान हुब्बार्ड' ने ध्यान की प्राथमिक प्रक्रिया में प्रवेश के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया है। ये तीनों शब्द महावीर के हैं, यद्यपि हुब्बार्ड को महावीर के शब्दों का कोई पता नहीं है। उनके तीन शब्द हैं—रिमेम्बरिंग, रिटर्निंग, और रि-लिविंग। महावीर ने इनके लिए स्मृति, प्रतिक्रमण और जाति-स्मरण (पुनः जीना, उसको जो जिया जा चुका है) का प्रयोग किया है। महावीर के ध्यान में अगर उतरना हो तो जब रात सोने लगें और नींद करीब आने लगे तो उस दिन के पूरे जीवन को 'रि-लिव' कर लें। जीवन की घटनाओं का स्मरण ही न करें, बल्कि उन्हें इस तरह देखें मानों आपने उन्हें फिर से भोग लिया है। मृत्यु के क्षण में—आकस्मिक मृत्यु के क्षण में—जब बचने का कोई उपाय नहीं रह जाता, तब ऐसी घटना घटती है। पहले स्मृति से शुरू करें। सुबह से लेकर शाम तक की घटनाओं का स्मरण करें। एक महीने के गहरे प्रयोग से आपको पता चलेगा कि स्मृति धीरे-धीरे प्रतिक्रमण बन गई। अब पूरी स्थिति याद आने लगी। प्रतिक्रमण पर तीन महीने और प्रयोग करें। तब आप पाएँगे कि अब प्रतिक्रमण पुनर्जीवन बन गया—अब आप 'रि-लिव' करने लगे। कोई नौ महीने के प्रयोग के बाद आप पाएँगे कि सुबह से लेकर शाम तक की घटनाओं को आप फिर से जी सकते हैं, दुबारा। मजे की बात यह है कि जिस जीवन को आप फिर से जियेंगे वह दिन के जीवन की तुलना में ज्यादा होगा, क्योंकि दिन में और भी पच्चीस उलझाव थे। हुब्बार्ड कहता है कि यह ट्रैक पर वापस लौटना है और फिर से यात्रा करनी है उलटी दिशा में।

अगर महावीर के ध्यान में, सामायिक में प्रवेश करना हो तो कोई नौ महीने का समय—तीन-तीन महीने एक-एक प्रयोग पर—बिताना जरूरी है। आप स्मरण करना शुरू करें, पूरी तरह स्मरण करें कि सुबह से शाम तक क्या हुआ, फिर प्रतिक्रमण करें। पूरी स्थिति को याद करें कि किस-किस घटना में कौन-कौन सी पूरी स्थिति थी। आप बहुत हैरान होंगे और आपकी संवेदनशीलता बहुत बढ़ जाएगी।

दूसरे दिन आपके जीने का रस भी बहुत बढ़ जाएगा। दूसरे दिन धीरे-धीरे आप बहुत-सी चीजों के प्रति जागरूक हो जाएँगे, जिनके प्रति आप कभी भी जागरूक न थे। अगर आप प्रतिक्रमण की पूरी यात्रा करते हैं तो आपके जीवन में सौन्दर्य और रस के अनुभव का एक नया आयाम खुलना शुरू हो जाएगा। पूरी घटना आप जी सकने में समर्थ होंगे। और जब भी पूरी घटना को जी लिया जाता है तब आप उस घटना को दुबारा जीने की आकांक्षा से मुक्त होने लगते हैं। अगर कोई व्यक्ति एक बार भी किसी घटना को पूर्णतया भोगकर निकल जाता है तो उसकी इच्छा उसे दुहराने की नहीं होती। इस प्रकार प्रतिक्रमण भविष्य और अतीत, दोनों से छुटकारे की विधि है। इस प्रतिक्रमण को इतना गहरा करते जाएँ कि एक घड़ी ऐसी आ जाए जब आप याद न करें, केवल घटनाओं को 'रि-लिव' करें, उन्हें पुनरुज्जीवित करें, उन्हें फिर से जियें। आप यह पाकर हैरान होंगे कि वे घटनाएँ फिर से जियी जा सकती हैं।

जिस दिन आप दिन की घटनाओं को फिर से ज़ीने में समर्थ हो जाएँगे उस दिन रात में सपनों का आना बन्द हो जाएगा, क्योंकि सपने में आप उन्हीं घटनाओं को फिर से जीने की कोशिश करते हैं, और कुछ नहीं करते। अगर आपने रात सोने से पहले होशपूर्वक पूरे दिन को पूरा जी लिया है तो आपने उससे निपटारा कर लिया है, अब वह अध्याय समाप्त हो गया है। अब कुछ न तो याद करने की जरूरत रही और न पुनः जीने की जरूरत। ध्यान का अभाव ही विक्षिप्तता है। ध्यान को उपलब्ध व्यक्ति के सपने शून्य हो जाते हैं। जब रात स्वप्न समाप्त हो जाते हैं, तब आप सुबह ऐसे उठते हैं जैसे सूरज जगा है। उस जागी हुई चेतना में विचार आपके गुलाम हो जाते हैं, मालिक नहीं होते। महावीर कहते हैं कि जब तक विचार मालिक है तब तक ध्यान कैसे हो पाएगा? विचार की मालकियत आपकी होनी चाहिए, तभी ध्यान हो सकता है।

दूसरा प्रयोग सुबह जागने के समय करें। जैसे ही जागें वैसे ही पहले विचार की प्रतीक्षा करें। जब पहला विचार आए, उसे तत्काल पकड़ें, देखें कि वह कब आता है। धीरे-धीरे आप हैरान होंगे कि आप उसे पकड़ने की जितनी ही कोशिश करते हैं वह उतनी ही देर से आता है। कभी घंटों लग जाएँगे और पहला विचार नहीं आएगा। विचार-रहित यह एक घंटा आपकी चेतना को शीर्षासन से हटाकर सीधा खड़ा करने में सहयोगी बनेगा। आप पैर के बल खड़े हो सकेंगे। घंटा भर तो बहुत दूर की बात है, अगर एक मिनट के लिए भी कोई विचार न आए तो आपको अनुभव होना शुरू हो जाएगा कि विचार नर्क है और निर्विचार होना स्वर्ग में होना है। जिस दिन कोई व्यक्ति निर्विचार हो जाता है, उस दिन उसका ध्यान चेतना पर जाता है और एक बार चेतना पर ध्यान चला जाए तो फिर चेतना का विस्मरण नहीं

होता। चाहे आप कुछ भी करते रहें--दुकान में हों, बाजार में काम कर रहे हों, कहीं भी हों--चेतना की स्पष्ट प्रतीति बनी रहती है। तब शरीर को कोई दुख नहीं होता, क्योंकि आप शरीर नहीं रहे। जब महावीर के कान में कीलें ठोंकी जा रही थीं तब वे शरीर को नहीं देख रहे थे, वे अपनी चेतना को देख रहे थे। जब ध्यान चेतना पर होता है तब कीलें ठोंकी भी जाती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी और ही शरीर में ठोंकी जा रही हैं।

महावीर ने पृथकत्व या साक्षी भाव का प्रयोग किया है। इसके लिए उनका शब्द है 'भेद विज्ञान' अर्थात् चीजों को अपने-अपने हिस्सों में तोड़कर देखने का विज्ञान। भोजन वहाँ है, शरीर यहाँ है, मैं दोनों के पार हूँ—इतना भेद स्पष्ट हो जाए तो साक्षी भाव हो जाता है।

तो तीन बातें स्मरण रखें : रात नींद के समय—स्मरण, प्रतिक्रमण और पुन-र्जीवन; सुबह पहले विचार की प्रतीक्षा, ताकि अन्तराल दिखाई पड़े और अन्तराल में सारा गेस्टाल्ट बदल जाए (धूलकण नहीं दिखाई पड़ें, प्रकाश की धारा स्मरण में आ जाए); और पूरे समय, चौबीसों घंटे, चेतना पर ध्यान, यह होश कि न तो मैं भोजन हूँ और न भोजन करनेवाला हूँ। मैं दोनों से अलग हूँ, मैं त्रिभुज के तीसरे कोण पर हूँ। इस तीसरे कोण पर चौबीसों घंटे रहने की कोशिश साक्षी भाव है।

(६) महावीर के साधना-सूत्रों में बारहवाँ और अन्तिम तप है **कायोत्सर्ग**। कायोत्सर्ग का मतलब काया को सताना नहीं है। हाथ-पाँव काट-काटकर चढ़ाते जाना कायोत्सर्ग नहीं है। कायोत्सर्ग तब होता है जब ध्यान परिपूर्ण शिखर पर पहुँच जाता है और गेस्टाल्ट बदल जाता है, काया का उत्सर्ग हो जाता है। उसका कहीं कोई पता नहीं रह जाता। निर्वाण या मोक्ष क्या है? संसार का खो जाना है। ठीक इसी तरह आत्मानुभव काया का खो जाना है। आप कहेंगे, महावीर तो चालीस वर्ष जिए; ध्यान के अनुभव के बाद भी उनकी काया सुरक्षित थी। असल में वह आपको दिखाई पड़ती है, लेकिन महावीर के लिए अब कोई काया न थी, कोई शरीर न था। उनका कायोत्सर्ग हो गया था, यद्यपि यह घटना हमें दिखाई नहीं पड़ती।

परम्परा कायोत्सर्ग का कुछ और ही अर्थ करती रही है। उसके अनुसार कायो-त्सर्ग का अर्थ है—काया पर आने वाले दुखों को सहज भाव से सहना। कायोत्सर्ग का यह असली अर्थ नहीं है। परम्परा जिसे कायोत्सर्ग कहती है वह तो बाह्य तप है। कायोत्सर्ग का अर्थ है काया को चढ़ा देने की तैयारी, काया को छोड़ देने या उससे दूर हो जाने की तैयारी, यह जान लेने की तैयारी कि मैं काया से भिन्न हूँ, ऐसा हो जाने की तैयारी कि काया मरती भी हो तो मैं देखता रहूँगा। जहाँ हम खड़े हैं, वहाँ मालूम पड़ता है कि शरीर मेरा है और मैं शरीर हूँ। हमें कभी कोई एहसास नहीं होता कि शरीर से अलग भी हमारा कोई होना होता है। इसलिए जब शरीर पर कष्ट आते

हैं तब मुझे पीड़ा होती है; शरीर को भूख लगती है तब मुझे भी भूख लगती है; शरीर को थकान होती है तो मैं थक जाता हूँ। शरीर और मेरे बीच में तादात्म्य है; हम जुड़े हैं, संयुक्त हैं। हम यह भूल ही गए हैं कि हम शरीर नहीं, चेतना हैं, आत्मा हैं। कायोत्सर्ग का अर्थ भी आज केवल इतना ही रह गया है कि अपनी काया पर कष्ट आए तो उसे सह लेना। यह काया अपनी है, यह बात नहीं छूटती !

महावीर का यह मतलब नहीं है कि काया को उत्सर्ग कर देना, क्योंकि जो अपनी नहीं है उसे तुम उत्सर्ग करोगे ही कैसे ? अपने को उत्सर्ग किया जा सकता है, लेकिन जो मेरा नहीं है, उसे मैं उत्सर्ग करूँगा ही कैसे ? महावीर कहते हैं—**काया तुम्हारी नहीं है, यह जानना कायोत्सर्ग है।** मैं काया चढ़ा दूँगा, ऐसा भाव कायोत्सर्ग नहीं है, क्योंकि तब तो इस उत्सर्ग में भी ममत्व की धारणा मौजूद है। आत्महत्या करने वाला भी काया को मिटा डालता है, लेकिन उसका त्याग कायोत्सर्ग नहीं है। शहीदों का सूली पर चढ़ना भी कायोत्सर्ग नहीं है, क्योंकि वह मानता है कि शरीर मेरा है। एक तपस्वी आपके शरीर को नहीं सताता, अपने शरीर को ही सता लेता है। लेकिन वह भी मानता है कि शरीर मेरा है। महावीर कहते हैं कि यह जानना कि शरीर मेरा नहीं है, कायोत्सर्ग है। लेकिन यह बोध बहुत कठिन है। इसीलिए आस्तिकों ने एक उपाय निकाला है। वे कहते हैं कि शरीर मेरा नहीं, परमात्मा का है। महावीर के लिए तो वह भी उपाय नहीं है, क्योंकि वे परमात्मा को नहीं मानते। तथाकथित आस्तिक बड़े चतुर होते हैं। वे कहते हैं—शरीर मेरा नहीं है, परमात्मा का है, और परमात्मा मेरा है। इस प्रकार घूम-फिरकर सब अपना ही हो जाता है। महावीर के लिए परमात्मा भी नहीं हैं।

वस्तुतः महावीर की धारणा बहुत अद्‌भुत है। वे कहते हैं कि तुम अपने हो, शरीर शरीर का है—वह परमात्मा का नहीं हो सकता। शरीर शरीर का ही है। प्रत्येक वस्तु अपनी है, अपने स्वभाव की है, किसी और की नहीं हो सकती। मालकियत झूठ है इस जगत् में। परमात्मा की भी मालकियत हो तो झूठ है। इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लें।

आप प्रतिपल साँस ले रहे हैं। एक क्षण पहले जो साँस आपकी थी, वह दूसरे ही क्षण किसी और की हो जाती है। क्षण भर पहले वह आपके पड़ोसी की थी। इस शरीर में—जिसे आप अपना शरीर कहते हैं—मिट्टी के अनगिनत कण हैं। कभी वे किसी और के शरीर में रहे होंगे। कभी किसी वृक्ष में रहे होंगे, कभी किसी फल में। न मालूम उन्होंने कितनी यात्राएँ की हैं। अगर हम इन कणों से पूछें कि तुम किसके हो तो वे कहेंगे—हम अपने हैं, हम यात्रा करते हैं, तुम स्टेशन हो जिनसे हम गुजरते हैं। स्टेशन नहीं कहता कि यात्री मेरा है। तब हम तुम्हारे कैसे हो सकते हैं ? शरीर जिन भूतों से बना है, उनमें प्रत्येक भूत उसी भूत का है। मेरे भीतर जो

आकाश है, वह आकाश का है । मेरे भीतर जो वायु है, वह वायु की है ; जो पृथ्वी है, वह पृथ्वी की है; जो अग्नि है, वह अग्नि की है; जो जल है, वह जल का है । यह जानना ही कायोत्सर्ग है ।

अगर मेरे भीतर जल न रहे, वायु और अग्नि भी न रहें, तो जो शेष रह जायगा वही मैं हूँ । वायु, अग्नि, आकाश, जल और पृथ्वी के नहीं रहने पर सिर्फ जानने की क्षमता रह जाएगी । सारा शरीर शून्य हो जाएगा, 'नोइंग' शेष रह जाएगी । महावीर कहते हैं कि मैं यही 'नोइंग' हूँ, जानना-मात्र हूँ । यही स्थिति 'केवल ज्ञान' कहलाती है । मैं सिर्फ ज्ञाता ही रह जाता हूँ, दृष्टि और ज्ञान रह जाता हूँ । कायोत्सर्ग का अर्थ है यह बोध कि जो जिसका है वह उसीका है । महावीर कहते हैं कि आनन्द तो वहाँ उपलब्ध होता है जहाँ कोई अपने शरीर का भी मालिक नहीं है । आनन्दित वह है जो मालकियत करता ही नहीं । साधन बढ़ जाते हैं तो दुख भी बढ़ जाता है । हमारा फैलाव बढ़ गया, मालकियत बढ़ गई और दुख बढ़ गया । अब हम ज्यादा चीजों की चिन्ता करने लगे हैं, इसलिए ज्यादा दुखी हैं । महावीर के जमाने में लोग इतने चिन्तित न थे क्योंकि उन्हें इतने साधन उपलब्ध न थे । अब तो चाँद तक के लिए हमारी चिन्ता है ।

कायोत्सर्ग का अर्थ है शिष्टता के जगत् से सम्बन्ध तोड़ लेना । कैसे तोड़ेंगे ? जब तक आप ध्यान में नहीं उतरेंगे, तब तक कायोत्सर्ग की बात ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकेगी । इस सम्बन्ध में तीन प्रयोग किए जाने योग्य हैं : (१) रात सोते समय यह दुहराते हुए सोयें कि मैं शरीर नहीं हूँ; (२) जब सुबह नींद खुले तब आप पहले स्मरण यह करें कि मैं शरीर नहीं हूँ, आँख बाद में खोलें और (३) 'मैं आत्मा हूँ'—इस विधायक अनुभव को भी गहरा करने का अवसर और मौका निकालें । सम्भोग के क्षण के बाद, विषाद की घड़ी में, इस बात की प्रतीति करने का अद्भुत मौका होता है कि मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं । निरन्तर स्मरण करते रहें कि मेरे हाथों में जो मिट्टी है, वह पृथ्वी की है; मेरे शरीर में जो पानी है, वह पानी का है । जो जिसका है, उसी का है ।



